# श्रावक-जीवन

भाग – ४

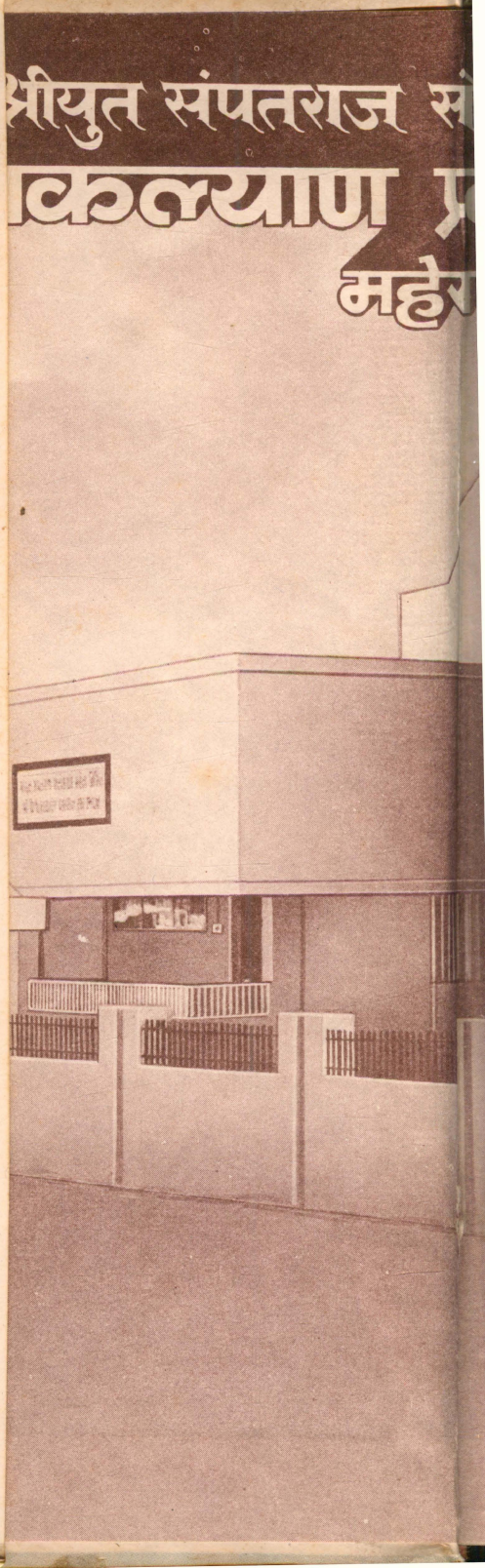
आचार्यश्री विजयभद्रगुप्तसूरीश्वरजी





**प्रवचनकार व साहित्य सर्जक**
**आचार्य श्री विजय भद्रगुप्तसूरीश्वरजी.**

श्रावण शुक्ला १२ वि. सं. १९८९ के दिन पुदगाम-मेहसाणा (गुजरात) में मणीभाई एवं हीराबहन के कुलदीपक के रुप में जन्मे हुए मुलचन्दभाई, जूही की कली की भांति खिलती-खुलती ज़वानी में १८ बरस की उम्र में वि. सं. २००७, महा वद ५ के दिन राणपुर (सौराष्ट्र) में अपने परम श्रद्धेय सुप्रसिद्ध जैनाचार्य भगवंत श्रीमद् विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराजा के करकमलों द्वारा दीक्षित होकर पू. भानुविजयजी (वर्तमान में आ. श्रीमद् विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी) के शिष्य बनते है। मुनिश्री भद्रगुप्तविजयजी के रूप में दीक्षा-जीवन के प्रारंभ से ही अध्ययन-अध्यापन की सुदीर्घ यात्रा प्रारंभ हो चुकी थी। ४५ आगमों के सटीक अध्ययनोपरांत दार्शनिक, भारतीय एवं पाश्चात्य तत्वज्ञान, काव्य-साहित्य वगैरह के 'मीलस्टोन' पास करती हुई वह यात्रा सर्जनात्मक क्षितिज की तरफ मुड़ गई। 'महापंथ नो यात्री' से २० साल की उम्र में शुरू हुई लेखनयात्रा आज भी अथक एवं अनवरत चल रही है। तरह तरह का मौलिक साहित्य, तत्वज्ञान विवेचना, दीर्घकथाएं, लघु कथाएं काव्य गीत पत्रों के जरिये स्वच्छ व स्वस्थ मार्गदर्शन, यों साहित्य सर्जन का सफर दिन व दिन भरापूरा बन रहा है। प्रेमभरा हँसमुख स्वभाव, प्रसन्न व मृदु आंतर-बाह्य व्यक्तित्व एवं बहुजन हिताय-बहुजन सुखाय वैसी प्रवृत्तियां उनके जीवन का महत्वपूर्ण अंग है। संघ-शासन विशेष करके युवा पीढी, तरुण पीढी एव शिशु-संसार के जीवन-निर्माण की प्रक्रिया में उन्हें रुचि है... संतुष्टि है। प्रवचन, वार्तालाप, संस्कार-शिबिर, जाप-ध्यान अनुष्ठान एवं परमात्म भक्ति के विशिष्ट आयोजनों के माध्यम से उनका सहिष्णु व्यक्तित्व भी उतना ही उन्नत एवं उज्वल बना है। मुनिश्री जानने योग्य व्यक्तित्त एवं महसूसने योग्य अस्तित्व से सराबोर है। कोल्हापूर में ता. ४-५-८७ के दिन उनके गुरुदेव ने उन्हें आचार्यपद प्रदान किया तब से वे **आचार्यश्री विजय भद्रगुप्तसूरीश्वरजी महाराज** के नाम से जाने जाते है।



# श्रावक जीवन

## भाग : चौथा

आचार्यश्री हरिभद्रसूरि–विरचित "धर्मबिंदु" ग्रंथ के तीसरे अध्याय पर दिये गये मननीय, रसपूर्ण और प्रेरणादायी प्रवचन.

(प्रवचन : ७२ से ९५)




: प्रवचनकार :

आचार्यश्री विजयभद्रगुप्तसूरीश्वरजी

**प्रकाशक : श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट,** मेहसाना–३८४००२.
**मूल्य :** ५० रुपये / प्रथम आवृत्ति / प्रत : ३००० / वि. सं. २०५०.
**लेसर टाईपसेटिंग :** मेक ग्राफिक, अहमदाबाद–३८०००६.
**मुद्रक :** महेश मुद्रणालय, अहमदाबाद.

# प्रासंगिक

'धर्मबिंदु' ग्रंथ के पहले अध्याय पर आधारित ९६ प्रवचनों का प्रकाशन 'धम्मं सरणं पवज्जामि' के नाम से चार भागों में किया था। इन चार भागों का पुनर्मुद्रण हो गया है।

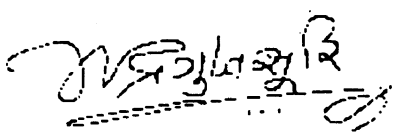
इसी ग्रंथ के तीसरे अध्याय पर भी ९५ प्रवचन प्रकाशित हो रहे हैं। **'श्रावक जीवन'** के पहले भाग में १ से २३, दूसरे भाग में २४ से ४७ और तीसरे भाग में ४८ से ७१ प्रवचन छपे हैं। चौथे भाग में ७२ से ९५ प्रवचन छपे हैं।

यदि मनुष्य को अच्छा जीवन जीना है, सात्त्विक, धार्मिक और आदर्शमय जीवन जीना है, तो ये सारे प्रवचन उनके लिए मार्गदर्शक बनं सकेंगे। अनेक उदाहरण और अनेक तर्क के द्वारा इन प्रवचनों में उन्नत और उदात्त जीवन जीने के मार्ग बताये गए हैं। वर्तमानकालीन मानव समाज के सामने ये सारे प्रवचन दिये गए हैं।

आप इन प्रवचनों को शान्ति से पढें। पढ़कर चिंतन–मनन करें। आप क्या–क्या कर सकते हैं इसकी नोट्स करें और प्रयोगात्मक ढंग से कुछ करना शुरू करें। दैनिक जीवनचर्या में शक्य परिवर्तन करें। 'यह तो नहीं हो सकता, यह तो अशक्य है,' वगैरह निर्बल विचार नहीं करें।

मनुष्य जीवन दुर्लभ है। इस जीवन का हो सके इतना सदुपयोग कर, आत्मकल्याण के मार्ग पर अग्रसर होते रहें – यही मंगल कामना।

अहमदाबाद
फाल्गुन शुक्ला : १४
वि.सं. २०५०



## धर्मबिन्दु–सूत्राणि

* तथा–प्रशस्तभावक्रिया ॥ ८७ ॥
* भवस्थितिप्रेक्षणम् ॥ ८८ ॥
* तदनु तन्नैर्गुण्यभावना ॥ ८९ ॥
* अपवर्गालोचनम् ॥ ९० ॥
* तथा – श्रामण्यानुरागः ॥ ९१ ॥
* यथोचित्तं गुणवृद्धिः ॥ ९२ ॥
* सत्त्वादिषु मैत्र्यादियोगः ॥ ९३ ॥

## श्लोकाः

* विशेषतो गृहस्थस्य धर्म उक्तो जिनोत्तमैः ।
  एवं सद्भावनासारः, परंचारित्रकारणम् ॥ १ ॥
* पदंपदेन मेधावी यथाऽऽरोहति पर्वतम् ।
  सम्यक् तथैन नियमाद्धीरश्चारित्रपर्वतम् ॥ २ ॥
* स्तोकान् गुणान् समाराध्य बहूनामपि जायते ।
  यस्मादाराधनायोग्य स्तस्मादादावयं मतः ॥ ३ ॥

# प्रवचन : ७२

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में श्रावक जीवन की दिनचर्या का प्रतिपादन किया है।

दिनचर्या में 'योगाभ्यास' एवं 'नमस्कारादि चिंतन' बताने के बाद उन्होंने 'प्रशस्त भावक्रिया' करने का विधान किया है। इसका अर्थ है अन्तःकरण को प्रशस्त करना। अन्तःकरण को प्रशस्त–शुभ–निर्मल करने की क्रिया करनी है। यह क्रिया बाह्य नहीं होती, आन्तरिक होती है। मानसिक क्रिया होती है। चिंतनात्मक क्रिया होती है। यह चिंतनात्मक क्रिया अवश्य करनी चाहिए। यदि यह चिंतन–मनन नहीं करेंगे तो महान् अनर्थ हो सकता है जीवन में। जो लोग 'भावक्रिया' नहीं करते हैं वे मानसिक अशान्ति, क्लेश और संताप से दुःखी होते हैं। परेशान होते हैं। मानसिक रोगों के शिकार बन जाते हैं। इसलिए ग्रंथकार आचार्यश्री 'भावक्रिया' करने का उपदेश देते हैं।

## चिंतन की दिशा :

टीकाकार आचार्यश्री ने हमें चिन्तन की दिशा बता दी है!

"क्रोधादिदोषविपाकपर्यालोचनम्।"

– क्रोधादि दोषों के विपाक का पर्यालोचन करने का है। यानी क्रोध, मान, माया और लोभ – ये चार प्रमुख दोष हैं, उनके कटु विपाकों का, कटु परिणामों का समग्रतया चिंतन करने से अन्तःकरण निर्मल होता रहता है। क्रोधादि दोष तीव्र नहीं बनते हैं। इससे चित्त में क्लेश–संताप पैदा नहीं होते हैं। चित्त में शान्ति, समता और प्रसन्नता बनी रहती है।

– आपको क्रोध के भयानक परिणाम का विचार करना है।

– आपको मान के करुण परिणाम का चिन्तन करना है।

– आपको माया के दुःखद परिणाम का मनन करना है।

– आपको लोभ के अति भयंकर परिणाम का पर्यालोचन करना है।

यह है प्रशस्त भावक्रिया। अन्तःकरण इस प्रकार के चिन्तन–मनन से ही निराकुल रह सकता है। प्रसन्नता का मिष्ट अनुभव कर सकता है।

**सभा में से :** क्रोधादि दोषों के विपाक का चिंतन किस प्रकार करना चाहिए ? आप समझाने की कृपा करें ।

**महाराजश्री :** आज मैं यही चिंतन–प्रक्रिया समझाना चाहता हूँ । परंतु ध्यान रखना कि सिर्फ एक बार सुनने से आपका काम होनेवाला नहीं है । आपको रोजाना इस प्रकार चिंतन करना होगा ।

**सभा में से :** हम करेंगे चिंतन !

**महाराजश्री :** बहुत अच्छा ! इस चिंतन से अवश्य आपका मन शान्ति का अनुभव करेगा । चित्त प्रसन्नता से भरता रहेगा । सर्वप्रथम क्रोध के विपाकों का चिंतन करेंगे ।

## क्रोध के भयानक विपाक :

– क्रोधात् प्रीतिविनाशः । प्रिय व्यक्तियों के साथ की प्रीति, क्रोध के भयानक दावानल में जलकर राख बन जाती है । अन्य मनुष्यों के प्रेम के बिना का तुम्हारा जीवन रसहीन बन जायेगा । परंतु आपको अपने जीवन में प्रीति का, प्रेम का मूल्यांकन होगा, प्रीति को आप महामूल्यवान् अमृत समझते होंगे – 'जीवन का आनन्द, जीवन की सफलता की आधारशिला प्रीति है' यह बात आप कबूल करते होंगे, तब यह नुकसान आपको बड़ा नुकसान लगेगा । क्रोध से मनुष्य दूसरों का प्रेम खो देता है – यह पहला विपाक है क्रोध का ! यह विपाक वर्तमान जीवन पर ही बुरा प्रभाव डालता है ।

– क्रोधः परितापकरः । क्रोध का दूसरा विपाक है परिताप ।

दाहज्वर की अति भयंकर पीड़ा का कभी अनुभव किया है आपने ? अथवा दाहज्वर से पीड़ित किसी व्यक्ति को देखा है कभी ? असह्य पीड़ा एवं भयंकर परिताप से तड़पते हुए मनुष्य को देखकर कोई अन्तःस्पर्शी विचार आया है कभी ? क्रोध की वेदना ऐसी ही अति भयंकर और असह्य होती है । क्रोधी व्यक्ति का जीवन अशान्ति की आग में झुलस जाता है । उसके मन की अगन न तो चन्दन के शीतल विलेपनों से शान्त हो सकती है, न ही चन्द्र की शीतल चांदनी से शान्त हो सकती है ।

इतना ही नहीं, परंतु क्रोधी स्वयं ही अगन गोले जैसा होता है । जिस–जिस के संपर्क में क्रोधी आयेगा, छूएगा, स्पर्श करेगा उसको जलायेगा । इसलिए क्रोधी मनुष्य का कोई मित्र नहीं होता है और वह स्वयं भी तो किसी का मित्र नहीं

बन पाता है । क्रोधी का कोई चाहक नहीं होता, वह स्वयं भी किसी को नहीं चाहता। उसे चाहे भी कौन ? क्रोधी मनुष्य अपने परिवार के लिए हमेशा संतापकारी बना रहता है । मित्रों के लिए परितापकारी बना रहता है । गाँव में, गलियों में... सभी जगह वह औरों को परेशान करता रहता है ।

– सर्वस्यौद्वेगकारकः क्रोधः । क्रोध का तीसरा विपाक है उद्वेग पैदा करना । क्रोधी मनुष्य के आसपास हमेशा उद्वेगभरा वातावरण छाया रहता है । सबके दिल और दिमाग भारी–भारी से रहते हैं । जब तक क्रोधी घर में रहेगा तब तक घरवालों के मन उद्विग्न बने रहेंगे । जब तक वह दुकान में, ऑफिस में रहेगा तब तक वहाँ के लोग अशान्त एवं उदास नजर आयेंगे । क्रोधी व्यक्ति न तो स्वयं सुखी रहेगा, न ही औरों को सुख दे पायेगा । वह देगा भी कैसे ? उसके खुद के पास ही जब सुख नहीं है, तो फिर औरों को देगा भी कैसे ?

– वैरानुषङ्गजनकः क्रोधः । क्रोध का चौथा विपाक है वैर पैदा होना । क्रोध से वैर पैदा होता है । एक व्यक्ति के प्रति बार–बार क्रोध या गुस्सा करने से वैर की गाँठ बँध जाती है । यह वैर की गाँठ तो 'केन्सर' की गाँठ से भी ज्यादा भयंकर है । केन्सर की गाँठ तो शायद एक बार जान लेती है, पर वैर की गाँठ तो जनम–जनम तक निश्चित भावप्राणों का नाश करती है । "समरादित्य महाकथा" के अग्निशर्मा को क्या आप नहीं जानते हो ? गुणसेन राजा के प्रति अग्निशर्मा के चित्त में क्रोध का जन्म हुआ और वैर की जो गाँठ बँध गयी उस गाँठ ने नौ–नौ जनम तक दुःख दिया न ? वैर बाँधकर मनुष्य क्या सुख पाता है ?

– क्रोधः सुगतिहन्ता । क्रोध का पाँचवा विपाक है सन्मार्ग का नाश । क्रोधी मोक्षमार्ग पर नहीं चल सकता है । क्योंकि मोक्षमार्ग समताधारी का मार्ग है । तीव्र क्रोध से अभिभूत व्यक्ति क्षमादि धर्मों की आराधना करने में समर्थ नहीं बन सकता । वह हिंसा वगैरह पापाचारों में प्रवृत्त होकर दुर्गति की गहरी खाई में गिर जाता है । आपने क्या उस सुभूम चक्रवर्ती की कहानी नहीं सुनी है ? उसको नरक में कौन ले गया ? यह क्रोध ! वैसे परशुराम की अधोगति क्यों हुई थी ? इसी क्रोध के कारण ।

बात–बात में क्रोध, गुस्सा... कषाय करनेवाली आत्मा क्या मोक्षप्राप्ति कर सकती है ? अरे, मोक्षप्राप्ति तो दूर रही, संसार के भौतिक सुख भी उसके लिए अप्राप्य बन जाते हैं ।

क्रोध के ये सारे कटु विपाक जानकर, क्यों फिर जीने के लिए क्रोध का सहारा

लेना ? जो क्रोध आत्मा की अधोगति करता है, आत्मा का सब तरह से पतन करता है, क्यों फिर उसका संग करना ? जो धधकते हुए अंगारों से भी ज्यादा भयंकर है, उस क्रोध को स्पर्श ही क्यों करना ?

क्रोध में यदि होश गँवाकर वैर की गाँठ बाँध ली, तो सर्वस्व लूट गया समझना । इतना जानने, समझने के बाद भी यदि तुम क्रोध का त्याग नहीं करते तो समझना कि जिंदगी पूर्णरूप से हार जाओगे । हो सकता है कि तुम्हारी अज्ञानमूलक मान्यता तुम्हें क्रोध करने को प्रेरित करें, क्रोध के कुछ अच्छे परिणाम भी बतायें, परंतु अन्ततोगत्वा उसके परिणाम दुःखदायी ही आनेवाले हैं ।

इस प्रकार क्रोध के विपाकों का चिन्तन करना चाहिए । कितना समय है आपके पास, उस हिसाब से कम-ज्यादा चिंतन करना है ।

अब मान-कषाय के विपाकों का चिन्तन बताता हूँ ।

## मान-कषाय के विपाक :

– मानाद् विनयोपघातः । मान-अभिमान कषाय का पहला विपाक है विनय का नाश । मानी-अभिमानी मनुष्य गुरुजनों का, बड़ों का विनय नहीं करता है और विनय के बिना जीवन में धर्म आता नहीं है । 'विणयमूलो धम्मो ।' धर्म का मूल ही विनय है । जिसके जीवन में विनय नहीं, उसके जीवन में धर्म नहीं । अभिमानी मनुष्य धार्मिक नहीं बन सकता है ।

– मान-अभिमान का दूसरा विपाक है ज्ञान को कलंकित करना । ज्ञानी पुरुष यदि अभिमानी होगा तो वह ज्ञान को कलंकित करता है । खुद भी कलंकित बनता है और जनसमूह की नजर में अपने व्यक्तित्व को, अपनी प्रतिभापूर्ण प्रज्ञा को गिरा देता है । ज्ञान के महत्त्व को भी हानि पहुँचती है । ज्ञान का जो परिणाम आना चाहिए, जो फल मिलना चाहिए-वह नहीं मिलता है । इससे ज्ञान का अवमूल्यन होता है ।

– मान-अभिमान का तीसरा विपाक है पवित्र धर्मक्रियाओं की महत्ता को गिराना । धर्मक्रियाएँ करनेवाले यदि अभिमानी होते हैं तो उनके मन में क्रियाओं के प्रति प्रीतिभाव पैदा नहीं होता है ।

– मान-अभिमान का चौथा विपाक है जनप्रियता का नाश । अभिमानी मनुष्य विनयशील तो होगा ही नहीं, और विनयहीन मनुष्य लोगहृदय में आदरपूर्ण स्थान

नहीं पा सकता है । वह मनुष्य सर्वजनप्रिय नहीं बन सकता है !

– क्या आप ऐसा सोच रहे हो कि 'अभिमानी बनकर भी हम धर्म की कल्याणमयी आराधना कर सकेंगे !' ऐसी मान्यता में उलझना नहीं है । ये सारी माया–मरीचिका सी उलझनें हैं । भ्रमणाओं की भूलभूलैया है ।

– मान–अभिमान का पाँचवा विपाक है – धर्म नहीं, धन नहीं और भोगसुख नहीं । जिंदगी में फिर शेष क्या रहा ? नम्र, विनयी और मधुरभाषी मनुष्य ही धर्म करने की योग्यता रखता है । धनोपार्जन में भी प्रायः सफलता मिलती है और भोगसुख भी प्राप्त होते हैं ।

इसलिए ग्रंथकार कहते हैं कि विनीत, विनम्र और मधुरभाषी बनो । इससे औरों के हृदय में आप और आपका ज्ञान स्थान पा सकेगा । औरों के अन्तःकरण में ज्ञान एवं ज्ञानी एवं ज्ञानीजनों के लिए अनूठा स्थान बनेगा । आपकी पवित्र धर्मक्रियाओं का गौरव बढ़ेगा । आपकी नम्रता आपको सही अर्थ में धार्मिक बनायेगी ।

मान–कषाय के विपाक बताकर अब माया–कषाय के विपाक बताता हूँ ।

## माया के कटु विपाक :

शाठ्यात् प्रत्ययहानिः । माया–कपट से विश्वास का भंग होता है । माया का यह पहला विपाक है । यदि आप माया करते रहते हो, आपके ऊपर किसी का विश्वास नहीं रहेगा । लोग आपको सन्देहभरी निगाहों से देखते रहेंगे । आपका परिवार, आपके मित्र, आपके स्नेही–स्वजन.....कोई भी आपके ऊपर विश्वास करने को तैयार नहीं होंगे ।

माया विश्वास का घात करती है । चाहे क्यों न साँप शान्त सोया हो, उसका विश्वास नहीं किया जाता । जैसे साँप ने सारे विश्व का, समूची मानवजाति का विश्वास खो दिया है, उसका कोई भरोसा नहीं करता, ठीक वैसे मायावी–कपटी व्यक्ति भी समाज के लिए अविश्वसनीय बन गया है ।

माया–कपट कर, छल करके, मनुष्य अपने व्यक्तित्व को गिराता है, मनुष्य की प्रतिष्ठा पर दाग लग जाता है । चाहे दो–तीन बार ही आपने माया की होगी, छल किया होगा और उससे धनसंपत्ति कमा भी ली होगी । अपना कोई स्वार्थ सिद्ध कर लिया होगा, परंतु यदि आपकी करतूतें दुनिया के सामने आ गई तो फिर दुनिया आपको बेईमान ही मानेगी । बाद में चाहें आप छल–कपट छोड़

भी देंगे, परंतु आपके विकृत बने हुए व्यक्तित्व को बदलना मुश्किल बन जायेगा। लोग सोचेंगे – 'यह भले अभी सरलता का दिखावा करता हो, पर इसकी सरलता में भी दम्भ छुपा है। सरलता का दिखावा करके दुनिया के भोले लोगों को विश्वास में लेकर वह एक दिन सबको धोखा देगा। इसका कपटी स्वभाव नहीं सुधरने का। यह तो, सौ चूहे मारकर बिल्ली हज करने चली है.... वगैरह।' ऐसे अनेक विचार आपके लिए लोगों में फैलेंगे।

आप लोगों की, समाज की उपेक्षा नहीं कर सकते। हो सकता है गुस्से में आप बोल दो कि – 'मुझे दुनिया से क्या लेना ? मुझे किसी की परवाह नहीं। लोगों का विश्वास हो या ना हो, मुझे क्या वास्ता इन सबसे ?' परंतु संसार–व्यवहार में अन्य मनुष्यों का विश्वास संपादन किये बिना नहीं चलता है। हाँ, अविश्वास की कालिमा से कलंकित जीवन जीनेवाले मनुष्य आपने देखे होंगे, आप उनके जीवन की गहराइयों में झाँकोगे तो अशान्ति, क्लेश और संताप के अलावा कुछ भी नहीं देखोगे। हाँ, यदि आप लोगों को ऐसा जीवन पसन्द हो तो फिर चलते रहो माया के रास्ते पर ! परंतु ध्यान रखना, अत्यंत अशान्ति की आग में सुलगते रहोगे।

आप अपने पारिवारिक जीवन में, परिवार के सदस्यों के साथ माया–कपट की जाल बिछाओगे और उन्हें यदि आपकी इस मायाजाल की खबर लग गयी तो आप अपने ही परिवार का विश्वास खो दोगे। पत्नी–पुत्र–पुत्री सारे स्वजन आपकी तरफ शंका की दृष्टि से देखने लगेंगे। परिवार के प्रेम–स्नेह में कमी आ जायेगी। अरे, आपका ही परिवार आपसे नफरत करेगा।

माया के ये सारे परिणामों का विचार करने का है। समाज के साथ आपने धोखाधड़ी की, व्यापार और धार्मिक संस्थाओं के हिसाब–किताब में गोलमाल की, आपकी दगाबाजी का परदा उठ गया, समाज की निगाहों में आप 'धोखेबाज' 'मक्कार' बन जाओगे। आपकी तरफ हजारों लोगों की नजरें नफरत बरसायेंगी। जबानें गालियाँ बरसायेंगी। शायद आपके लिए घर से बाहर निकलना मुश्किल हो जायेगा।

मायावी गृहस्थ हो या मायावी साधु हो, कोई भी हो, माया का आवरण सबके मन में केवल अशान्ति ही उत्पन्न करता है। अशान्त मनुष्य धर्म की मंगलमयी आराधना सही रूप से नहीं कर सकता है। मनुष्य अपने पापाचरणों को ढँकने के लिए भले ही माया का सहारा ले, परन्तु उसका पापाचरण उसकी आत्मा को आखिर चंचल एवं अशान्त ही बनायेगा। इतना ही नहीं, मायावी के सर पर

अनेक आपत्तियाँ घिरी रहती है। कब वो किस आपत्ति में फँस जाय, कहा नहीं जा सकता।

इतनी खतरनाक माया को कौन बुद्धिमान मनुष्य अपने जीवन में स्थान देगा? कौन माया का सहारा लेगा? आप लोग बुद्धिमान हो न? प्रज्ञावंत हो न? तो माया नहीं करना। माया को छोड़ देना।

## लोभ के करुण विपाक :

अब लोभ के दारुण विपाक बताता हूँ। एकाग्रता से सुनना। स्थिर चित्त से सुनना।

– सर्वगुणविनाशनं लोभात्। लोभ का यह प्रथम और अति दारुण विपाक है : सभी गुणों का नाश! लोभ से मनुष्य के सभी गुण नष्ट हो जाते हैं। सभी गुणों का नाश यदि आपको मंजूर हो तो लोभदशा बनाये रखना। यदि आप अपने जीवन–बाग में क्षमा के सुमनों की सुगंध चाहते हो, नम्रता और सरलता के आम्रवृक्षों की शीतल छाया चाहते हो, सत्य एवं संतोष के मधुर फलों का आस्वादन करना चाहते हो, तो आपको लोभ का त्याग करना ही होगा।

लोभ आपको अहिंसा की आराधना नहीं करने देगा। लोभ आपको सत्य की छाया में बैठने नहीं देगा। लोभ आपको सदाचारी नहीं रहने देगा। लोभ आपको दान देने से रोकेगा। लोभ तपश्चर्या के मार्ग पर बाधा उत्पन्न करेगा। आपके मन में शुभ भावनाओं को प्रवेश नहीं करने देगा। एक भी गुण वह रहने नहीं देगा आपके जीवन में। सोचिये, बिना गुणों का जीवन, आपको क्या शान्ति दे पायेगा? गुणरहित जीवन क्या आत्मकल्याण का साधन बन सकेगा? इसलिए कहता हूँ कि गुणसमृद्धि को नष्ट करनेवाले लोभ को दूर धकेल दो।

लोभ का दूसरा दारुण विपाक है सर्वनाश! लोभ सभी विनाशों का आश्रय–स्थान है। सारे अपायों का, नुकसानों का निवासस्थान है। जितने विनाशकारी तत्त्व हैं, जितने नुकसान करनेवाले तत्त्व हैं, वे सारे लोभी के आश्रयस्थान में आराम पा रहे हैं! और कहीं भी इन तत्त्वों को आश्रय नहीं मिलता है। लोभ के आश्रयस्थान में आपको चोर मिल जायेंगे, परस्त्रीलंपट मिल जायेंगे। क्रूरता भी वहाँ ही मिलेगी। सारे दुःख–दर्द एवं पीड़ाओं के पास पहुँचने का बहुत ही सीधा और सरल रास्ता यह लोभ है। फिर सारे व्यसन आपको लोभ के राजमार्ग पर आ मिलेंगे। लोभ राजमार्ग है न? अतः सबको इस पर चलने का हक है!

किसी पर कोई प्रतिबंध या नियंत्रण नहीं है। परस्त्रीगमन, चोरी, जुआ, शिकार, शराब, वचनविकार, कपटलीला..... वगैरह सारे के सारे दुर्व्यसन, लोभ के राजमार्ग पर मजे से चले जा रहे हैं।

लोभदशा आत्मा में प्रबल बनते ही, महाविनाशकारी पापों का आगमन चालु हो जायेगा। भयंकर व्यसनों का डेरा आपकी आत्मभूमि पर बन जायेगा। लोभ केवल धन-संपत्ति का ही नहीं होता है, सुख मात्र का भी लोभ होता है। पाँच इन्द्रियों के तमाम विषयसुखों का लोभ होता है। शब्द-रूप-रस-गंध और स्पर्श के प्रिय मनचाहे सुखों का लोभ होता है। सुखों को प्राप्त करने की और प्राप्त सुखों के उपभोग की तीव्र वासना-लोभदशा है। यह वासना ही जीवों को व्यसनों का गुलाम बना देती है। ऐसा लोभी जीव, व्यसनों का गुलाम बना जीव, क्या सुख-शान्ति प्राप्त कर सकता है ? प्रसन्नता या प्रीति पा सकता है ? नहीं, जरा भी नहीं। जो लोभदशा के पल्ले पड़ा, वह न तो कोई सुख पा सकता है और नही कोई शान्ति-प्रसन्नता का अनुभव कर सकता है। उसका सारा जीवन दुःख-दर्द और वेदना से भर जाता है। पीड़ा और परिताप के अलावा उसे कुछ भी नहीं मिलता है।

क्या आपने 'विपाक सूत्र' के उस श्रेष्ठिपुत्र उज्झितक की कहानी सुनी है ? वैषयिक सुखों की तीव्र लालसा ने उसको व्यसनों का गुलाम बना दिया था। वह शराबी बना, जुआरी बना, मांसभक्षी और वेश्यागामी भी बन गया। 'कामध्वजा' नाम की वेश्या के साथ भोगसुखों में डूबा रहा। परिणाम क्या आया ? नतीजा क्या निकला ? नगर के राजा ने कामध्वजा को अपने उपभोग के लिए पसन्द कर ली ! उज्झितक को उसके पास नहीं जाने के लिए कड़क सूचना दे दी गयी। परंतु वेश्या के सुख का गुलाम बना हुआ वह उज्झितक वेश्या के पास गये बिना कैसे रह सकता था ? चोरी-छुपी से वह गया ही। राजा के सैनिकों ने उसे पकड़ लिया। राजा के आदेश से सैनिकों ने उसे घोर यातनाएँ दी और अन्त में उसे शूली पर लटका दिया।

सोचना, पच्चीस वर्ष का वह खूबसूरत नवयुवान, उसको सुखभोग की तीव्र वासना के कारण शूली पर मौत मिली। मरकर वह पहली नरक में गया। सोचो, ऐसे दारुण लोभ को जीवन में स्थान देना क्या उचित है ? ऐसे लोभ के पल्ले पड़कर क्या सुख-शान्ति मिलेगी ? अज्ञानी मनुष्य सुख पाने के लिए लोभ का सहारा लेता है। कैसी बड़ी भूल करता है वह ? मानो कि वह जीने के लिए

जहर का प्याला पी रहा है। अपने आपको सुरक्षित करने के लिए शेर की गुफा का स्थान खोज रहा है। ऐसे लोभी को कौन मनाए ? कौन समझाये ? विनाशकारी तत्त्वों को वह परम हितकारी समझ बैठा है। धोखेबाज को वो विश्वासपात्र समझ रहा है ! कौन बचाये उसको ?

लोभ सारे पापों की जड़ है। लोभी कौन–सा पाप नहीं करता है ? वह तो हर कोई पाप करने के लिए तैयार होता है। वह पाप को पाप मानता ही कहाँ है ? उसे तो बस, इन्द्रियों के विषयसुख ही नजर आते हैं।

ध्यान रखना, सुख पाने के लिए लोभ के पास मत जाना। हो सकता है, दूर से आपको सुख दिखायी भी देगा, पर वह केवल आपकी भ्रमणा होगी। सुख की ओट में आप सोच भी न सको ऐसे भयानक दुःख छुपकर बैठे हैं।

इस प्रकार, ये क्रोध, मान, माया और लोभ, जीवात्माओं के दुःख के कारणरूप होने से, नरक वगैरह संसार के भयंकर मार्ग का निर्माण करनेवाले हैं।

अब मैं आपको, चारों कषायों का समूह रूप से, विपाक बताऊँगा। कषायों के विपाक सुनकर, कषायों से मुक्त होना है।

'प्रशमरति' ग्रंथ में कहा गया है –

एवं क्रोधो मानो माया लोभश्च दुःख हेतुत्वात्।
सत्वानां भवसंसारदुर्गमार्गप्रणेतारः ।। ३० ।।

'इस भाँति ये क्रोध, मान, माया और लोभ, जीवात्माओं के दुःख के कारणरूप होने से नरकादि संसार के भयंकर मार्ग का निर्माण करनेवाले हैं।'

नरकगति और तिर्यंचगति संसार की भयानक गतियाँ हैं। नरकगति अपने लिए परोक्ष है, परंतु तिर्यंचगति तो प्रत्यक्ष है न ? पशु–पक्षी एवं कीड़ों का जीवन तो अपने सामने ही है। उनकी जिन्दगी पर मंडराये हुए दुःखों के बादल क्या आपको नहीं दिख रहे हैं ? बूचड़खाने में क्रूरता से कत्ल हो रहे इन मवेशियों की, जानवरों की कंपकंपी फैलानेवाली चीखें क्या आपको सुनायी ही नहीं देती ? शिकारी की अगन झोंकती बन्दुकों से बींधे गये, तीर से घायल होकर जमीन पर गिरे हुए और दर्द के मारे तड़पते हुए किसी पंखी की वेदनाभरी अवस्था क्या आपने कभी नहीं देखी है ? किसी नदी या सरोवर के किनारे बैठकर मच्छीमार जब अपनी जाल में फँसी हुई मछलियों को पत्थर की चट्टानों पर पटक–पटककर मौत के घाट उतारता है, उस समय का थर्रा देनेवाला दृश्य क्या आपने नहीं

देखा ? जीवित मासूम बछड़ों को गरम–गरम खौलते हुए पानी में डूबोकर, उनकी चमड़ी उतारनेवालों के कारनामे क्या नहीं सुने ?

तिर्यंच योनी के संसार की भीषणता के ये तो दो–चार ही नमूने हैं, बाकी इतनी ही नहीं, इससे बहुत ज्यादा यातनाओं से भरा तिर्यंचों का संसार है ।

और नरकगति का दर्द, पीड़ा और परितापों से भरा संसार आज हम हमारी नजरों से नहीं देख सकते हैं, परंतु सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा ने ज्ञानदृष्टि के माध्यम से हमें बतलाया है ।

**सभा में से** : प्रत्यक्ष नहीं दिखती नरकगति..... यदि प्रत्यक्ष दिखती तो हमारे सारे पाप छूट जाते !

**महाराजश्री** : आँखों से देखने का आग्रह मत रखो । अपन देख ही नहीं पायेंगे उन भयंकर वेदनाओं को । अपना मानव–हृदय उन नरकावासों की भयंकर वेदनाओं को सह नहीं सकेगा । दिल और दिमाग बेहोश बन जायेगा । अपन शायद जमीन पर टूट गिरेंगे । अरे, अपन तो बूचड़खाने में हो रही पशुओं की कत्लेआम भी देखने में समर्थ नहीं है, तो फिर इतने भावुक हृदयवाले मनुष्यों के लिए, नरक की कातिल वेदनाओं को, नृशंस हत्याओं को देखना कहाँ तक शक्य होगा ?

ऐसी दुःखपूर्ण नरकगति और तिर्यंचगति का रास्ता बनानेवाले ये कषाय हैं ! जीवों को इस रास्ते पर चलने की सतत प्रेरणा देनेवाले ये कषाय हैं । दुर्गति में भली–भाँति पहुँचानेवाले भी ये कषाय हैं ।

– क्या क्रोध ने परशुराम को क्षत्रिय–हत्या का उपदेश नहीं दिया था ? और नरक में नहीं धकेला था ?

– अभिमान ने क्या रावण को युद्ध के मैदान पर नहीं भेजा था ? और बुरी तरह पराजित करके सीधे ही नरक में नहीं भेजा था ?

– माया ने रुक्मी राजा को, हृदय की अशुभ भावना को छुपाने का उपदेश देकर, नरक और तिर्यंच गति में नहीं भटकाया क्या ?

– क्या लोभ ने मम्मण शेठ को कृपणता के पाठ नहीं सिखाये थे ? रौद्रध्यान सिखला कर, उसे सातवी नरक में नहीं पहुँचाया क्या ?

क्रोध के आदेशों, अभिमान की प्रेरणाएँ, माया की सलाहें और लोभ की लालचों में फँसे हुए, भ्रमित बने हुए जीव, हिंसा–झूठ–चोरी और दुष्ट आचरण के भयानक

रास्ते पर चल देते हैं। नरक और तिर्यंचगति के भीषण संसार में अपने आपको गिरा देते हैं। इसलिए कषायों के विपाकों को अच्छी तरह समझना है और गंभीरता से चिंतन करना है।

## कषायों की जड़ें :

इन क्रोधादि कषायों की जड़ें हैं ममकार और अहंकार। माया और लोभ की जड़ है ममकार और क्रोध एवं मान की जड़ है अहंकार। ममत्व एवं अहंत्व की जड़ें हमारी आत्मभूमि की गहराइयों में फैली हुई हैं। बरगद के वृक्ष की जड़ें कभी आपने देखी हैं ? कितनी गहरी और जमीन में चौतरफ फैली हुई होती हैं ? उससे भी ज्यादा गहरी और ज्यादा फैली हुई उन ममत्व और अहंत्व की जड़ें आत्मा की धरती में रही हुई हैं।

श्री उमास्वातीजी ने 'अहं और मम' को कषायों की जड़ बतलाया तो उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने 'अहं–मम' को मोह का महामंत्र बतलाया। 'ज्ञानसार' में कहा है –

'अहं–ममेति मन्त्रोऽयं मोहस्य जगदान्ध्यकृत्।'

जब तक अहं और मम की जड़ें जमी हुई हैं तब तक कषायों के वृक्ष..... जहरीले वृक्ष हरेभरे रहेंगे। ममत्व और अहंकार की वासनाएँ जब तक प्रबल हैं, तीव्र हैं, तब तक कषायों की कालिमा रहेगी ही। इसलिए ममत्व और अहंकार की वासनाओं को चुन–चुनकर बाहर फेंकना होगा। तब ही कषायों का नाश होगा। कषायों का समूलोच्छेद करने के लिए अहंकार और ममकार को करारी हार देनी होगी।

## कषाय क्षय से मन की निर्मलता :

प्रशस्त भावक्रिया का प्रयोजन है मन की, चित्त की निर्मलता। पवित्र, निर्मल चित्त ही हमारा आन्तरिक धन है। उस धन की सुरक्षा करनी चाहिए। कषाय–चोर उस धन की चोरी न कर जायें–इसलिए सावधान रहना होगा। कषायों के दारुण विपाकों का चिंतन करते हुए, कषायों से मन को बचा लो – यही मंगल कामना।

आज बस, इतना ही।

★ ★ ★

# प्रवचन : ७३

परम उपकारी, परम कृपानिधि आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में 'श्रावक जीवन' के विषय में सर्वांगीण रूप से मार्गदर्शन दिया है। बाह्य व्यावहारिक जीवन को धर्ममय बनाने का जैसे मार्गदर्शन दिया है वैसे आंतरिक व्यक्तित्व को पवित्र, प्रसन्न और उदात्त बनाने का भी मार्गदर्शन दिया है। अन्तःकरण की शुद्धि के लिए उन्होंने 'योगाभ्यास' की प्रेरणा दी, 'नमस्कारादिचिंतन' का मार्गदर्शन दिया और 'प्रशस्त भावक्रिया' करने का उपदेश दिया।

अब वे 'भवस्थितिप्रेक्षण' की बात कहते हैं। संसार के वास्तविक स्वरूप का अवलोकन करने को कहते हैं। यह अवलोकन करने से अन्तःकरण को, चित्त को, हृदय को निर्मल करना है। चित्त की वास्तविक शान्ति ऐसे उपायों से ही मिलनेवाली है।

## संसार के वास्तविक स्वरूप का अवलोकन :

संसार-स्वरूप का अवलोकन करना है यानी संसार की प्रमुख छः बातों का अवलोकन करना है। ये छः बातें जो बाहर से दिखती हैं वैसी भीतर में नहीं है! स्थूल दृष्टि से भीतर का स्वरूप दिखता नहीं है। वास्तविक स्वरूप यानी भीतरी स्वरूप, उसका अवलोकन करना है। ज्ञानदृष्टि के दिव्य काँच से अवलोकन किया जा सकता है। ज्ञानदृष्टि का दिव्य काँच ग्रंथकार ने दिया है। हमें तो उसका उपयोग ही करना है। जब आप इस दिव्य काँच से छः बातों को देखेंगे, आप आश्चर्यचकित हो जायेंगे! 'इन बातों को हमने ऐसी तो कभी देखी नहीं थी, सोची भी नहीं थी!' ऐसा बोल उठोगे।

## संसार की प्रमुख ६ बातें :

संसार की प्रमुख ६ बातों का अवलोकन करना है, वे ६ बातें इस प्रकार हैं :

१. जीवन (आयुष्य)।
२. शरीर।
३. यौवन।
४. संपत्ति।

५. संबंध और

६. पाँच इन्द्रियों के विषय ।

सर्वप्रथम हम जीवन का अवलोकन करेंगे ।

## जीवन (आयुष्य) :

एक ३० वर्षीय युवक ने मुझे बताया : 'शादी होने के आठ वर्ष के बाद मुझे पुत्र की प्राप्ति हुई । हम पति–पत्नी का आनन्द आकाश को छूने लगा । हमने अपने आपको कृतार्थ मान लिया । पुत्र के प्रति अपार स्नेह उभरने लगा । पुत्र के विषय में कल्पनाओं का राजमहल बाँधने लगे । बहुत प्यारा था पुत्र, परंतु एक वर्ष का होकर पुत्र अचानक मृत्यु की गोद में समा गया । हम दोनों मूढ़ हो गये, अनवरत कल्पांत करते रहे.....' वगैरह बातें उसने बतायी ।

जीवन का अवलोकन करने की दिव्य दृष्टि उस युवक के पास नहीं थी । इसलिए जीवन को, पुत्र के जीवन को वह सही स्वरूप में समझ नहीं पाया । 'पुत्र का जन्म हुआ है इसलिए वह दीर्घकाल तक जीयेगा, १०० साल जीयेगा.....' यही कल्पना कर ली ! इस कल्पना के आधार पर उन्होंने असंख्य कल्पनाओं का महल बना लिया । परंतु वास्तविक अवलोकन नहीं किया जीवन का !

**ण य किंचि वि सासयं अत्थि ।**

कुछ भी शाश्वत् नहीं है ! जो उत्पन्न होता है, उसका अवश्य विनाश होता है । जिसका जन्म होता है उसकी कभी भी मृत्यु हो सकती है । इस वास्तविकता का विचार उस दंपती ने नहीं किया था । 'जम्मं मरणेण समं संपज्जइ ।' जन्म और मृत्यु जुड़े हुए होते हैं । यह वास्तविकता है । वास्तविकता का स्वीकार करना ही चाहिए । वास्तविकता का स्वीकार करनेवाला मनुष्य सदैव निराकुल रहता है । प्रसन्नचित्त रहता है ।

हर जीवात्मा पूर्वजन्म में अपना आयुष्य–कर्म बाँध कर ही जनमता है । विशिष्ट ज्ञानी के बिना कोई नहीं जान सकता है कि 'इस जीव का इतना आयुष्य है ।' सामान्यतया हर मनुष्य दीर्घ आयुष्य की ही कल्पना करता है । अरे, कुछ लोग तो मृत्यु की कल्पना ही नहीं करते हैं ।

श्री रामचन्द्रजी ने लक्ष्मण की मृत्यु के विषय में कभी सोचा ही नहीं था ! जब अचानक लक्ष्मण की मृत्यु हुई, तो श्रीराम मानने को तैयार नहीं थे कि लक्ष्मण की मृत्यु हुई है ! लक्ष्मणजी का मृत देह अपने उत्संग में लेकर बैठ गये । फिर

कंधे पर उठाकर अयोध्या के राजमार्गों पर फिरने लगे ! छः महीने तक उन्होंने लक्ष्मणजी के मृत्यु की बात स्वीकार नहीं की थी। चूँकि लक्ष्मण के ऊपर श्रीराम का अगाध स्नेह था, अपार प्रेम था। ऐसा प्रेम, ऐसा राग, जीवन की वास्तविकता का ज्ञान नहीं करने देता है।

'मनुष्य का आयुष्य हवा जैसा चंचल है, कभी भी जीवन नष्ट हो सकता है' यह जीवन की भीतरी वास्तविकता है। इसलिए अपने और दूसरों के जीवन से मोह नहीं करना चाहिए। तीव्र राग नहीं करना चाहिए। सतत जीवन की, आयुष्य की वास्तविकता का भान रहेगा तो राग नहीं टिकेगा। मोह नहीं रहेगा। जैसे ही रामचन्द्रजी को वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हुआ, लक्ष्मण के प्रति जो मोह था, टूट गया। उनके चित्त में विरक्ति आ गई, और वे गृहत्याग कर श्रमण बन गये। जीवन–आयुष्य अस्थिर है, विनाशी है, कभी भी नष्ट होनेवाला है – समझ लो।

## शरीर :

जीवात्मा के जीवन में मुख्य बात है शरीर ! शरीर की महत्ता सभी ने स्वीकार की है। जीवन में शरीर महत्त्वपूर्ण तत्त्व है – इस बात में कोई संदेह नहीं है। परंतु शरीर को किस दृष्टि से देखना, यह बात समझना है। बाह्य दृष्टि से मनुष्य शरीर का रूप और शरीर का स्पर्श – दो बातें देखता है। शरीर का रूप अच्छा होना चाहिए, उसका स्पर्श सुखद होना चाहिए। तीसरी बात सोचता है शरीर के आरोग्य की। शरीर निरोगी रहना चाहिए। इस दृष्टि से मनुष्य स्नान करता है, सुगंधित करता है, मालिश करता है, औषधोपचार करता है। वस्त्रालंकारों से सजाता है। इस प्रकार वह देहासक्त बनता जाता है। आत्मा और शरीर की भिन्नता भूल कर, शरीर को ही आत्मा मानने लगता है। आत्मा विस्मृत हो जाती है। शरीरासक्ति–देहासक्ति से मनुष्य पापकर्मों का बंधन करता जाता है। वर्तमान जीवन में शरीर के विषय में अनेक चिन्ताओं से घिरा हुआ रहता है।

ज्ञानी पुरुषों ने शरीर का आन्तरिक अवलोकन करने की प्रेरणा दी है। बाहर से सुंदर, आकर्षक एवं निरोगी दिखनेवाला शरीर भीतर से कैसा है, यह चिंतन करने का है :

**सचल कुहियाण पिंडं, किमि–कुल–कलियं अउव्व दुग्गंधं।**
**मल–मुत्ताण य गेहं देहं जाणेहि असुइमयं ॥**

यह शरीर समग्र गंदी वस्तुओं से बना हुआ है। शरीर के भीतर कृमि वगैरह असंख्य जीव भरे पड़े हैं, अत्यन्त दुर्गंधमय है और मल–मूत्र का गृह है। शरीर को अशुचिमय जानो।

– मनुष्य शरीर छिद्रवाला मदिरा–घट है। मदिरा–घट को धोने से जैसे वह पवित्र नहीं बनता है, वैसे मनुष्य शरीर भी धोने से पवित्र नहीं होता है।

– मनुष्य शरीर लहसुन जैसा है। जिस प्रकार लहसुन में स्वाभाविक दुर्गंध होती है, वैसे शरीर भी दुर्गंध से भरा हुआ है। चाहे स्नान करो, विलेपन करो या इत्र लगाकर सुगंधित करो, थोड़े समय के लिए भले ही सुगंधित रहे शरीर, परंतु बाद में वो ही दुर्गंध छूटती है।

– शरीर स्वयं तो अपवित्र है ही, शरीर से संपर्क में आनेवाले वस्त्र, भोजन आदि भी गंदे हो जाते हैं।

– पुरुष के शरीर में नौ छिद्र होते हैं, उन छिद्रों में से अशुचि निकलती रहती है। स्त्री के शरीर में बारह छिद्र होते हैं, उन छिद्रों में से अशुचि निकलती रहती है।

ऐसे शरीर पर कैसे आसक्ति हो सकती है? शरीर का यह भीतरी अवलोकन है। ऐसा अवलोकन करते रहने से अपने शरीर पर अनुराग नहीं होता है और दूसरों के शरीर के प्रति भी विरक्ति बनी रहती है। ऐसा ज्ञानी पुरुष आत्मस्वरूप में लीन रहता है।

'कार्तिकेय–अनुप्रेक्षा' में कहा गया है –

'जो पर–देह–विरत्तो, णिय देहे ण य करे वि अणुरायं।
अप्प–सरुव–सुरत्तो असुइत्ते भावणा तस्स ।।'

'शरीर की अशुचि का चिंतन करने पर मनुष्य, दूसरों के शरीर के प्रति विरक्त बनता है, स्वयं के देह में अनुराग नहीं करता है और आत्मस्वरूप में लीन बनता है।'

इसका यह अर्थ होता है कि जब तक स्व–पर शरीर के प्रति अनुराग रहेगा तब तक आत्मस्वरूप में रमणता होना संभव नहीं है। देहासक्ति आत्मरमणता में बाधक होती है। यदि आत्मध्यान में लीन बनना है तो देह की, शरीर की आसक्ति तोड़नी होगी।

जब भी शरीर से संलग्न स्नानादि क्रिया करें, उस समय शरीर की वास्तविक

आंतरिक स्थिति का चिंतन करना चाहिए। इससे जाग्रति बनी रहेगी। शरीर के ऊपर अनुराग नहीं होगा। शरीर के रूप-लावण्य के प्रति आकर्षण नहीं होगा।

'अशुचि भावना' का चिंतन-मनन करते रहो। इससे मानसिक शान्ति प्राप्त होगी। मन निर्मल बनता रहेगा।

**यौवन :**

संसार की तीसरी बात है यौवन।

सामान्य मनुष्य यौवनकाल को वैषयिक सुखों का उपभोग करने का समय मानता है। अर्थोपार्जन करने का समय मानता है। अर्थपुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ यौवनकाल में ही हो सकते हैं, ऐसा मानकर, उन दो पुरुषार्थ में डूब जाते हैं।

तत्त्वज्ञानियों ने तो यौवनकाल को 'अंधकार' कहा है! ऐसा अंधकार कि जो सौ सूर्य के प्रकाश से भी अभेद्य होता है। यौवन में अज्ञान का घोर अंधकार, यदि होता है तो उस अंधकार को मिटाना बड़ा मुश्किल कार्य होता है।

– इन्द्रियों की प्रबल उत्तेजना से यौवन आक्रान्त होता है।

– औद्धत्य और वक्रता से यौवन उन्मत्त बना हुआ होता है।

– यौवन के समय में मनुष्य प्रायः वृद्धावस्था का एवं मृत्यु का विचार नहीं करता है।

– यौवनकाल में मनुष्य माता-पिता का तिरस्कार कर देता है, गुरुजनों का आदर नहीं करता है, परमात्मा के प्रति प्रीति-भक्ति नहीं होती है।

ऐसे यौवन की भीतरी वास्तविकता का अवलोकन करने का है। शान्ति से, स्वस्थ चित्त से अवलोकन करना है। पहली बात यह सोचो कि :

– यौवन क्षणिक है। यौवन कायम रहनेवाली अवस्था नहीं है।

– दूसरी बात यह है कि यौवन में किये हुए कुकर्म वृद्धावस्था में दुःख देते हैं। परलोक में तो उसके दुष्ट फल भोगने ही पड़ते हैं।

– यौवनकाल में भी मृत्यु हो सकती है। कहीं पर भी और कभी भी मृत्यु हो सकती है। यौवन मृत्यु के सामने लाचार बन जाता है।

– अति वैषयिक भोगसुखों से यौवन रोगग्रस्त बन सकता है।

– अति चिन्ताओं से यौवन निराशाओं से घिर जाता है।

– विविध प्रकार की 'हार्ट-ट्रबल', 'डीप्रेशन'..... जैसे रोग निगल जाते हैं।

यह है यौवन का वास्तविक अवलोकन । यह अवलोकन कर, यौवन का सदुपयोग करने का निर्णय करना चाहिए ।

## यौवन का सदुपयोग :

यौवन का सदुपयोग तभी संभव हो सकता है जब यौवन विवेक–संपन्न होता है । विवेक–संपन्न यौवन ही मनुष्य का जीवन है । 'योगवसिष्ठ' में कहा गया है :

'तारुण्यमेव जीवस्य जीवितं तद्विवेकी चेत् ।'

यौवन का सदुपयोग करने का संकल्प करना चाहिए । बिना संकल्प सदुपयोग नहीं कर पाओगे । चूँकि यौवन में मन और इन्द्रियाँ उन्मत्त होती है ।

– यौवनकाल में पहला सत्कार्य करना है परोपकार का । जो दीन–दुःखी और अनाथ लोग हैं, उनका उद्धार करने का कार्य करना चाहिए । आजकल तो वैसी संस्थाएँ भी हैं, जो परोपकार का काम करती हैं । वैसी संस्थाओं में मानद सेवा अर्पित करनी चाहिए ।

– अस्पतालों में जो निर्धन पेशंट होते हैं, जो गरीब मरीज होते हैं, उनकी देखभाल करना और औषध–अनुपान वगैरह की व्यवस्था करना, बहुत महत्त्व का कार्य है ।

– यौवनकाल में स्व–आत्मा के लिए तपश्चर्या एवं तत्त्वज्ञान का अध्ययन करना चाहिए । ज्ञानी पुरुषों का परिचय एवं परमात्मभक्ति करनी चाहिए ।

– व्यसनी एवं स्वच्छंदी युवकों के साथ दोस्ती नहीं करें । परिचय नहीं रखें ।

एक बात याद रखें : यौवन फूल जैसा है, जल्दी कुम्हला जायेगा ।

## धन–संपत्ति :

धन–संपत्ति, संसार की चौथी महत्त्वपूर्ण बात है । संसार में जिस मनुष्य के पास लक्ष्मी होती है, ज्यादा लक्ष्मी होती है, उसको 'सुखी' माना जाता है । और वह लक्ष्मीपति भी अपने आपको 'महान्' मानता है । जब मनुष्य के पास लक्ष्मी आती है, वह यह समझता है कि 'अब यह लक्ष्मी मेरे पास ही रहेगी !' परंतु यह भ्रमणा है । धन–संपत्ति के विषय में वास्तविक अवलोकन करनेवाले ज्ञानी पुरुषों ने कहा है कि –

– चक्रवर्ती और सम्राट राजाओं जैसे पुण्यशाली पुरुषों की भी लक्ष्मी–संपत्ति स्थायी नहीं होती है, तब जिन साधारण मनुष्यों का पुण्योदय नहीं है, उनके पास

क्या चंचला लक्ष्मी स्थिर रह सकती है ? कहने का तात्पर्य यह है कि जब बड़े बड़े पुण्यशालियों की विभूति स्थिर नहीं रहती है, तो फिर साधारण लोगों की बात ही क्या करना ?

– यदि आप ऐसा सोचते हो कि 'हम उत्तम कुल के हैं, धैर्यवान् हैं, शास्त्रज्ञ–पंडित हैं, बड़े शूरवीर हैं, संसार के पूज्य हैं, बड़े धर्मात्मा हैं, रूपवान हैं, परोपकारी हैं, पराक्रमी..... इसलिए लक्ष्मी–संपत्ति हमारे पास सदा बनी रहेगी। हमारे पांडित्य से, शूरवीरता से, रूप और पराक्रम आदि से प्रभावित होकर, हमसे कोई भी लक्ष्मी को नहीं छीनेगा।'

ऐसा सोचना मूर्खता है। ऐसे सभी लोगों को छोड़कर लक्ष्मी चली गई है। ऐसे हजारों दृष्टांत इतिहास में भरे पड़े हैं। वर्तमान विश्व में भी ऐसे दृष्टांत देखने में आते हैं, सुनने को मिलते हैं।

– लक्ष्मी जल–तरंग जैसी चंचल है। अधिक समय एक जगह वह नहीं टिकती है। इसलिए जब तक आपके पास लक्ष्मी है, उसका सदुपयोग कर लो। अच्छे कार्यों में संपत्ति का विनियोग कर लो। हो सके उतने सुकृत कर लो।

यदि आपने लक्ष्मी का, धन–संपत्ति का वास्तविक अवलोकन किया, आपने लक्ष्मी की चंचलता जान ली, फिर भी यदि आप धन–संचय ही करते जाते हो, न भोगते हो, न दान देते हो..... तो आपका जीवन व्यर्थ है। संपत्ति की, लक्ष्मी की अन्तिम नियति विनाश है। एक दिन लक्ष्मी आपको छोड़कर चली जायेगी, अथवा लक्ष्मी को छोड़कर आप चले जाओगे।

धनवानों! क्या आप आपकी संपत्ति का वास्तविक अवलोकन करोगे ? नहीं करोगे तो पछताना पड़ेगा। यदि आप आपकी संपत्ति का उपभोग नहीं करते हो और दान भी नहीं देते हो, तो आपकी संपत्ति और परायी संपत्ति में क्या भेद रहेगा ? जिस प्रकार दूसरों की संपत्ति को आप भोग नहीं सकते और दान भी नहीं दे सकते..... वैसे आपकी संपत्ति भी दान या भोग में काम नहीं आती है!

सोना–चांदी की पाटों को देख–देखकर खुश नहीं होना है, करंसी नोटों के बंडलों को देख–देखकर हर्षित नहीं होना है..... यह आसक्ति इस जीवन में तो दुःख देती है, आनेवाले जन्मों में भी दारुण दुःख देगी। धनासक्ति बहुत ही खतरनाक होती है।

मनुष्य धन कमाने के लिए कई कष्ट सहता है, परदेश जाता है, पत्नी–पुत्रादि परिवार से दूर रहता है, दिन–रात मेहनत करता है, अनेक चिन्ताओं से संतप्त

रहता है..... और धन कमाता है। यदि वह उस धन को भोगता नहीं है या दान भी नहीं देता है, तो वह बड़ा मूर्ख है। अनेक आरंभ-समारंभ करके कमाया हुआ धन..... वैसे ही छोड़कर मर जाता है। साथ में केवल पापों की गठरियाँ उठाकर ले जाता है। धन सब यहीं पर रह जाता है।

इसलिए ज्ञानी पुरुष कहते हैं – धन-संपत्ति की आसक्ति नहीं करें। ममत्व नहीं बाँधे। हो सके उतना सदुपयोग करें। लक्ष्मी की चंचलता याद रखें, भूले नहीं।

## संसार के संबंध :

संसार की महत्त्वपूर्ण पाँचवी बात है संबंधों की। सामान्य मनुष्य, संबंधों में सुख देखता है, संबंधों में सुख खोजता है। इसलिए वह नये-नये संबंध करता जाता है। अपने आसपास वह संबंधों की एक जाल बुन लेता है। फिर उस जाल में फँसकर घोर दुःख का अनुभव करता है।

इसलिए 'संबंधों' के विषय में वास्तविक अवलोकन करना आवश्यक है। ज्ञानदृष्टि से संबंधों का अवलोकन करें। संबंधों की कहाँ तक यथार्थता है, संयोगजन्य सुख कहाँ तक वास्तविक है, उसका चिंतन करना है। कुछ महत्त्वपूर्ण संबंधों को लेकर अपन बात करते हैं।

– संसार में पहला महत्त्वपूर्ण संबंध होता है पति-पत्नी का। वैषयिक सुख पाने के लिए यह संबंध संसार ने मान्य किया है। परस्पर विश्वास, परस्पर सहायता, परस्पर का प्रेम..... वगैरह बातें इस संबंध में अपेक्षित होती है। इसमें से एक बात बिगड़ती है तो संबंध बिगड़ जाता है।

– यदि पुरुष पत्नी का विश्वासघात करता है, अथवा स्त्री पति का विश्वासघात करती है, तो संबंध बिगड़ता है।

– यदि पति पत्नी की सहायता नहीं करता है, पत्नी पति के कार्यों में सहायता नहीं करती है, तो संबंध बिगड़ता है।

– यदि पत्नी को पति का प्रेम नहीं मिलता है, पति को पत्नी का प्रेम नहीं मिलता है, तो संबंध बिगड़ता है।

ऐसे तो कई निमित्त होते हैं, जो संबंध को बिगाड़ते हैं। संबंध बिगड़ने के बाद अशान्ति, क्लेश और संताप शुरू हो जाता है। झूठ, चोरी, हिंसा, वगैरह भी शुरू हो जाते हैं। जो संबंध सुख पाने के लिए बाँधा था, वह संबंध दुखदायी

बन जाता है । तब तो संबंध की व्यर्थता मालुम होनी चाहिए न ? जब पापकर्म का उदय होता है, तब स्नेही भी शत्रु बन जाते हैं ।

दूसरा विशिष्ट संबंध है माता–पिता के साथ पुत्र–पुत्री का । जब तक बच्चे छोटे होते हैं तब तक माता–पिता के लिए प्रायः समस्या पैदा नहीं होती है, परंतु जब किशोर–अवस्था में बच्चे आते हैं तब माता–पिता के लिए समस्या पैदा हो जाती हैं । दोनों के विचारों में, कार्यपद्धति में..... व्यवहार में भिन्नता आ जाती है । इससे आपस में टकराव आ जाता है । जब लड़के–लड़कियाँ यौवनकाल में प्रवेश करते हैं, वे ज्यादा स्वतंत्र बन जाते हैं । माता–पिता को पूछे बिना ही वे मनमानी करते रहते हैं । माता–पिता का मोह उतर जाता है । माता–पिता आपस में दुःख रोते हैं – 'इससे तो यह अच्छा होता कि हम निःसंतान होते ।'

मेरा एक परिचित परिवार था । शादी किये १० वर्ष हो गये थे..... परंतु संतान नहीं थी । वे तीव्रता से चाहते थे कि उनको पुत्र की प्राप्ति हो । इसलिए उन्होंने हो सके उतने उपाय किये थे । उनको पुत्र की प्राप्ति हुई । वे लोग खुशी से झूमने लगे । एक ही लड़का था, इसलिए माता–पिता ने अपना सारा प्रेम उसमें उंडेल दिया । लड़का ७/८ वर्ष का हुआ.....उसकी स्वच्छंदता प्रगट होने लगी । माता–पिता ने बात को गंभीरता से नहीं ली । लड़का पढ़ता नहीं था, खेलता था और लड़ाई–झगड़ा करता रहता था । जब वह १४/१५ साल का हुआ, बीड़ी पीने लगा, जुआ खेलने लगा । घर में से पैसे की चोरी करने लगा । फिर भी माता–पिता ने उसको रोकने के आवश्यक उपाय नहीं किये ।

लड़का युवक बन गया । माता–पिता के साथ दुर्व्यवहार करने लगा । अपशब्द बोलने लगा । पैसे का दुर्व्यय करने लगा । माता–पिता की चिंता बढ़ गई । अति चिंता में पिता की मृत्यु हो गई । माता ने लड़के की शादी कर दी । लड़के की पत्नी कुछ समझदार थी, परंतु लड़का पत्नी की बात भी कहाँ माननेवाला था ? व्यसनों में उसने पिता की सारी संपत्ति नष्ट कर दी । गाँव छोड़ दिया । गाँव का घर–दुकान..... सब बेच दिया । शहर में गया । माता बड़े दुःख के साथ रो–रोकर मर गई । आज वह लड़का... लड़का नहीं रहा, पिता बना है, परंतु निर्धन स्थिति में जी रहा है ।

वर्तमान समय में तो माता–पिता एवं संतानों के बीच विचारों की गहरी खाई हो गई है । एक–दूसरे से कोई संतुष्ट नहीं है । संबंध नाम मात्र के रह गए हैं । फिर भी संबंधों का मोह छूटता नहीं है !

पारलौकिक दृष्टि से सोचा जायं तो संबंधों का परिवर्तन नजर आता है। एक भव की माता दूसरे भव में पुत्री अथवा पत्नी बन सकती है! एक भव का पुत्र, दूसरे भव में पिता बन सकता है..... भाई बन सकता है..... शत्रु बन सकता है। इसलिए तो तीर्थंकर भगवंतों ने कहा है – संसार में सभी जीवों के साथ सब प्रकार के संबंध हमने किये हैं। सारे संबंध परिवर्तनशील हैं। कोई भी संबंध स्थायी..... शाश्वत् नहीं है।

और, सारे दुःखों की जड़ भी संबंध ही है। संयोग है। ज्ञानी पुरुषों ने कहा है – 'संजोगमूला जीवेण पत्ता दुःखपरंपरा।' सभी दुःखों का मूल संयोग है, संबंध है। जब कि अज्ञानी जीव संबंधों में से सुख खोजते हैं! आग में से शीतलता पाने की आशा रखते हैं!

संबंधों का खोखलापन जान लो, समझ लो। संसार के किसी भी संबंध को तीव्रता से नहीं बाँधना है। केवल व्यवहार की भूमिका पर संबंधों को निभाने हैं। सावधानी रखना कि तीव्र राग–द्वेष न हो जायं।

## पाँच इन्द्रियों के विषय :

संसार की यह छट्ठी महत्त्वपूर्ण बात है विषयों की। पाँच इन्द्रियों के असंख्य विषय हैं। जीवात्मा उन विषयों में प्रिय–अप्रिय की कल्पना करता है। इष्ट–अनिष्ट की कल्पना करता है। और, इन विषयों के कारण क्रोधादि कषायों में फँसता रहता है।

अज्ञानी जीव, विषयों में – 'यह अच्छा है, यह अच्छा नहीं है.....' ऐसी कल्पना करता है। वास्तविकता यह नहीं है। कोई विषय बुरा नहीं होता। अच्छे–बुरे की कल्पना मनुष्य के मन की होती है। इसीलिए तो एक दिन जो वस्तु अच्छी लगती है, दूसरे दिन वही वस्तु अच्छी नहीं लगती है। जो वस्तु हमें अच्छी लगती है, दूसरे मनुष्य को अच्छी नहीं लगती!

इसलिए ज्ञानी पुरुष विषयों का वास्तविक अवलोकन करने का उपदेश देते हैं। विषयों के प्रति राग–द्वेष नहीं होने चाहिए – यह महत्त्वपूर्ण बात है। प्रिय विषयों के प्रति राग और अप्रिय विषयों के प्रति द्वेष! यह राग–द्वेष का चक्र निरंतर चलता रहता है और हमारी आत्मा पापकर्मों से बँधती रहती है।

तीर्थंकरों ने विषयों को विष समान कहे हैं। जीवन जीने के लिए अनिवार्य रूप से जितना विषय–उपभोग करना पड़े, उतना ही करने का उपदेश दिया है।

इन्द्रियों को तृप्त करने के लिए विषयोपभोग नहीं करना है। वैसे भी इन्द्रियाँ कभी तृप्त होनेवाली नहीं हैं। समुद्र जैसी हैं इन्द्रियाँ। हजारों नदियाँ समुद्र को मिलती हैं, परंतु समुद्र कभी तृप्त नहीं हुआ, वैसे इन्द्रियों को कितने भी विषय दिया करो, इन्द्रियाँ तृप्त होनेवाली नहीं हैं।

जब मनुष्य को मीठे, मधुर शब्द सुनने को मिलते हैं तो वह घंटों तक उसमें खो जाता है। शिकारी जैसे हिरन को बींध डालता है वैसे उसे कोई बींधता नहीं और नहीं कोई गोली चलाता, पर उस वक्त जो पापकर्म बँधते हैं, उन कर्मों की दारुणता उस शिकारी से भी ज्यादा भयानक होती हैं। जब कोई मनुष्य किसी मनचाहे रूप–सौन्दर्य के पाश में बद्ध होकर रूप को निहारता है, तब पापकर्म उसका सर्वस्व छीनने के लिए उतारु हो जाते हैं इसका ख्याल भी उसे कहाँ होता है? सुगंधी फूल, महक–महक करते चम्पा–चमेली के इत्र, खूश्बु को बिखेरते 'इन्टीमेट' वगैरह में लीन बनी जीवात्माएँ! उन्हें उस वक्त, अपने ही शरीर के भीतर भरी बदबू का ख्याल नहीं आता। उस वक्त बँधते कर्मों की बदबू, सड़े हुए साँप की दुर्गंध से भी अनंतगुना ज्यादा है–यह बात कैसे आपको समझाऊँ?

जब मनुष्य मनपसंद रस में, रसोपभोग में लीन बन जाता है, छहों रसों से भरपूर भोजन पर टूट पड़ता है, उसमें ओतप्रोत हो जाता है, उस समय मछली के जबड़े को बींधते उस लोह के कांटे से भी भयंकर कर्मों के तीक्ष्ण शूल आत्मा को कैसे चुभते जाते हैं, वो तो प्रत्यक्ष द्रष्टा ज्ञानी पुरुष ही बतला सकते हैं। मनचाहे और मनमांगे विषयों की गोद में रंगराग की होली खेलते विषयांध मानवों को कौन समझाने जायं कि 'भैया, यह इन्द्रियपरवशता तुझे रौरव नरक की वेदनाओं के बीच धकेल देगी। छोड़ दे इन परवशता के पाश को। अपने आपको अनुशासित कर। मानव जीवन को ऐसे कोड़ी के मोल न बिकने दे।' समझायें भी, परंतु सुनता कौन है?

शब्द–रूप–रस–गंध–स्पर्श के विषयसुखों में पाँचों इन्द्रिय के माध्यम से डूबे मनुष्य, कैसे बेहाल होते हैं और संसार में भटक जाते हैं, इसकी कल्पना भी कंपा देती है।

अप्राप्त विषयों को प्राप्त करने की तीव्र अभीप्सा और प्राप्त विषयों के रक्षण की सतत चिन्ता, इन्द्रियपरवश जीव को कितनी घोर पीड़ा देती है, उसका विचार तो करो जरा! स्वच्छंद मनुष्य की यह परवशता उसे भवसमुद्र में बहुत गहराई में डूबो देती है।

शब्दादि विषयों के साथ प्रीति बाँधते और अठखेलियाँ खेलते आपके मन को रोको, समझाकर रोको। वरना भविष्य के असंख्य भव अन्धकारमय और दुःखमय बन जायेंगे।

इस प्रकार भवस्थिति का अनुप्रेक्षण किया। जीवन (आयुष्य), शरीर, यौवन, संपत्ति, संबंध एवं पाँच इन्द्रिय के विषय – ये ६ बातें ही भवसंसार की प्रमुख बातें हैं। इन ६ बातों का अनुप्रेक्षण–अनुचिंतन करना यह आज समझाया है।

आज बस, इतना ही।

★ ★ ★

# प्रवचन : ७४

परम उपकारी, परम कृपानिधि आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में श्रावक जीवन के विषय में सर्वांगीण मार्गदर्शन दिया है। 'योगाभ्यास' से शुरू कर उन्होंने अन्तःकरण की विशुद्धि के लिए अद्‌भुत प्रेरणा दी है। चित्त को अशुभ और अशुद्ध विचारों से मुक्त करने के लिए योगसाधना, नमस्कारादि चिंतन, क्रोधादि दोषों के अपायों का चिंतन और भवस्थिति का अवलोकन करने को कहा।

अब वे कहते हैं – 'तदनु तन्नैर्गुण्यभावना।' संसार की निर्गुणता का पुनः पुनः चिंतन करते रहो। पुनः पुनः चिंतन को 'भावना' कहते हैं। संसार की निर्गुणता–असारता का बार–बार चिंतन करना चाहिए। बार–बार चिंतन करने से, विविध दृष्टि से चिंतन करने से संसार के सुखों के प्रति राग–आसक्ति टूटती जायेगी। संसार के प्रति वैराग्यभाव जगेगा।

## संसार के प्रति वैराग्य दृढ़ करें :

हृदय में संसार के प्रति, यानी संसार की प्रमुख जो ६ बातें कल बतायी थी, उनके प्रति वैराग्य जाग्रत होना और दृढ़ होना अति आवश्यक है। यानी अपना हृदय विरक्त बनना चाहिए, विरक्त रहना चाहिए। रहना है संसार में, लेकिन संसार के प्रति आसक्ति नहीं रखना है। जिस प्रकार कमल पानी में रहता है, फिर भी पानी से निर्लेप रहता है। हृदय में संसारविरक्ति भर के जीनेवाले जीव कर्मों का बंधन अति अल्प करते हैं! यह सबसे बड़ा प्रयोजन है विरक्ति का। विरक्त मनुष्य संसार में रहते हुए भी अशान्ति, संताप और उद्वेग का शिकार नहीं बनता है।

'प्रशमरति' ग्रंथ में कहा गया है :

दृढ़तामुपैति वैराग्यभावना येन येन भावेन।
तस्मिंस्तस्मिन् कार्यः कायमनोवाग्भिरभ्यासः॥

प्रतिदिन एक ही काम कीजिये : वैराग्य की भावना को 'वासना' बना दीजिये। मन से, वचन से और तन से यह एक ही काम करने जैसा है। जब वैराग्य की भावना वासना के रूप में परिवर्तित हो जायेगी तब आपोआप वैराग्य स्थिर बन जायेगा। ज्यो ज्यों वैराग्य वासनारूप बनता जायेगा त्यों त्यों राग–द्वेष की

वासना नष्ट होती जायेगी। राग-द्वेष की अनादिकालीन वासनाओं पर मन, वचन एवं काया से प्रहार कीजिये। मन से ऐसा ही चिन्तन कीजिये, वचन से ऐसा ही बोलिए एवं पाँचों इन्द्रियों से ऐसे ही कार्य कीजिए कि जिससे रागवासना का विसर्जन हो और द्वेष की सुलगती आग बुझ जायं।

यह संकल्प कीजिए, अविचल-अडिग निर्णय कीजिए कि 'मुझे वैराग्य की भावना को वैराग्यवासना में परिवर्तित करना है। मुझे वैराग्यभाव को सुदृढ़ बनाना है।' जब तक यह संकल्प नहीं होगा तब तक उस दिशा में आप मन-वचन-काया से पुरुषार्थ नहीं कर पायेंगे। पुरुषार्थ में जोश, दृढ़ता एवं शीघ्रता नहीं आ सकेगी। यदि हम रागदशा को बुरी समझते हैं, तो उसके भयंकर परिणामों की कल्पना भी हमें विचलित कर देती हैं। उसकी विनाशलीला हमने अपनी नजरों से देख ली है, तो फिर हम क्यों उस चूडेल सी रागदशा की बगल में बैठे ? तो फिर क्यों उसके सहारे ही सुख लेने को दौड़े ? रुक जाइये, अनन्त अनन्त जन्मों से पीड़ा देनेवाली एवं आत्मा का नूर चुसनेवाली इस रागदशा को अब तो खत्म करनी ही होगी। इसके लिए जो कोई शस्त्र, जो कोई अस्त्र हमारे पास हो, उनको लेकर हमें रागदशा पर हमला कर देना होगा। अब सोचने का समय नहीं है। आक्रमण करने की क्षण आ चुकी है। जिससे इस रागदशा को खत्म कर सकें, उठाइये उस शस्त्र को और पूर्ण शक्ति से लगाइये मोर्चा रागदशा के सामने। गभराइये नहीं, एक अदृश्य शक्ति हमारे भीतर बैठी है। वह हमेशा हमारे साथ है। वैराग्य भावना को दृढ़ बनाने के लिए मन के विचारों को बदलना ही होगा। हर एक प्रसंग एवं हर एक घटना का चिन्तन संवेगमय एवं निर्वेदमय विचारों के माध्यम से करना होगा। संवेगगर्भित एवं वैराग्यगर्भित विचारों से वैराग्य सुदृढ़ बनता है। इसलिए ऐसे विचार करने की कोशिश करनी होगी। अर्थात् पुनः पुनः संवेगगर्भित एवं निर्वेदगर्भित करते रहना।

मोक्षप्रीति एवं भव-उद्वेग ! मोक्ष के प्रति राग और संसार के प्रति उद्वेग ! इन दो तत्त्वों को अपने विचारों के केन्द्रबिन्दु बनाइए। जन्म-जरा और मृत्यु, आधि-व्याधि और उपाधि से भरेपूरे इस संसार का चिंतन आपके वैराग्यभाव को ज्यादा पुष्ट करेगा।

कभी संसार की क्षणभंगुरता के चिंतन में डूब जायं, तो कभी भीषण, दुःखदायी संसार में जीवात्मा की अशरणदशा के विचारों की गहराई में चले जायं। कभी आत्मा के अकेलेपन की स्थिति के चिंतन में चले जायं तो कभी स्वजन-परिजन

और वैभव से आत्मा की जुदाई के विचारों में खो जायं । कभी हर एक जन्म में बदलते जाते जीवात्माओं के पारस्परिक सम्बन्धों की विचित्रता के चिंतन में डूब जायं, तो कभी इस गोरे–गोरे तन के भीतर की काली काली अवस्था के विचारों में मग्न हो जायं ।

कभी–कभी दुःखदायी हिंसा वगैरह आश्रवों के करुण अंजाम याद आ जायं तो कभी इन आश्रवों के वेगशील प्रवाह को रोकने के उपाय मन में चले आयं । कभी कर्मों की निर्जरा का विज्ञान चित्त को हिला दे, तो कभी चौदह राजलोकरूपी विराट विश्व की लम्बी सफर करने चले जायं । कभी धर्म के अद्‌भुत प्रभावों पर अपनी आत्मा मुग्ध बन जायं तो कभी 'बोधि' की दुर्लभता दिल को डोला दे । कभी मन सिद्धशीला की सफर पर चला जायं और सिद्धशीला पर शुद्ध–बुद्ध एवं मुक्त बनकर बैठे हुए परम आत्माओं का परिचय करने लग जायं ।

ऐसा करते रहें, ऐसा ही विचारें, ऐसा ही बोलें, शरीर से ऐसा ही आचरण करें, पुरुषार्थ करें । आखिर एक न एक दिन तो सफलता हमारे कदमों में झूकेगी ही । वैराग्य का रंग वसन्त का ऐसा सदाबहार रंग बन जायेगा, जो कभी फीका नहीं पड़ता, न कभी गल सकता, ऐसे ही रंग से हमें अपने आपको रंगना है ।

## संसार के प्रति वैराग्य क्यों होना चाहिए ?

'संसारनिमित्तकं दुःखम् ।' सारे दुःखों का मूल कारण संसार ही है और सारा संसार कर्ममय है । संसार की ऐसी एक इंचमात्र, एक सूत जितनी भी जगह ऐसी नहीं है कि जहाँ जीवात्माएँ न हों । और जीव है तो कर्म उसे चिपके हुए हैं ही । संसार की चार गति में परिभ्रमणशील सभी जीव कर्मों से लिप्त हैं, इसलिए ही संसार कर्ममय है ।

ऐसा संसार ही सभी दुःखों का कारण है । शारीरिक एवं मानसिक तमाम दुःखों का कारण संसार है । जीवात्मा नरक में जाती है, इसलिए ही उसे परमाधामी के द्वारा और क्षेत्रजनित घोर पीड़ा का अनुभव होता है । हम नरक में नहीं हैं, अतः हमें ऐसी किसी वेदना की अनुभूति नहीं होती । वैसे ही जो जीवात्माएँ पशु–पक्षी की तिर्यंचावस्था में हैं, वे वहाँ की पीड़ा और वेदना का अनुभव करते हैं। मनुष्य को वह पीड़ा नहीं भोगनी पड़ती । वैसे तो देवलोक के देवों को भी अल्प मानसिक दुःख की संवेदना तो होती ही है । वैसे तो संसार की चार गति में से किसी भी गति में जब तक आप जीते हो तब तक शारीरिक और मानसिक दुःख रहेंगे ही । संसार में दुःखों के साथ जीना है । चार गति की गलियों में कहीं भी सुख

एवं शान्ति नहीं है । कहीं भी दुःखरहित स्थान नहीं है । जहाँ भी जाओगे वहाँ एक नहीं तो दूसरा दुःख स्वागत करने के लिए तैयार ही बैठा है । कहीं शारीरिक दुःखों की अत्यधिकता है तो कहीं मानसिक पीड़ाओं की पराकाष्ठा है । पर है तो संसार कर्ममय ही, और कर्ममय संसार ही दुःखों का असाधारण कारण है ।

संसार की चार गति में और ८४ लाख योनि में जीवात्माएँ परिभ्रमण कर रही हैं । जन्म होता है, मृत्यु होती है, एक गति में से दूसरी गति में जीव जाता है । मनुष्य मरकर पशु के रूप में जनमता है...देव के रूप में...नरक के रूप में पैदा होता है । जन्म–जीवन और मृत्यु की अंतहीन परंपरा चल रही है ।

ऐसे संसार के प्रति जब आसक्ति... ममत्व नहीं रहेगा, तब मन में प्रश्न जगेगा – 'कौन है इस भवपरंपरा का मूल कारण ? कौन भटकाता है जीवात्माओं को इस चार गतिरूप संसार में ?' उस प्रश्न का उत्तर मिलेगा – राग और द्वेष, मिथ्यात्व और अविरति... अशुभ योग और प्रमाद... ये सारे दोष जीवों को संसार में भटकानेवाले तत्त्व हैं ।

जीवात्मा को इस बात का ज्ञान नहीं है कि राग–द्वेष वगैरह करने से आत्मा के साथ कर्म बंधते हैं और कर्मों के उदय से संसार की चार गति में विविध दुःख सहने पड़ते हैं । गहन अज्ञानता छायी हुई है । यदि इस अज्ञानता के बादल को चीरा जायं और ज्ञान की तेजरेखा झिलमिला उठे; तब कहीं राग–द्वेष, मिथ्यात्व, मोह वगैरह की भयंकरता समझ में आ सकती है और तब ही इन दोषों को निर्मूल करने की प्रबल इच्छा जाग्रत हो सकती है ।

## संसार एक गहन चाल :

अपन एक भयंकर संसार–जाल में फँसे हुए हैं, यह बात जानते हो ? अपन यानी मैं और आप ही नहीं, अनन्त–अनन्त जीव फँसे हुए हैं । 'मैं अनंत कर्ममय संसार की जाल में बँधा हुआ हूँ, फँसा हुआ हूँ,' यह विचार आपको आता है क्या ? यदि आपके अन्तरंग दोष क्रोधादि शान्त हुए होंगे; इन्द्रियों की विषयानुकूल दौड़धूप जरा कम हुई होगी; निद्रा, आलस्य, विषयभोग और अर्थहीन बातों से आप थोड़े भी मुक्त बने होंगे; तभी 'संसार एक गहन जाल है' – यह विचार आपके मन में उठेगा । जाल अदृश्य है । उस जाल में जैसे स्वयं की आत्मा दिखे, वैसे अनन्त–अनन्त जीवात्माएँ भी दिखनी चाहिए । उस जाल को तहस–नहस करके मुक्त बनने की प्रबल इच्छा जगनी चाहिए । जाल को तोड़ने के

लिए जाल को पहचानना जरूरी है। वह जाल किससे बनी है ? किस तरह गूँथी हुई है ? कैसे वो गहन बनती चली जाती है ? कहाँ से उसे तोड़ा जा सकता है ?

जाल को बराबर पहचान लो। आपको स्वयं को यदि जानकारी न हो तो अन्य समझदार और जाल को पहचानने वालों का सहयोग लेना चाहिए। उनका मार्गदर्शन लेकर जाल को तोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए। कर्ममय संसार की जाल को, इसकी रचना को... विशेषताओं को समझानेवाले ज्ञानी पुरुष की शरण लेनी चाहिए और उनके मार्गदर्शन के अनुसार संसार–जाल को तोड़ने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

परंतु एक सावधानी रखना। जाल को जानने के बाद निराश नहीं बनना है, मायूस नहीं बनना है कि – 'हाय, कितनी मजबूत है यह जाल ? अपन कैसे तोड़ सकते हैं इस जाल को ? अच्छा, तो फिर इस संसार–जाल में फँसे हुए ही जीवन बितायेंगे ! और फिर खाना, पीना, पहनना, ओढ़ना, बिछाना, रहने का, घूमने का सब कुछ यहाँ भी तो मिलता है ना !' इस तरह यदि आपने जाल में जीना ही स्वीकार कर लिया तो फिर आप जाल तोड़ नहीं पायेंगे।

## वैराग्य के कुछ कारण :

संसार की असारता का, निर्गुणता का चिंतन करने को ग्रंथकार ने कहा है। चूँकि इस चिंतन से मनुष्य का मन विरक्त बनता है। विरक्त मन ताप–संताप और क्लेशों से अलिप्त रहता है। अलिप्त मन आत्मध्यान में सहजता से लीन बन सकता है और आत्मानन्द की अनुभूति कर सकता है।

'प्रशमरति' ग्रंथ में वैसे आठ कारण बताये हैं, जिनका चिंतन करने से संसार की असारता महसूस होती है। मन संसार के प्रति विरक्त–विरागी बन जाता है।

**देशकुलदेह विज्ञानायुर्बल–भोग–भूति–वैषम्यम् ।**
**दृष्ट्वा कथमिह विदुषां भव संसारे रतिर्भवति ।।**

यदि आपकी निर्मल बुद्धि है, पुनित प्रज्ञा है, तो आप इस संसार की अपार विषमताओं को समझ पाओगे। अपार–अनंत विषमताओं से खचाखच भरा हुआ है यह संसार। फिर चाहे वह देवों का संसार हो, मनुष्यों का संसार हो, पशु–पक्षी का या नारकीय जीवों का हो। संसार यानी विषमता।

मनुष्य की प्रज्ञा जहाँ पर विषमता का दर्शन करती है, वहाँ पर मनुष्यमन प्रीति

का संबंध जोड़ता नहीं है । अज्ञानता से यदि प्रीति हो भी गयी, तो वह जल्द ही टूट जायेगी । जरा सी भी देर नहीं लगती है । ज्ञानी पुरुषों ने संसार की अनेक विषमताओं का स्पष्ट दर्शन करवाया है । चाहिए निर्मल बुद्धि ! यदि आपकी बुद्धि निर्मल होगी तो आप संसार की विषमताओं का मर्मस्पर्शी दर्शन कर सकोगे और प्रीति का प्रवाह दिशा बदल देगा ।

## देश की विषमता :

१. सर्वप्रथम बतायी है देश की विषमता । समग्र विश्व के सारे देश–प्रदेश एकसमान नहीं हैं । एक देश धन–धान्य और नदी–सरोवरों से हराभरा है, सुहावना है, तो दूसरा देश दुष्काल, निर्धनता और पहाड़ों से घिरा हुआ... दुःख प्रचुर है । एक देश में शान्त, प्रसन्न, उदार और प्रेमभरी प्रजा जिन्दगी को मजे से जीती है; तो दूसरे देश में प्रजा अशान्ति, क्लेश, संकीर्णता और वैर–विरोध की धधकती आग में झुलसती है । कैसी विषमता है धरती के भिन्न–भिन्न भागों में ।

राजस्थान यदि कश्मीर को देख ले तो ? उड़ीसा की गरीबी यदि गुजरात की धनिकता को देख ले तो ? कहाँ अफ्रिका और कहाँ स्विट्झरलेंड ? कहाँ वियतनाम, कहाँ जर्मनी व कहाँ जापान ? देश–देश के बीच कितनी विषमताएँ हैं ? और जीवात्मा की पसंदगी के अनुसार मनचाहे देश में जन्म मिलता नहीं है !

जीवात्मा के शुभ–अशुभ कर्म उसे अच्छे–बुरे देश में जन्म देते हैं । आज आप चाहे अच्छे देश में हो, परंतु हमेशा अच्छे देश में ही जन्म मिलता रहे, वैसा नियम नहीं है । कभी आपका जन्म कश्मीर में हो तो कभी अफ्रिका के जंगलों में भी हो सकता है । कभी आप भारत की पवित्र धरती पर भी पैदा हो, तो कभी हिंसा और क्रूरता से भरे इजिप्त... इरान... इराक या इस्राइल में भी पैदा होना पड़े । देशों के बीच समानता नहीं है ।

## कुल की विषमता :

सभी जीवात्माओं को समान–एक से कुल में जन्म नहीं मिलता है । कोई ऊँचे कुल में पैदा होते हैं तो कोई निम्न स्तर के कुल में जन्म लेता है । कोई उच्च संभ्रान्त कुल में पैदा होकर बुरे काम करता है तो कोई नीच कुल में पैदा होकर भी उत्तम कार्य करता है । संसार की यह अपरिहार्य विषमता है । इस विषमता को न तो साम्यवाद मिटा सकता है, और न ही समाजवाद मिटा सकता है ।

जाति और कुल की विषमता देखकर, प्रज्ञावंत पुरुष को इस संसार के प्रति अनुराग पैदा नहीं हो सकता ।

## देह की विषमता :

तीसरी विषमता है देह की, शरीर की । किसी की काया सुलक्षणा होती है तो किसी की काया अपलक्षणा होती है । किसी का शरीर सुडौल और सप्रमाण व मनोहारी होता है तो किसी का शरीर बेडौल और बदसूरत होता है । क्या यह विषमता बबूल के काँटे के भाँति चूभने जैसी नहीं है ? एक मनुष्य सुन्दर, सुडौल और मनभावन लगता है, तो दूसरा मनुष्य कुरूप, बेडौल और देखने में पसंद नहीं आता है । मनुष्य–मनुष्य के बीच की विषमता क्या बुद्धिमान् मनुष्य को अकुला दे वैसी नहीं है ? यह विषमता देखकर किस पर राग करना और किस पर द्वेष करना ? विषमता के प्रति वैराग्य ही पैदा होता है ।

## विज्ञान की विषमता :

एक बुद्धिमान् पुरुष विश्व के तत्त्वों का सूक्ष्म चिंतन, मनन और पर्यालोचन करके, दुनिया को नये नये भौतिक या आध्यात्मिक आविष्कारों से आश्चर्यचकित कर देता है; तो एक व्यक्ति अज्ञान के गहन तिमिर में भटकता हुआ अपने साये को भी नहीं पहचान पाता है । एक मनुष्य अपनी स्मृति और धारणा की अपार शक्ति से हजारों ग्रन्थों को याद रख लेता है, तो दूसरा व्यक्ति अपना नाम भी भूल जाता है । जीव–जीव के बीच की यह कैसी असहनीय असमानता है ?

## आयुष्य की विषमता :

पाँचवी विषमता है आयुष्य की । एक जीवात्मा का दीर्घ आयुष्य और एक जीवात्मा का अल्पायुष्य ! एक मनुष्य सौ साल पूरे करता है, जब कि दूसरा मनुष्य माँ के पेट में ही मर जाता है । एक वृद्धावस्था में जीवन बीताता है, दूसरा जवानी में ही मौत का शिकार हो जाता है । सभी जीवों का जीवनकाल समान नहीं होता है । बुद्धिमान् के कलेजे को चीर दे वैसी इस संसार की विषमता है । फिर ऐसे संसार पर मन का प्यार कैसे बरसेगा ? जीव–जीव के बीच की जीवनकाल की असमानता का चिंतन, भववैराग्य की जननी है ।

## बल की विषमता :

यह है संसार की छट्ठी विषमता । एक मनुष्य के पास असाधारण शरीर–शक्ति होती है, तो दूसरा मनुष्य अपने शरीर का बोझ भी उठा नहीं सकता ।

एक मनुष्य सैकड़ों, हजारों शत्रुओं का डटकर सामना कर सकता है, जब कि दूसरा मनुष्य, एकाध दुश्मन को भी जीत नहीं सकता है !

मनुष्य–मनुष्य के बीच बल–ताकात की असमानता तो है ही, देव और मनुष्य, मनुष्य और जानवर, जानवर और नारक... चार गति के जीवों के बल में भी काफी विषमता है। जीवों की शारीरिक शक्ति समान नहीं होती है। यह असमानता बुद्धिमान् पुरुष के लिए वैराग्य का कारण बनती है।

## भोग की विषमता :

संसार की सातवी विषमता है भोगों की। जैसे कि दो व्यक्ति के पास पाँचों इन्द्रियों के विषयसुख एकसमान हैं, पर दोनों उन सुखों को समान ढंग से भोग नहीं सकते। एक मनुष्य उन सुखों को थके बिना भोगता ही रहता है, जब कि दूसरा मनुष्य कुछ सुख भोगे न भोगे और थक जाता है। इच्छा होने पर भी और सामने मनपसंद भोजन है, फिर भी खा नहीं सकता। सामने स्वर्ग का रूप और यौवन होने पर भी उसे न तो वह देख सकता है, न ही वह उसका स्पर्श कर सकता है। सुखोपभोग में भी कितनी विषमता होती है ? वैसे भोगसुखों को प्राप्त करने में भी विषमता होती है ! एक मनुष्य के पास विपुल भोगसामग्री होती है, तो दूसरे के पास थोड़ी सी भी सुखसामग्री नहीं होती है। इस तरह का वैषम्यदर्शन आत्मा के वैराग्य को उजागर कर देता है।

## वैभव की विषमता :

आठवी विषमता है वैभव–संपत्ति की। एक मनुष्य के पास हीरे–मोती, सोना–चाँदी और बाग–बगीचों का पार नहीं है। दूसरे मनुष्य के पास खाने के लिए दो जून रोटी भी नहीं है और सोने के लिए दो गज जमीन भी नहीं है। एक मनुष्य मखमली गद्दियों के ऊपर पसरता है तो दूसरे के पास बिछाने के लिए टूटी–फूटी कंथा भी नहीं है। एक के पास भव्य महल है तो दूसरे के पास झोंपड़ी भी नहीं है। एक के पास पहनने के लिए सुंदर कीमती कपड़ों के ढेर हैं, तो दूसरे के पास तन ढँकने जितना कपड़े का टुकड़ा भी नहीं है। यह है आदमी–आदमी के बीच की मनहूस विषमता।

विद्वानों को, बुद्धिमानों को भला, ऐसे संसार पर राग कैसे होगा ? अनुराग कैसे पैदा होगा ? प्रज्ञावंत पुरुषों के दिल में तो संसार के प्रति तीव्र उद्विग्नता उभरती होती है। संसार की आसक्ति के बंधन टूट जाते हैं। धर्मानुष्ठानों में

उनका अन्तःकरण लीन बना रहता है । विषमता में मन स्थिर नहीं होता है । जहाँ कोई विषमता नहीं है, ऐसे अनन्त सिद्ध भगवंतों के मोक्ष में ही मन लगता है विद्वानों का, प्राज्ञ पुरुषों का ।

## संसार में दुःख के तीन कारण :

संसार में जन्म–जीवन और मृत्यु की अविरत यात्रा करते हुए जीवात्माओं की वास्तविक स्थिति का अवलोकन करते हुए भगवान उमास्वातीजी ने कहा है :

– **अपरिगणितगुणदोषः,**

– **पंचेन्द्रियबलविकलो,**

– **रागद्वेषोदयनिबद्धः ।**

संसार में भटकता जीवात्मा – (१) गुण–दोष का विचार नहीं कर सकता है । (२) पाँचों इंद्रियों की शक्ति से उन्मत्त होता है और (३) रागद्वेष के उदय से घिरा हुआ होता है । इन तीन कारणों से जीव स्वयं दुःखी होता है, साथ साथ दूसरों को भी दुःख देता है ।

दुनिया में कैसे कैसे मनुष्यों के साथ जिन्दगी बितानी पड़ती है ? अधिकांश मनुष्य गुणदोष का विचार कर ही नहीं सकते हैं । क्या हितकारी है, क्या अहितकारी है, उसे परख नहीं सकते हैं । हितकारी को अहितकारी समझकर, हितकारी का तिरस्कार करते हैं और अहितकारी का स्वीकार कर लेते हैं । उपकारी को अनुपकारी मानकर उनका त्याग कर देते हैं और अनुपकारी का आदर करते हैं । परिणाम कितना करुण आता है, जानते हो ? वे स्वयं दुःखी होते हैं और दूसरों को भी दुःखी करते हैं ।

वैसे ही, पाँचों इन्द्रियों की शक्ति का वैषयिक सुखों के भोग–उपभोग में अत्यंत व्यय करके शक्तिविहीन बने हुए जीव कैसे दीन–हीन और परवश बन जाते हैं, यह दुनिया में क्या देखने नहीं मिलता है ? उनको कौन समझाये ? इन्द्रियों की उन्मत्तता जीवात्मा की समझशक्ति को नष्ट कर देती है । विषयरस में लीन बनी इन्द्रियाँ प्रतिपल जीवात्मा के भावप्राणों को रौंद डालती है । अनेकविध वैषयिक सुखों के भोगोपभोग में सशक्त इन्द्रियाँ आत्मा की पवित्रता को तहस–नहस कर देती हैं । ऐसे जीवात्माओं से भरे इस संसार पर क्या अनुराग करना ? गंभीरता से सोचना ।

तीसरी बात है राग–द्वेष के मचाये हुए हाहाकार की। राग और द्वेष की दर्दनाक चीखों से यह संसार कितना डरावना लगता है ? हर एक जीवात्मा राग–द्वेष की लोह–जंजीरों में जकड़ा हुआ है। कोई एक पल भी ऐसी नहीं बीतती है कि जो क्षण राग से रंगी न हो और द्वेष से दहकती न हो।

रागी स्वयं दुःखी होता है और दूसरों को दुःखी करता है। द्वेषी स्वयं अशांत बनता है और दूसरों की शान्ति भंग करता रहता है। संसार में यह सब सहज है। यदि स्वस्थ मन से संसार का अवलोकन किया जायं तो यह सत्य मिल सकता है। सत्य समझ में आ जाने पर संसार की आसक्ति नहीं रहेगी।

परंतु अज्ञानी जीवात्मा राग में सुख की कल्पना करते हैं। उनकी यह कल्पना कच्ची मिट्टी के महल की भाँति टूट गिरती है। वे दुःख के दावानल में सुलगते हैं। संसार की यह वास्तविकता है। विवेकशून्य, विचारशून्य और वैराग्यशून्य जीवात्मा स्वयं दुःख–त्रास और वेदना का शिकार बन जाता है, और उनके परिचय में आनेवाले जीव भी उसी तरह दुःख–त्रास से घिर जाते हैं। पागल कुत्ते की तरह दनदनाते ये राग–द्वेष आत्मा को काट–काटकर खून से तरबतर कर देते हैं। बेहोश ज़ीव को शायद आज उस वेदना की अनुभूति न भी हो, पर जब इन्द्रियों का उन्माद उतर जाता है, इन्द्रियाँ शक्तिविहीन बनती हैं, कुछ विवेक की निगाहें खुलती हैं, तब वे वेदनाएँ, वह जलन जीवात्मा को घोर पीड़ा देती है।

संसार में इन तीन बातों की बोलबाला है। समग्र जीवसृष्टि के ऊपर ये तीन बातें छायी हुई हैं – अविवेक, उन्मत्तता और रागान्धता। ऐसे संसार के प्रति राग हो ही कैसे सकता है ? ऐसे संसार में आसक्ति होगी ही कैसे ? ऊपर से मीठा, सुंदर और सुहावना लगता संसार, भीतर से कडुआ, कुरूप व डरावना है। अविवेक उसकी कटुता है, उन्मत्तता उसकी कुरूपता है और रागान्धता उसकी डरावनी सूरत है।

जिस प्रज्ञावंत पुरुष को संसार की इस डरावनी वास्तविकता का ज्ञान होगा उसे सहजता से वैराग्य पैदा होगा ही। उसकी आत्मा के प्रदेश–प्रदेश पर वैराग्य के रत्नदीप जलेंगे ही। उसके रोंये–रोंये में वैराग्य के फूल खिलेंगे ही। वैराग्यरस के कटोरे भर–भरकर पीने के लिए, संसार की इन तीन बातों का त्याग करना ही होगा।

## वैराग्य मार्ग पर विजय पाना है :

भव–संसार की निर्गुणता का, असारता का चिंतन कर, वैराग्य मार्ग पर विजय पाना है। वैसे यह काम सरल नहीं है। आप लोगों के लिए तो सरल नहीं है, हम साधु–साध्वी के लिए भी सरल नहीं है। कारण कि चार शत्रु इस मार्ग में बड़े अवरोधक हैं –

(१) इन्द्रियों की परवशता,

(२) कषायों की उद्विग्नता,

(३) गारवों की रसिकता, एवं

(४) परिसह सहने की कायरता।

वैराग्यभाव पर विजय पाना यानी आत्मा के हर प्रदेश में वैराग्यभाव को स्थापित करना बहुत मुश्किल है। बड़ा कठिन कार्य है। इन्द्रियों को जीतने के लिए चलते हैं तो कषाय प्रबल हो जाते हैं, और कषायों को कुचलते हैं तो गारव गला पकड़ लेते हैं। तीन गारवों के साथ मुकाबला करते हैं तो परिसह घेर लेते हैं। कितनी करुणा छा गयी है साधक जीवन में ? इन्द्रियों की स्वच्छंदता, कषायों की प्रबलता, गारवों की लोलुपता और परिसह सहने की कायरता इतनी तो दृढ़ हुई है कि इसके कारण वैराग्य की भावना स्थिर रहती ही नहीं।

– पाँचों इन्द्रियों के अनेक प्रिय–अप्रिय विषयों के संपर्क में आना पड़ता ही है ! उस समय राग–द्वेष में न बहते हुए मन को स्वस्थ और विरक्त बनाये रखना, कितना कठिन है, यह आप लोग जानते हो ?

– कदम कदम पर क्रोध हो जाता है, अभिमान पीड़ा देता रहता है, माया सताती है और लोभदशा मजबूत है ! कषायों के सहारे ही जैसे जीवन जी रहे हैं ! इस विषय में आत्मचिंतन करना होगा। तभी मालुम होगा कि हमारे पर कषायों का कैसा प्रभुत्व है। ऐसी स्थिति में वैराग्यभाव कैसे टिक सकता है ?

– रसगारव, ऋद्धिगारव और शातागारव के गहरे कीचड़ में फँसते ही जा रहे हो न ? रस को लेकर कितने प्रबल राग–द्वेष होते हैं ? जानते हो न ? ऋद्धि यानी मान–सम्मान ! मान–सम्मान पाने की कैसी वासना है ? ऐसी मनोदशा में वैराग्य जीवन कैसे रहेगा ? शाता–गारव यानी सुखाकारिता। कोई भी प्रतिकूलता सहनी नहीं है, सुख से जीना है ! फिर वैराग्यभावना बढ़ेगी कैसे ? राग–द्वेष ही बढ़ेंगे न !

– और आपको एवं हम लोगों को परिसह सहने हैं क्या ? २२ परिसहों में से एक भी परिसह सहना है क्या ? परिसहों को तो अपन दुश्मन मान बैठे हैं। फिर वैराग्य की अपूर्व मस्ती आयेगी कहाँ से ?

संसार के प्रति वैराग्यभाव जगाने के लिए और जगा हुआ वैराग्यभाव टिकाने के लिए ये चार काम करने ही पड़ेंगे –

(१) इन्द्रियों का दमन,

(२) कषायों का शमन,

(३) गारवों का त्याग और

(४) परिसहों का स्वीकार ।

संसार की असारता का चिंतन अभी भी आगे करना है ।

आज बस, इतना ही ।

★ ★ ★

# प्रवचन : ७५

परम उपकारी, परम कृपानिधि आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में श्रावक जीवन के विषय में सर्वांगीण मार्गदर्शन दिया है। बाह्य एवं आन्तरिक जीवन कैसा होना चाहिए, द्रव्यात्मक और भावात्मक धर्मआराधना कैसी होनी चाहिए, इस विषय में रोचक बातें लिखी हैं। इसमें विशेष रूप से, श्रावक की आन्तरिक... मानसिक... आध्यात्मिक स्थिति के विषय में उन्होंने अद्‌भुत बातें बतायी हैं। श्रावक गृहस्थ होता है, बाह्य व्यावहारिक जीवन में आरंभ-समारंभ एवं अनेक पापस्थानकों का आचरण होता है, परंतु उसकी आन्तरिक स्थिति विशिष्ट गुणों से कितनी भव्य होती है, आन्तरिक विकास कितना अच्छा होता है – ये बातें ग्रन्थकार ने बहुत स्पष्टता से कही है।

## संसार की निःसारता का चिन्तन करें :

रात्रि के समय, जब संसार-व्यवहार का कोई कार्य शेष न हो तब निरव शान्ति की क्षणों में श्रावक संसार की, भवस्थिति की असारता का चिंतन करें। करते हो न आप लोग ?

**सभा में से** : हमारी मानसिक दुनिया में ऐसे विचार आते ही नहीं !

**महाराजश्री** : 'ऐसे विचार करने चाहिए,' ऐसा ज्ञान नहीं था, तब तक वैसा चिंतन नहीं कर पाये, अब तो ज्ञान मिला है न ? अब ऐसा चिंतन करना। इसका प्रत्यक्ष लाभ तो यह होगा कि आपकी सारी चिन्ताएँ शान्त हो जायेगी। आर्तध्यान से बच जाओगे, 'धर्मध्यान' करने का अवसर मिलेगा। आन्तरिक विशुद्धि होती जायेगी। दूसरे फालतू विचारों से मुक्ति मिलेगी ! ऐसे अनेक लाभ हैं।

संसार की निःसारता का चिंतन भिन्न-भिन्न दृष्टिबिंदुओं से करना है।

## संसार 'समुद्र' है :

आज संसार का 'समुद्र' के रूप में चिंतन करना है। अनेक ज्ञानी पुरुषों ने, अध्यात्म मार्ग के चिंतकों ने संसार को 'समुद्र' की उपमा दी है। 'संसार समुद्र है, संसार सागर है, संसार महोदधि है...' इस प्रकार अनेक ज्ञानी पुरुषों ने लिखा है। परंतु संसार को क्यों समुद्र की उपमा दी गई है – संसार और सागर में किस-किस प्रकार की समानता है – यह बात उपाध्यायश्री यशोविजयजी ने 'ज्ञानसार' नाम के ग्रंथ में बतायी है। बड़े रोचक ढंग से लिखी है।

यस्य गंभीर मध्यस्याज्ञानवज्रमयं तलम् ।
रुद्ध व्यसन शैलोघैः पन्थानो यत्र दुर्गमाः ॥
पातालकलशा यत्र भृतास्तृष्णा महानिलैः ।
कषायाश्चित संकल्प वेलावृद्धिं वितन्वते ॥
स्मरौर्वाग्निर्ज्वलत्यन्तर्यत्र स्नेहेन्धनः सदा ।
चो घोर रोग शोकादि मत्स्यकच्छप संकुलः ॥
दुर्बुद्धिमत्सरद्रोहै र्विद्युत्–दुर्वातगर्जितैः ।
यत्र सांयात्रिका लोका पतन्त्युपात संकटे ॥
ज्ञानी तस्माद् भवांभोधेर्नित्योद्विग्नोऽतिदारुणात् ।
तस्य संतरणोपायं सर्वयत्नेन कांक्षति ॥

(भवोद्वेग–अष्टक)

संसार को समुद्र क्यों कहा गया है, उसकी तेरह प्रकार की समानता यहाँ बतायी गई हैं । पहले १३ समानताओं का लिस्ट सुन लो, बाद में एक–एक समानता का विवेचन करूँगा ।

१. संसार–समुद्र का मध्यभाग अगाध है ।

२. संसार–समुद्र की सतह अज्ञान–वज्र की बनी हुई है ।

३. संसार–समुद्र में संकटों के पहाड़ है ।

४. संसार–समुद्र का मार्ग विकट–विषम है ।

५. संसार–समुद्र में विषयाभिलाषा की प्रचंड वायु बह रही है ।

६. संसार–समुद्र में क्रोधादि कषायों के पाताल–कलश है ।

७. संसाइ–समुद्र में विकल्पों का ज्वार आता है ।

८. संसार–समुद्र में रागयुक्त ईन्धन से युक्त कंदर्प का दावानल प्रज्वलित है ।

९. संसार–समुद्र में रोग के मत्स्य और शोक के कछूए स्वच्छंद विहार कर रहे हैं ।

१०. संसार–समुद्र पर दुर्बुद्धि की बिजली रह–रहकर कौंधती है ।

११. संसार–समुद्र पर माया–मत्सर का भीषण तूफान गहरा रहा है ।

१२. संसार–समुद्र में द्रोह का भयंकर गर्जन हो रहा है ।

१३. संसार–समुद्र में नाविकों पर संकट के पहाड़ टूट पड़े हैं।

इस दृष्टि से संसार सर्वथा दारुण है और विषमताओं से भरा पड़ा है। अब एक–एक बात विस्तार से समझाता हूँ। चित्त एकाग्र कर सुनना और समझना।

'वाकई, संसार एक तूफानी सागर है,' इस विचार को हमें अपने हृदय में भावित करना है और तदनुसार जीवन का भावी कार्यक्रम निश्चित करना है। सागर में रहा हुआ प्रवासी, उसे पार करने के नानाविध प्रयत्न करता है, न कि उसमें सैर–सपाटा अथवा दिल–बहलाव का प्रयत्न करता है। उसमें भी यदि सागर तूफानी हो, तो पार करने की उसे हमेशा जल्दी रहती है। इसलिए हमें यह संकल्प दृढ़–दृढ़तर बनाना चाहिए कि 'मुझे संसार–समुद्र पार करना ही है।'

**१. मध्य भाग :** समुद्र का मध्य भाग (बीचोंबीच) अगाध होता है, यानी उसकी सतह खोजे भी नहीं मिलती। संसार का मध्य भाग यानी मनुष्य की युवावस्था, यौवनकाल। मनुष्य की यह अवस्था वाकई अगाध होती है, जिसका ओर–छोर पाना मुश्किल होता है। उसकी युवावस्था की अगाधता को सूर्य–किरण भी भेदने में असमर्थ है। अच्छे–खासे तैराक भी समुद्र की अतल गहराई में खो जाते हैं, जिनका अता–पता नहीं लगता। मनुष्य का यौवनकाल अगाध है।

**२. तलभाग :** संसार–समुद्र का तलभाग किसी मिट्टी, पत्थर अथवा कीचड़ का बना हुआ नहीं है, बल्कि वज्र का बना हुआ है। जीव की अज्ञानता वज्र से कम नहीं। यह सारा संसार अज्ञानता की तह पर टिका हुआ है। मतलब, संसार का मूल अज्ञानता ही है।

**३. पर्वतमालाएँ :** समुद्र में स्थान–स्थान पर छोटे–बड़े पर्वत होते हैं। कहीं पर पूर्णरूप से तो कहीं पर आधे पानी में डूबे रहते हैं। नाविकदल हमेशा इन समद्री टीलों और चट्टानों से सावधान रहता है। जब कि संसार–समुद्र में तो ऐसी पर्वतमालाएँ सर्वत्र बिखरी पड़ी है। जानते हो ये पर्वत कौन–से हैं? संकट, आपत्ति–विपत्ति, आधि–व्याधि, दुःख, अशान्ति... ये सब सांसारिक पर्वत ही तो हैं। एक–दो नहीं, बल्कि पूरी पर्वतमाला है। अरावली की पर्वतमालाएँ आपने देखी है क्या? सह्यादि की पर्वत–श्रृंखलाओं के कभी दर्शन किये हैं? इनसे भी ये पर्वतमालाएँ अधिकाधिक दुर्गम और विकट हैं। ये संसार–सागर में फैली हुई हैं। कहीं–कहीं वे पूरी तरह पानी के नीचे है, जो सीधे–सादे नाविक के ध्यान में कभी नहीं आती। यदि इनसे आपकी जीवन–नैया टकरा जाए तो चकनाचूर होते एक क्षण का भी विलंब नहीं होगा। इसलिए सावधानी से जीवन–नैया को चलाना है।

**४. मार्ग :** ऐसे संसार–समुद्र में मार्ग क्या सरल होता है ? नहीं, ऐसे उबड़–खाबड़ दुर्गम मार्ग पर चलते हुए कितनी सावधानी बरतनी पड़ेगी, कितनी समझदारी और संतुलित वृत्ति का अवलंबन करना पड़ेगा ? हमारी तनिक लापरवाही, चंचलता, निद्रा, आलस्य, अथवा विनोद, सर्वनाश करते देर नहीं करेंगे। ऐसे विकट मार्ग में किसी अनुभवी परिपक्व मार्गदर्शक की शरण ही लेनी होगी। उसका अनुसरण करना होगा। सुयोग्य सुकानी के नेतृत्व पर विश्वास करना ही होगा। तभी हम सहीसलामत अपनी मंजिल तक पहुँच पायेंगे।

**५. प्रचंड वायु :** तृष्णा, पाँचों इन्द्रियों के विषयों की कामना की प्रचंड वायु महासागर में पूरी शक्ति के साथ तांडवनृत्य कर रही है। कितनी तृष्णा ? उसकी भी कोई हद होती है। मारे तृष्णा के जीव इधर–उधर निरुद्देश्य भटक रहा है। विषयसुख की लालसा के वशीभूत हो जीव कैसा घिर गया है ? जानते हो, यह प्रचंड वायु कहाँ से पैदा होती है ? पाताल–कलशों से ! वही उसका उद्‌गम स्थान है।

**६. पाताल–कलश :** संसार–सागर में चार प्रकार के पाताल–कलश विद्यमान है : क्रोध, मान, माया और लोभ। इनमें से प्रचंड वायु उत्पन्न होती है और सागर में तूफान पैदा करती है।

**७. ज्वारभाटा :** मन के विभिन्न विकल्पों का ज्वारभाटा संसार–सागर में आता रहता है। कषायों में से विषयतृष्णा जागृत होती है और विषयतृष्णा में से मानसिक विकल्प पैदा होते हैं। जानते हो, मानसिक विकल्पों का ज्वार कितना जबरदस्त होता है ? पूरे समुद्र में तूफान आ जाता है। पानी की तरंगें किनारे को तोड़ती हुई भयानक दैत्य सा रूप धारण कर लेती है ! आम तौर पर समुद्र में पूर्णिमा की रात्रि को ही ज्वार आता है, लेकिन संसार–सागर में तो निरंतर ज्वार आता रहता है। क्या तुमने कभी ज्वार के समय तूफानी स्वरूप धारण करते सागर को निकट से देखा है ? शायद नहीं देखा हो। लेकिन अब मानसिक विकल्पों के ज्वार को अवश्य देखना। उसे देखते ही आप घबराहट से भर जाओगे।

**८. वडवानल :** कंदर्प का दारुण वडवानल संसार–समुद्र में भभक रहा है। कंदर्प के इस वडवानल में संसार–समुद्र का कौन–सा प्रवासी फँसा नहीं है ? इस संसार में कौन माई का लाल है जो इस कंदर्प के वडवानल की उग्र ज्वालाओं से बच पाया है ? उसमें राग का ईन्धन डाला जाता है। राग के ईन्धन से वडवानल सदासर्वदा प्रज्वलित रहता है।

वाकई, कंदर्प का वडवानल आश्चर्यजनक है। वडवानल में जीव निर्भय बनकर कूद पड़ता है। भड़कते वडवानल के बावजूद वे उसमें से निकलने का नाम नहीं लेते! बल्कि राग का ईन्धन डाल-डालकर उसे निरन्तर प्रदीप्त रखते हैं।

कंदर्प यानी काम-वासना, भोग-संभोग की तीव्र लालसा। नर नारी के संभोग की वासना में जलता रहता है, और नारी नर के संभोग में जलती है। जब कि नपुंसक, नर व नारी दोनों के संभोग की वासना में जलता है। वास्तव में देखा जायं तो संसार-सागर में कन्दर्परूप वडवानल भयंकर, भीषण और सर्वभक्षी है। सामान्यतः संसार-सागर के सारे प्रवासी इस वडवानल में फँसे नजर आते हैं, जब कि कुछ लोग उसकी ओर लपकते दिखायी देते हैं।

**मत्स्य और कच्छप :** संसार-समुद्र में बड़े-बड़े मगरमच्छ और मछलियाँ भी हैं। छोटे-बड़े साध्य-असाध्य रोगों के मच्छ भी मुसाफिरों के लिए आफतरूप बने रहते हैं। उन्हें हेरान-परेशान करते हैं। एकाध मगरमच्छ का खाद्य बनता दिखायी देता है, तो कोई इन मछलियों कि गिरफ्त में फँसा नजर आता है। रोगरूपी मच्छों से प्रवासी लोग सदैव भयभीत होते हैं।

ठीक उसी तरह शोक-कछुओं की भी इस संसार-सागर में कमी नहीं है। जो प्रवासियों को कम हेरान-परेशान नहीं करते।

**चंचला :** चंचला यानी बिजली। आकाश की ओर देखेंगे तो रह-रहकर बिजली कौंधती नजर आती है। उसकी चमक-दमक इन आँखों से देखी न जाए, ऐसी चकाचौंध करनेवाली अजीबों-गरीब होती है। कभी-कभार वह हमें छूते हुए विद्युतवेग से निकल जाती है। दुर्बुद्धि ही बिजली है, चंचला है। हिंसामयी बुद्धि, झूठ-चोरी की बुद्धि, दुराचार-व्यभिचार की बुद्धि, माया-मोह की बुद्धि और राग-द्वेष की बुद्धि! इस बिजली की चमक-दमक में जीव चकाचौंध हो जाता है।

**तूफान :** मत्सर की आँधी कितने जोर-शोर से जीवों को अपनी चपेट में ले लेती है? गुणवान व्यक्ति के प्रति रोष को मत्सर कहते हैं। संसार-सागर में ऐसा तूफान, ऐसी आँधी आती रहती है। क्या आपने इस मत्सर का तूफान नहीं देखा कभी? आप लोगों को तो शायद मत्सर की आदत पड़ गई है। इसलिए आप उस आँधी की भयंकरता, भीषणता को समझ नहीं पाओगे। लेकिन गुणवान व्यक्ति के प्रति आपके मन में रोष की भावना क्या पैदा नहीं होती है?

ऐसे समय में आपके मन में कैसा तूफान पैदा होता है ? जो इस तूफान में फँस गया उसकी गुण–संपदा नष्ट होते देर नहीं लगती । वह गुण–संपदा से दूर–सुदूर निकल जाता है ।

**गर्जन–तर्जन :** द्रोह–विद्रोह का गर्जन–तर्जन संसार–समुद्र में निरन्तर सुनायी देता है । पिता पुत्र का द्रोह करता है, तो पुत्र पिता का द्रोह करता है । प्रजा राजा का द्रोह करती है, तो राजा प्रजा का द्रोह करता है । पत्नी पति का द्रोह करती नजर आती है, तो पति पत्नी का द्रोह करता दृष्टिगोचर होता है । कभी शिष्य गुरु का द्रोह करता नजर आता है... तो गुरु शिष्य का द्रोह करता है । जहाँ देखो, वहाँ द्रोह की यह परंपरारूप गर्जन–तर्जन अबाधित रूप से चल रहा है । अविश्वास और शंका–कुशंका के वातावरण में संसार–समुद्र के प्रवासी का दम घुट रहा है ।

**मुसाफिर :** संसार–सागर में असंख्य जीव.... अनंत जीव विद्यमान हैं । लेकिन महासागर के सीने पर लहराती नौकाओं में प्रवास करनेवाला एक मात्र प्राणी मनुष्य है । ये मनुष्य, संसार–सागर का प्रवास करते हुए बुरी परिस्थिति के फंदे में फँस जाते हैं और परिणाम स्वरूप जाने–अनजाने घोर संकट में पड़ जाते हैं । उनमें से बड़ी संख्या में तो पर्वतमालाओं से टकराकर समुद्र की अतल–अनन्त गहराई में खो जाते हैं । बचे–खुचे लोग सफर जारी रखते हुए, मध्य भाग में प्रज्वलित वडवानल में गिरकर मर जाते हैं । कुछ तो आकाश में सतत कौंधती बिजली के गिरने से खत्म हो जाते हैं । कई तूफान की विभीषिका में अपना सर्वस्व खो बैठते हैं । शेष रहे थोड़े मुसाफिर, जिन्हें भवसागर का यथार्थ ज्ञान है और जो ज्ञानसमृद्ध, धीर–गंभीर महापुरुषों का अनुसरण करते हैं, वे बच पाते हैं । भवसागर को पार करने में सफल हो जाते हैं ।

ज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में यह संसार–सागर अनन्त विषमताओं से भरा हुआ अत्यंत दारुण है । जो ज्ञानी है, विरक्त है, वे पुरुष संसार के किसी भी सुख के प्रति आकर्षित नहीं होते । ललचाते नहीं है । उनका सदा–सर्वदा सिर्फ एक ही लक्ष्य होता है – 'कब इस भवसागर से पार उतरूँ ?' उनके सारे प्रयत्न भवसागर से पार उतरने के लिए होते हैं । मुक्ति के लिए होते हैं । मन–वचन–काया से वे भवसागर के उस पार जाने के लिए प्रयत्नशील होते हैं ।

अब आप लोग आत्मचिंतन करें । आपको सोचना चाहिए कि यह भवसागर हमारे ठहरने के लिए योग्य है क्या ? हमें इस सागर में स्थिर होना चाहिए क्या ?

कहीं भी कोई सुगम पथ है क्या ? कहीं निर्भयता है क्या ? अशांतिरहित असीम सुख है क्या ? नहीं है । जो है वह सिर्फ मृगजल है । तो फिर इस संसार में स्थिर होने का सवाल ही कहाँ उठता है ? जहाँ स्वस्थता नहीं, शान्ति नहीं, सुख नहीं और निर्भयता नहीं, वहाँ रहने की कल्पना से ही हृदय काँप उठता है । जब देश का विभाजन हुआ और भारत व पाकिस्तान दो राष्ट्र बने, तब पाकिस्तान में हिन्दु परिवारों की कैसी स्थिति थी ? उनका जीवन कैसा था ? वहाँ से लाखों हिन्दु परिवार हिजरत कर भारत चले आये । जान हथेली पर रखकर... सुख-शान्ति और संपदा गँवाकर । क्योंकि उन्हें वहाँ अपनी सुरक्षा, निर्भयता और सलामती का विश्वास न रहा ।

इसी तरह जब भवसागर से हिजरत करने की इच्छा पैदा हो जायं, तब माया-ममता के बंधन टूटते एक क्षण भी नहीं लगेगा । इसलिए यहाँ भवसागर की भीषणता का यथार्थ वर्णन किया गया है । शान्ति से अकेले में इस पर चिंतन करना । एकाग्र बनकर प्रतिदिन इस पर विचार करना । जब तुम्हारी आत्मा, भवसागर की भयानकता और विषमता से भयभीत हो उठेगी तब उसे पार करने की तीव्र लालसा जाग पड़ेगी । आप मन-वचन-काया से पार होने के लिए तैयार हो जाओगे ।

## भव का भय लगना चाहिए :

**सभा में से** : प्रवचन सुनते समय तो भव का भय लग जाता है, परंतु यह भय सदैव नहीं रहता... मन स्थिर नहीं रहता ।

**महाराजश्री** : जहाँ भय लगता है वहाँ मन स्थिर बनता ही है । भवसागर का भय लगेगा... मन स्थिरता से, उस भवसागर को पार करने के उपाय करेगा ही ।

किसी एक नगर का एक प्रसिद्ध और धनाढ्य नागरिक था । उसकी यह दृढ़ मान्यता थी कि लाख प्रयत्न करने पर भी मन नियंत्रित-स्थिर नहीं रहता है । वह मन की अस्थिरता का व चंचलता का सर्वत्र डंका पीटता रहता था । अपनी मान्यता से विपरीत मंतव्य रखनेवाले के साथ वाद-विवाद करता रहता । वह मुनियों के साथ भी चर्चा करता । न किसी की सुनता, न ही समझने की कोशिश करता । मन की स्थिरता को मानने के लिए वह कतई तैयार नहीं था ।

नगर में वायुवेग से यह बात फैल गई । राजा ने भी यह बात सुनी । राजा स्वयं दर्शनशास्त्र का ज्ञाता था, विद्वान् था । मन को स्थिर करने की विद्या वह

जानता था। उसने मन ही मन उस प्रसिद्ध नागरिक को सबक सिखाने का निर्णय लिया।

एक दिन वह नागरिक राजा की जाल में फँस गया। राजा ने उसको फाँसी की सजा सुना दी। सुनते ही उसका एडी का पसीना चोटी तक आ गया। वह आकुल-व्याकुल हो उठा। फाँसी के नाम से ही वह काँप उठा। वह राजा के आगे गिड़गिड़ाने लगा और फाँसी की सजा माफ करने की विनती करने लगा।

राजा ने कहा : अपराधी को दंड देना राजा का कर्तव्य है।

नागरिक ने कहा : प्रभो, जो दंड देता है वह क्षमा भी कर सकता है।

राजा ने कुछ सोचते हुए कहा : एक शर्त पर तुम्हें क्षमा दी जा सकती है।

नागरिक बोला : एक नहीं, मुझे आपकी सौ शर्तें मंजूर हैं, लेकिन फाँसी मत दो...।

राजा ने कहा : तेल से लबालब भरा पात्र हाथ में लिये नगर की हाट-हवेली और बाजारों की प्रदक्षिणा करते हुए राजमहल में सकुशल पहुँचना होगा। यदि मार्ग में कहीं तेल की एक बूंद भी गिर गयी, अथवा तेलपात्र तनिक भी छलक गया तो मृत्युदंड से तुम्हें कोई बचा नहीं पाएगा। बोलो, स्वीकार है यह शर्त ?

नागरिक ने शर्त का स्वीकार कर लिया। राजसभा समाप्त होने पर वह नागरिक अपने घर गया। उसके साथ राज-कर्मचारी भी गये। इधर राजा ने हाट-हवेलियाँ और बाजारों को सजाने का आदेश दिया। निर्धारित मार्ग पर सुंदरियों को तैनात कर दिया। कलाकारों को अपनी कला को राजमार्ग के किनारों पर प्रदर्शन करने की आज्ञा दे दी। सारे नगर का नज़ारा ही बदल गया।

निर्धारित समय पर वह नागरिक तेल से लबालब भरा हुआ पात्र लेकर अपने आवास से निकला। राज-कर्मचारी उसके साथ चलने लगे। वह हाट-हवेली और बाजार से गुजरता है, लेकिन उसका सारा ध्यान तेलपात्र के अतिरिक्त कहीं पर जाता नहीं है। दुकानों की सजावट उसका ध्यानाकर्षण नहीं करती। नाटक वगैरह कलाएँ उसके मन को ललचाती नहीं है। सुंदरियों का देहलालित्य और नेत्रकटाक्ष उसे कतई विचलित नहीं कर पाते। उसकी दृष्टि केवल अपने तेलपात्र पर ही है। इस तरह व सकुशल राजमहल पहुँचता है। महाराजा को विनीत भाव से प्रणाम कर वह नतमस्तक खड़ा रहता है।

राजा ने पूछा : तेल की एक भी बूंद कहीं गिरी नहीं न ?

नागरिक बोला : जी नहीं ।

राजा ने कहा : लेकिन यह कैसे संभव है ? सरासर असंभव बात है । मन चंचल है, वह इधर-उधर देखे बिना रह ही नहीं सकता और इधर-उधर देखने पर तेलपात्र छलके बिना रहता नहीं ।

'महाराजा, मैं सच कहता हूँ । मेरा मन सिवाय तेलपात्र के कहीं नहीं गया । दूसरा कोई विचार दिमाग में आया ही नहीं ।'

राजा ने पूछा : क्या मन किसी एक वस्तु में एकाग्र बन सकता है ?

नागरिक बोला : क्यों नहीं ? यह बात शत-प्रतिशत संभव है । मेरे सिर पर जब साक्षात् मृत्यु झूल रही थी, तब भला, मन एकाग्र क्यों नहीं होगा ?

तब फिर जो साधक निरंतर संसारभय से, मृत्युभय से आक्रान्त होता है, उसका मन आत्मसाधना में स्थिर हो सकता है या नहीं ?

वह नागरिक मन की स्थिरता को मानने लगा ।

अनन्त जन्म-मृत्यु के भय से साधक अपनी साधना में निरंतर एकाग्रचित्त बन सकता है । उसे निःसार संसार का भय लगना चाहिए ।

## संसार-समुद्र की दूसरी उपमा :

जिस प्रकार 'ज्ञानसार' में उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने संसार को समुद्र की उपमा देकर, संसार की निःसारता बतायी है, वैसे 'अध्यात्मसार' ग्रंथ में भी उन्होंने संसार को समुद्र बताकर संसार की भयानकता बतायी है । एक ही श्लोक में (भवस्वरूपाधिकार) उन्होंने सारी बातें कह दी हैं । बहुत ही हृदयस्पर्शी शब्दों में उन्होंने भव-समुद्र का वर्णन किया है । आप श्लोक सुने :

इतः कामौर्वाग्निर्ज्वलति परितो दुःसह इतः,
पतन्ति ग्रावाणो विषयगिरिकूटाद्विघटिता ।
इतः क्रोधावर्तो विकृतितटिनी संगम कृतः,
समुद्रे संसारे तदिह न भयं कस्य भवति ॥

पहले संक्षेप में इसका अर्थ बता देता हूँ । उपाध्यायश्री महाराज कहते हैं कि ऐसे संसार-समुद्र में किसको भय नहीं लगता है ? जिस संसार-समुद्र की चारों ओर कामवासना की दुःसह आग जलती रहती है, विषयरूप गिरिशिखर पर से जिस समुद्र में पत्थर गिरते हैं... पत्थर गिरने से सागर में क्रोध के आवर्त पैदा होते हैं और वे आवर्त विकृतिरूप नदी के साथ जुड़ते रहते हैं ।

## आन्तरिक संसार की बात :

यह बात बाहरी संसार की नहीं है, हर जीवात्मा के भीतर एक भयानक संसार-सागर रहा हुआ है। ज्ञानदृष्टि से ही भीतर में इस संसार को देखा जा सकता है। जब उस सागर को देखेंगे तब ही सही रूप में भय लगेगा। आन्तर-दर्शन करना होगा।

भीतर में समुद्र की चारों ओर कामवासना की भीषण आग देखो। आग जलाती है, कामवासना भी जीव को जलाती है। चार गति में सबसे ज्यादा कामवासना मनुष्य को होती है। देवों से भी ज्यादा और पशु-पक्षी से भी ज्यादा। हृदय में कामवासना की आग जलती रहती है। विशेषरूप से यौवनकाल में यह आग भीषण होती है।

इस सर्वभक्षी कामवासना ने कितने युवानों को जला दिये, उसके अनेक दृष्टांत शास्त्रों में एवं इतिहास में तो पढ़ने मिलते ही हैं, वर्तमानकाल में भी असंख्य घटनाएँ पढ़ने को मिलती हैं, इस कामाग्नि से जलनेवालों की, मरनेवालों की।

प्रतिदिन भीतर में सागर की चारों ओर आग देखो... इस पर यह वासना की भयानकता के विषय में चिन्तन किया करो।

दूसरा दृश्य देखो भीतर में।

समुद्र के मध्य में एक ऊँचा पहाड़ है। उस पहाड़ के शिखरों पर से टूट-टूटकर पत्थरशिलाएँ समुद्र में गिरती हैं।

वह पहाड़ है पाँच इन्द्रियों के विषयों का। शब्द-रूप-रस-गंध और स्पर्श के असंख्य विषयों का पहाड़ है। कोई न कोई विषयेच्छा की शिला पहाड़ पर से समुद्र में गिरती है... और समुद्र में आवर्त पैदा होते हैं। जब मनुष्य की विषयेच्छा पूर्ण नहीं होती है, तब क्रोध पैदा होता ही है।

देखो भीतर के संसार में। जिस व्यक्ति से आपको जिस विषय की अपेक्षा होगी, वह अपेक्षा जब पूर्ण नहीं होती है, तब उसके प्रति क्रोध...रोष...रीस पैदा होते हैं न ? ये ही आवर्त हैं। विकल्पों के आवर्त। विकारों के आवर्त। हृदय चंचल... अस्थिर बन जाता है।

– दूसरों से मधुर-प्रिय शब्दों की अपेक्षा होती है, वहाँ यदि अप्रिय और कर्कश शब्द सुनने को मिलते हैं तो क्रोध-रोष आता है न ?

– जहाँ प्रिय रूप देखने की अपेक्षा हो, वहाँ वह रूप देखने को नहीं मिलता

है, कुरूपता देखने को मिलती है... तो क्रोध उत्पन्न होता है न ?

– जहाँ सुगन्ध मिलने की अपेक्षा हो, वहाँ दुर्गन्ध मिलती है, तो क्रोध आता है न ?

– जहाँ मधुर और प्रिय रस की अपेक्षा हो, वहाँ अप्रिय रस मिलता है, तो क्रोध की आंधी उठती है न ?

– जहाँ मुलायम और प्रिय स्पर्श की अपेक्षा हो, वहाँ अप्रिय और कर्कश स्पर्श मिलता है, तो क्रोध पैदा होता है न ?

संसार–समुद्र में क्रोधादि विकारों के आवर्त पैदा होते रहते हैं। क्या ऐसे संसार में आप निर्भय रह सकते हो ? निश्चिंत रह सकते हो ? पता नहीं, विषयगिरि पर से कब कौन–सा पत्थर गिरे... और कौन–सा आवर्त पैदा हो जायं।

ग्रन्थकार ने भवस्थिति की निर्गुणता का चिंतन करने को कहा है, वह भवस्थिति बाहर की नहीं, भीतर की भवस्थिति समझना है। भीतर में जो भवसागर उछल रहा है, गर्जन कर रहा है... तूफान कर रहा है, उसको देखना है। यदि आपके पास ज्ञानदृष्टि होगी तो आप संसार से भयभीत बनोगे... संसार की निःसारता को अच्छी तरह समझ लोगे।

बाहर से आपका संसार धन–धान्य से, पत्नी–पुत्रादि परिवार से, स्नेही–स्वजन और मित्रों से, आरोग्य से... अच्छा भी हो सकता है। उस बाहरी संसार को आप 'सागर–समुद्र' के रूप में नहीं देख पाओगे ! वह संसार आपको असार नहीं लगेगा... भीषण नहीं दिखेगा। बाहरी संसार तो सुखी भी लग सकता है। आपको बाहरी संसार नहीं देखना है। भीतर में जो विविध विकारों का संसार है–उसको देखना है। उसके परिणामों को देखना है। इहलौकिक परिणामों को सोचना है। जब सोचोगे तब संसार की निःसारता का दर्शन होगा। बाद में बाह्य संसार के वैषयिक सुखों के प्रति सच्चा वैराग्य पैदा होगा। संसार की आसक्ति टूट जायेगी।

भव–संसार की निर्गुणता का चिंतन–मनन करते हुए आप अनासक्त बनें– यही शुभकामना।

आज बस, इतना ही।

★ ★ ★

# प्रवचन : ७६

परम उपकारी, परम कृपानिधि आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में श्रावक जीवन में करने योग्य बाह्य एवं आन्तरिक धर्मआराधना बतायी है। आन्तरिक धर्मआराधना में उन्होंने भवस्थिति की निःसारता का चिन्तन करने को कहा है। भवस्थिति का अवलोकन करने के बाद, उसकी असारता का चिंतन करने से वैराग्यभाव जाग्रत होता है एवं पुष्ट होता है।

## 'अध्यात्मसार' में भवस्वरूप का चिन्तन :

उपाध्यायश्री यशोविजयजी ने 'अध्यात्मसार' ग्रंथ की सुंदर रचना की है। उस ग्रंथ में चौथा अध्याय है 'भवस्वरूप-चिन्ता' नाम का। इस अध्याय का परिशीलन वही मनुष्य कर सकता है कि जो बुद्धिमान् है और चित्त को स्थिर कर सकता है। थोड़े समय के लिए भी 'क्षणमपि समाधाय...' जो मन को स्थिर कर सकता है।

इस अध्याय में उन्होंने संसार को भिन्न-भिन्न उपमाएँ दी है और संसार के साथ वे सारी उपमाएँ कैसे जमती है, वह समझाया है। पहले उन उपमाओं के नाम सुन लो –

१. संसार सागर है,
२. संसार अग्नि है,
३. संसार कसाईखाना है,
४. संसार राक्षस है,
५. संसार अटवी (वन) है,
६. संसार कारावास है,
७. संसार स्मशान है,
८. संसार विषवृक्ष है,
९. संसार विषमताओं का घर है,
१०. संसार भयाक्रान्त घर है,
११. संसार उष्णकाल है,
१२. संसार मोह की युद्धभूमि है।

## संसार भयंकर आग है :

'संसार सागर है' – यह उपमा मैंने आपको कल बतायी थी। इसलिए आज दूसरी उपमा से प्रारंभ करूँगा।

प्रिया ज्वाला यत्रोद्वमति रतिसन्ताप तरला,
कटाक्षान् धूमौघान्, कुवलयदलश्यामलरुचीन्।
अथाङ्गान्यङ्गाराः कृतबहुविकाराश्च विषयाः,

**दहन्त्यस्मिन् वह्नौ भववपुषि शर्म क्व सुलभम् ? ॥**

इस चौथे अध्याय के सभी श्लोक 'शिखरिणी' छंद में निबद्ध है। यदि आप संस्कृतभाषा जानते और इन श्लोकों को गाते... तो वैराग्य की मस्ती में झूमते। रसपूर्ण रचना है यह। सुनो दूसरी उपमा को।

यह संसार–अग्नि कैसा प्रज्वलित है – उसकी कल्पना करें।

– इस संसार–अग्नि में से जो ज्वालाएँ आकाश में उठ रही हैं, उस भीषण ज्वाला का नाम है प्रिया। चंचल स्त्री ! कामवासना से... कामसंताप से चंचल बनी हुई स्त्री, संसार–आग की ज्वाला है।

– आग में से धुआँ निकल रहा है... कल्पना से देखो ! वह धुआँ है स्त्री के नयनकटाक्ष ! जिस प्रकार नीलकमल की श्याम कान्ति होती है, श्याम रंग होता है, वैसे स्त्री के कटाक्षों का रंग भी श्याम होता है। धुआँ काला होता है न ? इसलिए यह उपमा दी है।

– अच्छा, आपको आग में अंगारे भी दिखते हैं न ? स्त्री के सभी अंग–उपांग अंगारे हैं। अंगारों को स्पर्श करें तो ? जल जाओ न ? वैसे स्त्री के अंगोपांग को स्पर्श करने से वासना की जलन पैदा होती है।

– आग में राख वगैरह जो विकार दिखते हैं, वे हैं पाँच इन्द्रियों के विषय ! ऐसी सर्वभक्षी संसार–आग में क्या सुख मिल सकता है ? नहीं मिल सकता है।

## संसार कसाईखाना है :

संसार को तीसरी उपमा दी गई है कसाईखाने की।

**गले दत्त्वा पाशं तदय वनिता स्नेह घटितम्,**
**निपीड्यन्ते यत्र प्रकृतिकृपणाः प्राणिपशवः ।**
**नितान्तं दुःखार्ता विषम विषयैर्घातक भटै,**
**र्भवः सूनास्थानं तदहह महासाध्व सकरम् ॥**

यह संसार एक कसाईखाना है।

जीव पशु है। उसके गले में रस्सी बंधी हुई है ! पुत्र–पत्नी आदि स्वजन–स्नेह की रस्सी बंधी हुई है। जीव का स्वभाव रंक–दीन हो गया है।

दुःखद विषय कसाई है। ये विषय–कसाई जीवों को निरंतर त्रास देते रहते हैं। संसार में जीवों को एक क्षण भी शान्ति नहीं है। भयंकर है यह कसाईखाना।

पाँचों इन्द्रियों के विषयों को कसाई की उपमा दी है। शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श के असंख्य विषय कसाई हैं। उन विषयों को कसाई के रूप में देखो। उनसे दूर रहो। दूर रहने का अर्थ है – उन विषयों के प्रति न करें राग, न करें द्वेष। जीवन जीने के लिए अनिवार्य हो, उतने ही विषयों का भोग–उपभोग करना है, वह भी अनासक्त हृदय से करना है। राग–द्वेष किये बिना करना है।

दूसरी सावधानी रखने की है, गले में स्वजन स्नेह की रस्सी यदि बंधी हो तो उस रस्सी को तोड़ने की है। यदि स्वजन स्नेह, परिजन स्नेह, धनवैभव स्नेह, देह स्नेह आदि की रस्सी गले में बंधी होगी, तो विषय–कसाई क्रूरता से वध करेगा ही !

**सभा में से :** वह स्नेह तो रहता ही है...

**महाराजश्री :** तो कसाई के हाथों कत्ल होनेवाला ही है। उनके त्रास सहन करने ही पड़ेंगे। यदि बचना है कसाई से, तो राग का बंधन तोड़ना ही होगा।

## संसार राक्षस है :

संसार को चौथी उपमा दी गई है राक्षस की।

**अविद्यायां रात्रौ चरति वहते मूर्ध्नि विषमम्,**
**कषाय व्यालौघं क्षिपति विषयास्थीनि च गले।**
**महादोषान् दन्तान् प्रकटयति वक्रस्मरमुखो,**
**न विश्वासार्होऽयं भवति भवनक्तंचर इति ॥**

संसार एक भयानक राक्षस है।

क्या आपने कभी संसार को भयानक राक्षस के रूप में देखा है ? आज बताता हूँ, बाद में आप आँखें मूँद कर देखना।

– 'अविद्या'–अज्ञानता की कज्जलश्याम अमावस्या की रात्रि है।

– संसार–राक्षस के सर पर कषाय–स्वरूप भयंकर नाग बैठे हैं।

– गले में विषय–स्वरूप हड्डियों की माला लटक रही है।

– हिंसादि बड़े बड़े दोष–रूप दांत बाहर निकले हुए हैं, और

– कामवासना–रूप उसका विकराल मुख दिखता है।

– कल्पना करें :

घोर अंधेरी रात है....

सामने राक्षस खड़ा है, २०/२५ फूट ऊँचा है,

उसके सर पर बड़े बड़े नाग बैठे हैं,
गले में हड्डियों की माला लटकती है,
बड़े बड़े दांत बाहर निकले हुए हैं,
खुल्ला..... विकराल मुँह है !

ऐसा राक्षस देखकर पोष महीने की कड़ाके की सर्दी में भी पसीना छूट जाय न ?

**सभा में से :** स्वप्न भी ऐसा आ जायं तो.... मौत की चीख निकल जायं....

**महाराजश्री :** संसार को इस रूप में देखना है ! उससे भयभीत रहना है ! ऐसे संसार के ऊपर क्या विश्वास किया जा सकता है ? राक्षस विश्वासपात्र नहीं हो सकता है, उसमें भी संसार–राक्षस तो कभी भी विश्वासपात्र नहीं होता है ।

## संसार भयंकर वन है :

संसार को पाँचवी उपमा दी गई है वन की, अटवी की ।

**जना लब्ध्वा धर्मद्रविणलव भिक्षां कथमपि,**
**प्रयान्तो वामाक्षीस्तनविषमदुर्गस्थितिकृता ।**
**विलुट्यन्ते यस्यां कुसुमशर भिल्लेन बलिना,**
**भवाटव्यां नास्यामुचितम् सहायस्य गमनम् ।।**

संसार निर्जन अटवी है, वन है ।

कुछ साहसिक लोग, उन्होंने कैसे भी करके कुछ धर्म–धन कमाया और बिना कोई सहायक, बिना कोई 'गाइड', वे संसारवन में गुजरने लगे ।

किसी ने उन लोगों को कहा : 'सद्गुरु के साथ चलो, वे तुम्हारे मार्गदर्शक बनेंगे,' परंतु वे लोग नहीं माने और संसार–जंगल में से गुजरने लगे ।

चलते–चलते रास्ते में एक सुंदर किला–दुर्ग दिखाई दिया । दिखने में वह सुंदर था, परंतु भयाक्रान्त था । वह किला है स्त्री का वक्षस्थल.... उरोज ! वे मुसाफिर उस किले के पास बैठे । किले का सौन्दर्य देखने में मग्न बने, कि वहाँ लुटेरे–भिल्ल लोग वहाँ आ धमके ! सभी मुसाफिरों को लूट लिये, निर्वस्त्र कर दिये ।

वे लुटेरे हैं कामविकार । विषय–वासना की तीव्र उत्तेजना ।

स्त्री के वक्षस्थल पर पुरुष मोहित हुआ नहीं.... कि कामविकारों का हमला हुआ नहीं ! संसारवन में यह एक ही भयपूर्ण 'स्पोट' है, जगह है, जहाँ बड़े बड़े शूरवीर–पराक्रमी पुरुष भी करारी हार खाते हैं ।

सद्गुरु के बिना, जीव–मुसाफिरों को कौन समझाये कि 'तुम उस किले के पास से गुजरो तब उस किले की तरफ नजर डालना ही नहीं, अन्यथा डाकू तुम्हें लूट लेंगे । तुम्हारी सारी संपत्ति वे डाकू लूट लेंगे ।'

## संसार कारावास है :

संसार को छट्ठी उपमा दी गई है कारावास–कैदखाने की ।

**प्रियास्नेहो यस्मिम्निगऽसदृशो यामिकभटो–**
**पमः स्वीयो वर्गो धनमभिनवं बन्धनमिव ।**
**मदामेध्यापूर्ण व्यसनदिल संसर्ग विषमम्,**
**भवः कारागेहं तदिह न रतिः क्वापि विदुषाम् ।।**

संसार कैदखाना है, कारागार है । कारागार में खुश होने का प्रश्न ही नहीं उठता ।

– इस कारागार में जीव के हाथों में, पैरों में जंजीरें पड़ी हैं । वे जंजीर है प्रियास्नेह की । स्त्री–ममत्व की ।

– उस कारागार के प्रहरी–चौकीदार है स्वजन–लोग । हर प्रहर वे बदलते रहते हैं ।

– संसार के इस कारागार में जीवों को नये–नये बंधनों से बाँधे जाते हैं, वे बंधन हैं धन–वैभव–दौलत ।

– संसार के इस कैदखाने में सर्वत्र गंदगी पड़ी हुई है और उसमें से तीव्र दुर्गंध फैल रही है । यह गंदगी है अभिमान की ।

– उस कैदखाने में जगह–जगह पर बिल हैं, आपत्तियों के बिल !

कहिए, ऐसे कैदखाने में बुद्धिमान् मनुष्य को आनन्द हो सकता है क्या ?

सरकार ने तो तीन प्रकार के कैदखाने बनाये हैं : First Class, Second Class और Third Class ! यह संसार (जीव के भीतर का) तो थर्ड क्लास जैल से भी ज्यादा खतरनाक है ।

अब संसार की 'कारागार' के रूप में कल्पना करना । आप अनुभव करोगे कि – 'हम वास्तव में कारागार में हैं !' और जब यह अनुभव होगा, मन में

अकुलाहट होगी.... तब उस कारागार से बाहर निकलने की तीव्र इच्छा पैदा होगी। कारागार को तोड़कर भी भाग निकलने की इच्छा होगी। आपको कारागार में रहना जरा सा भी अच्छा नहीं लगेगा।

## संसार स्मशान है :

संसार को सातवी उपमा दी गई है स्मशान की।

**महाक्रोधो गृध्रोऽनुपरति शृगाली च चपला,**
**स्मरोलूको यत्र प्रकटकटुशब्दः प्रचरति ।**
**प्रदीप्तः शोकाग्निस्य ततमयशो भस्म परितः,**
**स्मशानं संसार स्तदभिरमणीयत्वमिह किम् ।।**

यह संसार स्मशान है।

संसार को स्मशान की उपमा देते समय, उपाध्यायश्री यशोविजयजी की कल्पना में उस समय के भयजनक स्मशान थे। आजकल स्मशान सुधर गये हैं, भयप्रद नहीं रहे। परंतु संसार–स्मशान तो वैसा का वैसा रहा है, जो अनादि काल से है और अनंत काल तक रहनेवाला है। इस संसार–स्मशान को कोई सुधार सकता नहीं है। संसार–स्मशान से जो बाहर निकलना चाहे, वह निकल सकता है !

चलें, अब संसार–स्मशान की कल्पना करें :

– स्मशान के आकाश में गीध उड़ रहे हैं, वे गीध हैं क्रोध के।

– स्मशान में चंचल सियारनियाँ–शृगालियाँ दिखाई देती हैं, ये शृगालियाँ हैं 'अरति' की। चित्त–उद्विग्नता की।

– स्मशान में उल्लू की कर्णकटु आवाज सुनाई देती है। ये उल्लू हैं काम–विकार।

– स्मशान में जगह जगह आग जल रही है। वह आग है शोक की।

– स्मशान में जगह जगह भस्म के, राख के ढेर लगे हैं। यह भस्म है अपयश की। चारों ओर भस्म के – अपयश के ढेर लगे हुए हैं।

यह संसार है।

भयानक स्मशान है।

क्या आपको इस संसार–स्मशान में कुछ भी रमणीय दिखता है क्या ?

## संसार विषवृक्ष है :

संसार को आठवी उपमा दी गई है विषवृक्ष की ।

**धनाशा यच्छायाप्यतिविषम मूर्च्छा प्रणयिनी,**
**विलासो नारीणां गुरुविकृतयें यत्सुमरसः ।**
**फलास्वादो यस्य प्रसरनरकव्याधि निवह-**
**स्तदास्था नो युक्ता भवविषतरावच सुधियाम् ।।**

संसार एक विषवृक्ष है ।

– इस विषवृक्ष की छाया में बैठनेवाले बुरी तरह मूर्च्छित हो जाते हैं । वह छाया है धनाशा ! संपत्ति की अपेक्षा ! आपके मन में धनाशा पैदा हुई कि समझना विषवृक्ष की छाया में बैठ गये हो !

– इस विषवृक्ष का पुष्परस जो पीता है, उसके मन में बड़े बड़े विकार पैदा होते हैं । वह पुष्परस है नारी का विलास ! स्त्री के भिन्न भिन्न हावभाव ।

– इस विषवृक्ष के फलों का जो आस्वाद करता है वह तो नरक की घोर व्याधियों का शिकार बन जाता है । ये फल हैं नारी–संभोग ।

ऐसे विषवृक्ष–समान संसार के प्रति जरा–सा भी विश्वास नहीं करना चाहिए ।

तात्पर्य यह है कि संसार में परिग्रह–संज्ञा और मैथुन–संज्ञा – ये दो संज्ञाएँ बड़ी खतरनाक हैं । जो जीवात्मा इन दो संज्ञाओं को परवश होता है, वह घोर त्रास और वेदना पाता है । मृत्यु के बाद जीव को नरक–तिर्यंचगति में जाना पड़ता है ।

**सभा में से** : संसार में स्त्री और धन – ये दो तत्त्व ही प्रमुख हैं !

**महाराजश्री** : इसलिए तो संसार को विषवृक्ष की उपमा देकर इन दो तत्त्वों के प्रति विरागी बनाने हैं आपको । विरक्त बनना ही होगा, अन्यथा दुःखी–दुःखी हो जाओगे ।

## संसार विषमताओं का घर है :

संसार को नौवी उपमा दी गई है विषमताभरे घर की ।

**क्वचित्प्राज्यं राज्यं क्वचन धनलेशोऽप्यसुलभः,**
**क्वचिज्जातिस्फातिः क्वचिदपि च नीचत्त्वकुयशः ।**
**क्वचिल्लावण्य श्रीरतिशयवती क्वापि न वपुः,**
**स्वरूपं वैषम्यं रतिकरमिदं कस्य नु भवे ।।**

संसार विषमताओं से भरा घर है । कैसी-कैसी विषमताएँ हैं संसार में !

– किसी के पास विशाल राज्य समृद्धि है, तो किसी के पास एक पैसा भी नहीं है ।

– कोई मनुष्य उच्च कुल में जन्मा है, कोई नीच कुल से कलंकित दिखता है । कोई यशस्वी है, कोई अपयश का भाजन है ।

– कहीं पर रूप-लावण्य का अतिशय दिखता है, तो कहीं पर अत्यंत कुरूप और जुगुप्सित शरीर दिखता है ।

ऐसी विषमताओं से यह संसार-घर भरा हुआ है । विषमताओं को देखकर हृदय में संसार के प्रति प्रेम होगा क्या ? खुशी होगी ? बात आपकी पसंदगी की है ।

– धन-संपत्ति की विषमता,

– कुलो की विषमता,

– यश-अपयश की विषमता, और

– रूप-लावण्य की विषमता ।

संसार की ये चार प्रमुख विषमताएँ बतायी गई हैं । इसके अलावा भी अनेक प्रकार की विषमता देखी जाती हैं ।

– एक जगह आपको आदर मिलता है, दूसरी जगह तिरस्कार मिलता है !

– एक जगह आपको यश मिलता है.... दूसरी जगह अपयश !

क्या ऐसी अनेक विषमताओं से भरे संसार में आपको खुशी होगी ? अब सोचना विषमताओं के विषय में ।

## संसार भयाक्रान्त घर है :

संसार को दसवी उपमा दी गई है भयाक्रान्त घर की ।

**इहोद्यमः कामः खनति परिपंथी गुणमही-**
**मविश्रामः पार्श्वस्थितकुपरिणामस्य कलहः ।**
**विलान्यन्तः क्रामन्मदफणभृतां पामरमतं,**
**वदामः किं नाम प्रकटभवधामस्थिति सुखम् ॥**

संसार भयाक्रान्त घर है ।

– संसार-घर में पहला भय है कामशत्रु का । कामशत्रु अति उद्धत है । यह कामशत्रु आत्मभूमि में से गुणों को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न कर रहा है ।

– संसार–घर के पास जो पडौसी है, उसका क्लेश–झगड़ा सदैव परेशान करता रहता है । यह पडौसी है चित्त के दुष्ट विचार । कुविकल्प–कुपरिणाम ।

– सबसे ज्यादा भय इस घर में सर्पों का है ! संसार–घर में बड़े बड़े बिल हैं सर्पों के । जानते हो इन सर्पों को ? आठ प्रकार के जो 'मद' हैं, वे सर्प हैं । जाति का, कुल का, रूप का, बल का, लोभ का, बुद्धि का, लोकप्रियता का, श्रुतज्ञान का... ये सारे मद हैं । इनमें से एक भी मद–सर्प यदि काटता है, तो जीवात्मा तड़प–तड़पकर मर जाता है और परलोक में भी घोर दुःख पाता है ।

संसार में मुख्य भय है :

– कामशत्रु का,

– दुष्ट विचारों का,

– आठ मदों का ।

संसार में रहते हो, इन बातों से सावधान रहना । इन तीन बातों के चक्कर में फँसना नहीं है । यदि दुष्ट विचारों को चित्त में प्रवेश नहीं दोगे तो शेष दो बातें आपका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकती ।

## संसार उष्णकाल है :

संसार को ग्यारहवी उपमा दी गई है उष्णकाल की ।

**तृषार्ताः खिद्यन्ते विषय विवशा यत्र भविनः,**
**करालक्रोधार्काच्छमसरसि शोषं गतवति ।**
**स्मरस्वेदक्लेदग्लपितगुणभेदस्यनुदिनं,**
**भवग्रीष्मे भीष्मे किमिह शरणं तापहरणम् ।।**

संसार ग्रीष्मकाल है, उष्णकाल है । जैसा–तैसा उष्णकाल नहीं, दुनिया में सबसे ज्यादा उष्णतावाला ग्रीष्मकाल है ।

– प्रचंड ताप से सारे सरोवर सूख गये हैं । वह प्रचंड ताप है क्रोध का । और वे सरोवर हैं शम–समता के ।

– लोग पसीने से तर–बतर हो जाते हैं । पसीने के कारण जीवों का मेद क्षण–क्षण गलता जाता है । यह पसीना है कामराग का ! और जो मेद गलता रहता है, वह मेद है गुणों का ।

– विषयपरवश जीवों की – भव्य आत्माओं की प्यास की कोई सीमा नहीं है । बेचारे वे जीव, बिना पानी के तड़पते रहते हैं ।

ऐसे संसार के उष्णकाल में, क्या कहीं पर भी, ताप–परिताप को मिटानेवाली शरण मिल सकती है क्या ?

सूर्य के प्रचंड ताप से बचने के लिए तो अनेक उपाय आप जानते हो और शक्य उपाय करते भी हो, परंतु भवसंसार के प्रचंड ताप से बचने का कभी सोचा है ?

– क्या क्रोध का ताप लगता है ?

– क्या कामराग से पसीना छूटा है शरीर में ?

– क्या गुणों का क्रमशः नाश हो रहा है, यह जानते हो ?

– क्या कभी शमरस की प्यास लगती है ? वह प्यास बुझाने का प्रयत्न किया ?

संसार का यह ग्रीष्मकाल, ऋतु के शीतकाल में भी तीव्र ताप देता रहता है।

## संसार मोह की युद्धभूमि है :

संसार को बारहवी उपमा दी गई है मोह की युद्धभूमि।

**मृगाक्षीदृग् बाणैरिह हि निहतं धर्मकटकं,**
**दिलिप्ता ह्यद्देशा इह च बहुलै रागरुधिरैः ।**
**भ्रमन्त्यूर्ध्वं क्रूरा व्यसनशत गृध्राश्च तदियं,**
**महामोह क्षोणी रमणरणभूमिः खलु भवः ॥**

यह संसार मोहराज की युद्धभूमि है। कैसी युद्धभूमि है, इसका वर्णन इस श्लोक में किया गया है।

– मृगनयना महिलाओं के नेत्रकटाक्ष बाण हैं, तीर हैं। इन बाणों से धर्मसेना मारी जा रही है।

– मरते हुए धर्मसुभट के वक्षस्थल रागरूपी लहू से रंगे जा रहे हैं।

– संसार की इस युद्धभूमि पर, हजारों गीध आकाश में मंडरा रहे हैं। ये गीध हैं आपत्तियों के।

ऐसी है संसार की युद्धभूमि। कल्पना की आँखों से देखना संसार को युद्धभूमि के रूप में।

यदि आप विभिन्न प्रकार की धर्मआराधना करते हैं, परंतु यदि आपने किसी रूपवती स्त्री की आँखों से आँखें मिलाई, तो समझना तुम्हारी धर्मआराधना क्षत–विक्षत हो जायेगी।

– स्त्री के प्रति राग हो गया, प्रेम हो गया, तो समझना कि आपका हृदय खुन से लथपथ हो गया ।

– यह मोहदशा में यदि फँस गये.... तो आप अनेक आपत्तियों से घिर जाओगे ।

इस संसार में यदि आत्मा जाग्रत..... सावधान नहीं रही, तो मोहदशा उसको पछाड़ देती है । असावध मनुष्य, स्त्री के रागपूर्ण नेत्रकटाक्ष के सामने टिक नहीं सकता है । उसका पतन हो जाता है । इसमें भी यदि परस्त्री के मोह में बंध गया, तो घोर संकटों में फँस जाता है ।

## विभिन्न दृष्टि से संसार की निःसारता :

संसार की निःसारता का चिन्तन करने का है । इस प्रकार के चिन्तन से मनुष्य की वैराग्य–भावना दृढ़ होती है ।

संसार में जीवों की स्वार्थान्धता कैसी है, यह बताते हुए कहा गया है – जब तक अपना स्वार्थ सधता है तब तक मनुष्य उन लोगों से अच्छा व्यवहार करता है, उनके लिए सब कुछ करने को तैयार होता है, परंतु जब स्वार्थ पूरा हो जाता है तब निष्ठुर बन कर, उन लोगों को तृणवत् समझकर छोड़ देता है । ऐसे स्वार्थी लोग मुँह में अमृत रखते हैं और मन में विष रखते हैं ।

संसार विश्वासघाती है । है कि नहीं ? आपका क्या अनुभव है ।

**सभा में से** : सही बात है, फिर भी पागल मन विश्वास कर लेता है ।

**महाराजश्री** : चूँकि आप गहराई में जाकर सोचते नहीं । गंभीरता से सोचते नहीं । संसार के कटु अनुभव होने पर भी आप कुछ सबक लेते नहीं । संसार विश्वासघात करता है ! कर्मवश जीव क्या नहीं करते ? इसलिए संसार के प्रति स्नेह नहीं होना चाहिए ।

'संसार' का अर्थ समझना ! कषायपरवशता और इन्द्रियपरवशता ही संसार है । यह दो प्रकार की परवशता ही जीव को सारे अकार्य करवाती है । बाह्य संसार में जीव अनेक अकार्य करते रहते हैं । संसार व्यवहार अनेक विषमताओं से भरा हुआ है ।

– संसार में सामान्य मनुष्य को धनवानों की चापलुसी करनी पड़ती है ।

– धनवानों को सत्ताधीशों की खुशामत करनी पड़ती है ।

– सत्ताधीशों को, इस लोकशाही में जनता की चापलुसी करनी पड़ती है !

– गुणवानों को भी कभी धनवानों की गरज करनी पड़ती है । और धनवानों

की आन्तरिक स्थिति प्रायः अशान्ति से भरपूर होती है ।

## एक आंतरिक निर्भय संसार :

आपको यदि संसार के बिना नहीं चलता है, आपको संसार चाहिए ही, तो 'अध्यात्मसार' में ऐसा एक आन्तरिक संसार बताया गया है । आप उनसे नाता जोड़ें । कभी उनकी ओर से विश्वासघात नहीं होगा । कभी उनकी ओर से चिन्ता, उद्वेग, क्लेश नहीं होगा ।

**प्रिया प्रेक्षा पुत्रो विनय इह पुत्री गुणरति–**
**र्विवेकाख्यस्तातः परिणतिरनिन्द्या च जननी ।**
**विशुद्धस्य स्वस्य स्फुरति हि कुटुम्बं स्फुटमिदं,**
**भवे तन्नो दृष्टं तदपि बत संयोग सुखधीः ॥**

– आप 'तत्त्वचिंता' को प्रिया–पत्नी बनायें ।
– 'विनय' आपका पुत्र होगा ।
– 'गुणरति' आपकी पुत्री होगी ।
– 'विवेक' आपका पिता होगा ।
– 'निर्मल परिणति' आपकी माता होगी ।

कहिए, यह परिवार पसंद आया ? कितना अच्छा परिवार है । इस आन्तर संसार में विश्वास से रहिए । निश्चिंत बनकर रहिए ।

बाह्य संसार के प्रति उद्वेग..... वैराग्य होगा, तभी आंतर संसार प्रिय लगेगा । जब तक बाह्य संसार के प्रति प्रेम है, स्नेह है, लगाव है.... तब तक आंतर संसार, कितना भी अच्छा होने पर भी प्रिय नहीं लगेगा ।

संसार की निर्गुणता–असारता का चिंतन करने का मार्ग बताया है । इस प्रकार चिंतन करते रहो – यही मंगल कामना ।

आज बस, इतना ही ।

★★★

# प्रवचन : ७७

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में 'श्रावक जीवन' के विषय में सुंदर मार्गदर्शन दिया है। भावात्मक धर्म की बहुत ही उपयोगी बातें लिखी हैं।

'भवस्थितिप्रेक्षणम्' और 'तन्नैर्गुण्यभावना' – ये दो बातें कितनी मार्मिक बतायी हैं! यदि श्रावक–श्राविका प्रतिदिन यह चिंतन करते रहें तो उनका जनम सफल हो जायं! मन के सारे द्वन्द्व मिट जायं, मन के सारे संताप शान्त हो जायं। आप लोग सरलता से चिन्तन–मनन कर सको, इसलिए मैंने हो सके उतनी सरल भाषा में ये बातें कही हैं। आप लोग समझ गये होंगे।

## मुक्ति–मोक्ष की परिभावना :

संसार की जिस प्रकार निर्गुणता–असारता बतायी, उसके बाद अब मुक्ति की उपादेयता की परिभावना करने को कहते हैं। जहाँ जाना है, उस मोक्ष का, मोक्षसुख का चिंतन करना चाहिए। संसार की निर्गुणता का चिंतन करने से संसार की आसक्ति टूटेगी और मोक्ष की उपादेयता का चिंतन करने से मोक्ष की प्रीति दृढ़ होगी।

जो हमारा अंतिम लक्ष्य है, जहाँ हमें जाना है, वहाँ का ज्ञान हमें होना ही चाहिए। ज्ञान से भी आगे, उस स्थान का एवं उस आत्मस्थिति का हमारे मन में आकर्षण पैदा होना चाहिए। यह तभी संभव हो सकेगा, जब मुक्ति की आप परिभावना करते रहोगे।

## अपवर्गालोचनम् :

अपवर्ग यानी मोक्ष। अपवर्ग यानी मुक्ति। उसका आलोचन करना है, यानी सर्वगुणमय मुक्ति की उपादेयता का परिभावन करने का है। कहिए, कब करोगे यह परिभावना ? सुबह से शाम तक.... दिन में कब करोगे यह चिंतन ?

**सभा में से** : दिन में तो समय मिलता नहीं है....

**महाराजश्री** : समय नहीं मिलता है ? झूठ नहीं बोलना। आपको घर के विचार, दुकान के विचार, संसार–व्यवहार के विचार, भविष्य के विचार..... कितने सारे विचार करने का समय मिलता है ? एक मात्र मोक्ष के विचार करने का समय

नहीं मिलता है ! महत्त्व की बात तो यह है कि जो वस्तु या व्यक्ति मनुष्य को प्रिय होता है, उसके विचार आ ही जाते हैं । विचार करने नहीं पड़ते हैं । जो विचार करने पड़ते हैं... उसमें मजा नहीं आता है । और, जिन विचारों में मजा नहीं आता है, वे विचार लंबे नहीं चलते हैं ।

ठीक है, अब यह बताइये कि आपको कभी मोक्ष के विचार आये हैं ? अथवा किये हैं क्या ?

**सभा में से :** मोक्ष की बातें कभी सुनी हैं जरूर, परंतु मोक्ष के विचार नहीं आये । विचार किये भी नहीं !

**महाराजश्री :** आज मैं मोक्ष की परिभावना बताऊँगा । परिभावना सुनकर आपको मोक्ष प्रिय लग गया... तो मेरा परिश्रम सफल हो जायेगा । मोक्ष वास्तव में प्रिय लगना चाहिए । प्रिय लगने के बाद वहाँ जाने की इच्छा जगेगी । वहाँ जाने के लिए जो भी मूल्य चुकाना होगा, चुकाने को आप तैयार होंगे । प्रिय वस्तु पाने के लिए मनुष्य क्या नहीं करता है ? सब कुछ करता है ।

संसार के प्रति विरक्ति हो गई और मोक्ष के प्रति प्रीति हो गई, तो काम हो गया समझें इस जनम का !

## 'मुक्ति' के अनेक नाम : उसका स्वरूप :

चौदह राजलोक के अग्रभाग पर 'इषत्–प्राग्भारा' नाम की पृथ्वी है । वह सिद्धभूमि है । 'ठाणांगसूत्र' एवं 'पन्नवणासूत्र' में इस पृथ्वी के अनेक नाम बताये गये हैं : जैसे कि मुक्ति, सिद्धि, मुक्त्यालय, सिद्धालय, लोकाग्रा, लोकाग्रस्तुपिका.... वगैरह ।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में इस 'इषत् प्राग्भारा' पृथ्वी का वर्णन मिलता है । उसी के आधार से मैं आपको बताता हूँ ।

– पहली बात – अनुत्तर देवलोक में जो सर्वार्थ सिद्ध विमान है, वहाँ से यह इषत् प्राग्भारा पृथ्वी १२ योजन ऊँचाई पर है ।

– दूसरी बात – यह पृथ्वी ऊर्ध्वमुख छत्र के आकारवाली है ।

– तीसरी बात – यह पृथ्वी ४५ लाख योजन के आयामवाली है । अर्थात् उसका 'डायामीटर' ४५ लाख योजन है ।

– चौथी बात – इस पृथ्वी की परिधि (Circumference) १,४२,३०,२४९ योजन की है । बीच में आठ योजन चौड़ी है, फिर चारों तरफ सभी दिशाओं में पतली होती जाती है । अंतिम छौर तो मक्खी की पाँख से भी पतली होती है ।

'औपपातिक सूत्र' में इस 'इषत् प्राग्भारा' पृथ्वी का वर्णन आता है, वह भी सुन लो।

– यह पृथ्वी शंखचूर्ण जैसी विमल है।

– यह पृथ्वी, जिस प्रकार मृणाल, चंद्रकिरण, तुषार, गोक्षीर श्वेत–धवल होते हैं वैसे शुभ्र होती है।

– यह समग्र पृथ्वी श्वेत सुवर्णमयी है।

– यह पृथ्वी निर्मल है, निष्पंक है, दर्शनीय है, प्रासादिक है, शुभ है.... और सुखप्रदा है।

यह इषत् प्राग्भारा पृथ्वी फिलहाल 'सिद्धशिला', 'मुक्ति' आदि नामों से पहचानी जाती है।

जो आत्मा, जन्म–जरा–मरण–रोग से सर्वथा एवं सर्वदा मुक्त बनती है वह आत्मा 'सिद्धशिला' पर साकारोपयोग से सिद्ध बनती है।

लेश्यामुक्त, योगमुक्त, कर्ममुक्त एवं देहमुक्त बनी हुई आत्मा जन्म–जरा–मृत्यु और रोग से मुक्त होती है। मुक्त आत्मा को चार गति में से किसी भी गति में जन्म नहीं होता है। जन्म ही नहीं, फिर रोग तो होंगे ही कैसे ? वृद्धत्व का सवाल ही नहीं और मौत का भी डर नहीं।

जन्म–जरा–मृत्यु और रोग से मुक्त आत्मा संसार में रह नहीं सकती ! ऊर्ध्वगमन करती हुई वह आत्मा, एक ही समय में सिद्धशिला पर पहुँच जाती है। वहाँ वह 'साकारोपयोग' से सिद्ध होती है। 'ज्ञानोपयोग' को 'साकारोपयोग' कहा गया है। दर्शनोपयोग को 'अनाकारोपयोग' कहा गया है।

सिद्ध भगवंतों के 'केवलज्ञान' को साकारोपयोग कहा गया है ! सभी लब्धियों की प्राप्ति, साकारोपयोग में मानी गई हैं। 'सिद्ध होना' वह भी एक प्रकार की लब्धि है। अतः प्रथम समय में मुक्तात्मा साकारोपयोग में होती है, दूसरे समय में मुक्तात्मा 'अनाकारोपयोग' (दर्शनोपयोग) में होती है।

## मुक्तात्मा का स्वरूप : मोक्षसुख :

'प्रशमरति' नाम के ग्रंथ में मुक्त आत्मा का स्वरूप और सुख एक श्लोक में बताया है :

**सादिकमनन्तमनुपममव्याबाधसुखमुत्तमं प्राप्तः ।**
**केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनात्मा भवति मुक्तः ।।२९०।।**

हालाँकि मुक्त आत्मा के सुख का वर्णन करना संभव ही नहीं है, फिर भी 'नमो सिद्धाणं' का जाप करनेवाली आत्मा अपनी तुतलाती बोली में उसका वर्णन किये बिना नहीं रह सकती है ।

मुक्त आत्मा के श्रेष्ठ–उत्तम सुख को तीन विशेषण दिये गये हैं : (१) सादि–अनन्त, (२) अनुपम, (३) अव्याबाध । अब इन तीनों विशेषणों को समझाता हूँ ।

पहला विशेषण है सादि–अनंत । आदि यानी प्रारंभ, सहयादि यानी प्रारंभयुक्त । मुक्त आत्मा का सुख प्रारंभयुक्त होता है । उसके सुख की शुरूआत होती है, उसका सुख अनादि नहीं है । सभी कर्मों का क्षय होता है तब आत्मा में सुख की उत्पत्ति होती है, इसलिए मुक्त आत्मा का सुख 'सादि' कहा गया है । सादि है फिर भी अनंत है । उस सुख का कभी अंत नहीं आता है । अमर आत्मा का सुख अनंत होता है ।

दूसरा विशेषण है 'अनुपम' । जिसको कोई उपमा नहीं दी जा सकती हो, उसको 'अनुपम' कहते हैं । दुनिया में ऐसी कोई उपमा–तुलना नहीं है, जो मुक्त आत्मा के सुख को दी जा सके ! एक उदाहरण से यह बात समझाता हूँ --

एक राजा था । एक दिन वह किसी जंगल में जा पहुँचा । उसके पास खाना–पीना कुछ नहीं था । भूख के मारे वह बेहाल हो रहा था । अचानक एक आदिवासी आदमी वहाँ से गुजरा । राजा को भूखा–प्यासा समझकर वह उसको अपनी झोंपड़ी में ले गया । उसके पास जो भी रूखा–सूखा भोजन था, उसने बड़े प्रेम से राजा को खिलाया । फिर उसे नगर तक छोड़ने गया । राजा भी उस आदिवासी के ऊपर बहुत खुश हो गया था । राजा ने आदिवासी को आग्रह कर कुछ दिन अपने महल में रखा । उसको मूल्यवान् वस्त्र–अलंकार आदि दिया । एक औरत के साथ उसकी शादी कर दी । वह आदिवासी सुखभोग में डूब गया ।

इधर बारिश का मौसम आया । आकाश में बादल गरजने लगे । मोर भी नाचने–गाने लगे । यह देखकर आदिवासी को अपना खेत, अपनी झोंपड़ी... अपने लोग... सब याद आ गया । उसने राजा की इजाजत ली और जंगल में अपने घर चला गया ।

जंगल के उसके साथीदारों ने, रिश्तेदारों ने, मित्रों ने उसको पूछा : 'नगर कैसा होता है ? क्या होता है वहाँ ?' वह आदिवासी उनको नगर के विषय में कुछ समझा नहीं सका । क्योंकि जंगल में वैसी कोई उपमा नहीं थी कि जिसे बताकर

व कह सके कि – 'नगर ऐसा होता है ।' इसलिए उसने कहा : 'नगर' अनुपम था !

वैसे हम भी मुक्त आत्माओं के सुख के विषय में यही कहते हैं – 'मुक्त आत्माओं का सुख अनुपम होता है ।' संसार में ऐसा कोई सुख नहीं है कि जिसकी उपमा देकर बता सकें कि 'मोक्ष में इसके जैसा सुख होता है ।'

तीसरा विशेषण दिया गया है 'अव्याबाध ।' मुक्त आत्माओं का सुख अव्याबाध होता है । वहाँ के सुख में कोई बाधा नहीं होती है, कोई रुकावट नहीं होती है, पीड़ा का नामोनिशान नहीं होता है । कोई संघर्ष नहीं होता है । यदि अमूर्त आकाश को आघात पहुँचाया जा सकता है तो अमूर्त–अरूपी आत्मा को बाधा पहुँचायी जा सकती है । किसी भी प्रकार के दुःख से रहित, बिना किसी मिलावट का सुख होता है, सिद्धक्षेत्र में रहे हुए अनंत–अनंत सिद्ध आत्माओं का ।

## सिद्ध–मुक्त आत्माओं में प्रमुख तीन गुण :

वैसे सिद्ध–बुद्ध आत्माओं में अनन्त गुण होते हैं । अनंत कर्मों का नाश हो जाने पर आत्मा के सभी अनन्त गुण प्रकट होते हैं । एक भी दोष आत्मा में नहीं रहता है । आत्मा का मूल स्वरूप गुणमय ही है । कर्मों की वजह से दोष पैदा होते रहते हैं । कर्मों का नाश होने पर दोषों का भी नाश हो जाता है ।

गुण अनन्त होते हैं, उन अनन्त गुणों में प्रमुख तीन होते हैं – १. क्षायिक सम्यक्त्व, २. केवलज्ञान और ३. केवलदर्शन । क्षायिक सम्यक्त्व आत्मस्वरूप होता है । केवलज्ञान साकारोपयोग स्वरूप होता है और केवलदर्शन निराकारोपयोग–स्वरूप होता है ।

## मुक्त आत्मा यहाँ संसार में क्यों नहीं रहती ?

**प्रश्न :** ऐसी गुणमय आत्मा यहाँ संसार में क्यों नहीं रहती ? लोकाग्र पर, सिद्धशिला पर क्यों पहुँच जाती है ?

**उत्तर :** जिस आत्मा के स्थूल या सूक्ष्म, सभी शरीर नष्ट हो चुके हो और आठों कर्म नष्ट हो गये हों, वह आत्मा यहाँ मनुष्यलोक में रहती नहीं है,' यह सिद्धान्त सुनकर या पढ़कर तत्त्वानुप्रेक्षा करनेवाले मनुष्य के दिमाग में जिज्ञासा पैदा होगी कि वह आत्मा यहाँ मनुष्यलोक में क्यों नहीं रहती है ? वह यहाँ पर रहे तो अन्य जीवों के आध्यात्मिक विकास में आलंबन–रूप हो सकती है न ?' इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए भगवान उमास्वातीजी तीन कारण बताते हैं ।

पहला कारण यह है कि निष्कर्म और अशरीरी आत्मा को यहाँ मनुष्यलोक में रहने का कोई प्रयोजन नहीं होता है। आत्मा अशरीरी हो जाने से, दूसरे जीवों के लिए (शरीरी) प्रगट तौर पर तो आलंबन-रूप हो ही नहीं सकती ! सूक्ष्म रूप में आलंबन बन सकती है, परंतु वह तो सिद्धशिला पर रही हुई मुक्त आत्माएँ भी तो बन सकती हैं।

दूसरा कारण यह है कि जब आत्मा आठ कर्मों से मुक्त बनती है तब वह नीचे (यहाँ मध्यलोक में) नहीं रह सकती है, चूँकि उसका स्वभाव ही ऊर्ध्वगमन का होता है। एक दृष्टांत से यह बात समझाता हूँ, ध्यान से सुनिए।

जैसे कि एक तूम्बे पर मिट्टी के आठ लेप किये जायं, मिट्टी की आठ पर्तें चढ़ायी जायं, और फिर उसे सूखाकर सागर में डाला जायं, तो वह तूम्बा सागर की गहराई में डूब जायेगा। बाद में ज्यों ज्यों उस पर की मिट्टी के लेप उतरते जायेंगे त्यों त्यों तूम्बा ऊपर आता जायेगा। सभी लेप दूर होने पर वह पानी की सतह पर आ जायेगा। इसी तरह आत्मा पर के आठों कर्मों का लेप दूर हो जाने पर आत्मा चौदह राजलोक की ऊपरी सतह पर पहुँच जाती है, यानी लोकाग्र पर चली जाती है, मनुष्यलोक या देवलोक में रह नहीं सकती।

आत्मा की ऐसी कोई क्रिया नहीं होती है कि जिस क्रिया के जरिये मुक्त आत्मा के यहाँ पर मनुष्यलोक में अधिष्ठान की कल्पना की जा सके। क्रिया करने के लिए मन-वचन-काया के योग चाहिए। मुक्त आत्मा के तो सभी योग नष्ट हो गये होते हैं। योगरहित आत्मा की स्वाभाविक क्रिया तो केवल ज्ञानोपयोग और केवल दर्शनोपयोग ही होती है। इस क्रिया के लिए उसे संसार में रहना जरूरी नहीं होता है।

## मुक्त आत्मा का अधोगमन क्यों नहीं ?

**प्रश्न :** कर्मों से मुक्त और शरीर से मुक्त हुई आत्मा, नीचे अधोलोक में क्यों नहीं जाती है ?

**उत्तर :** उसके दो कारण हैं :

१. वजनरहित दशा (Weightless state)

२. अशक्यभाव (Impossibility)

एक ऐसा भी सर्वसामान्य नियम है कि वजनयुक्त पदार्थ स्वतः नीचे जाता है और वजनरहित पदार्थ स्वतः ऊर्ध्वगति करता है। जब आत्मा शरीर से मुक्त

होती है और कर्मों से मुक्त होती है, तब वह वजन से भी मुक्त हो जाती है। वजन होता है शरीर का, वजन होता है कर्मों का। हर एक पुद्गल द्रव्य में वजन होता ही है। शुद्ध आत्मद्रव्य वजनरहित होता है। अतः उसकी सहजरूप में ऊर्ध्वगति होती है। हालाँकि तीसरे शुक्लध्यान में उसे धक्का तो लगा हुआ ही होता है, देह से मुक्त होते ही वह ऊर्ध्वगति करता है।

दूसरी बात है शक्य–अशक्य भावों की। कुछ भाव, कुछ बातें अशक्य होती हैं। उसमें किसी प्रकार के तर्क या दलील को जगह नहीं है। कोई तर्क करें कि–जैसे पूर्वप्रयोग ऊर्ध्वगमन के लिए होता है वैसे ही अधोगमन के लिए किया जायं तो आत्मा अधोगमन क्यों नहीं करें ?

ऐसे किसी तर्क को इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रक्रिया में तनिक भी स्थान नहीं है। वजनरहित मुक्तात्मा अधोगमन करेगी ही नहीं। सर्वज्ञ–सर्वदर्शी तीर्थंकरों ने इस वास्तविकता को देखकर–जानकर दुनिया के समक्ष प्रगट की हुई है।

## मुक्तात्मा लोकान्त पर रुक क्यों जाती है ?

**प्रश्न :** मान लिया कि मुक्त आत्मा अधोगमन नहीं करती, ऊर्ध्वगमन करती है, परंतु वह लोकान्त पर रुक क्यों जाती है ? 'अलोक' में क्यों नहीं जाती है ?

**उत्तर :** इसका प्रमुख कारण एक ही है, गति में जो सहायक द्रव्य है 'धर्मास्तिकाय', उस धर्मास्तिकाय का अस्तित्व लोकान्त तक ही होता है। 'अलोक' में धर्मास्तिकाय का अस्तित्व ही नहीं है। इसलिए आत्मा लोकान्त तक ही जाती है। जैसे पानी हो वहाँ तक जहाज जा सकता है, पानी हो वहाँ तक मछली जा सकती है, वैसे !

**प्रश्न :** अनन्तशक्ति युक्त आत्मा को 'धर्मास्तिकाय' की सहायता की आवश्यकता जरूरी है क्या ?

**उत्तर :** यह भी एक निश्चित भाव है। जड़ और जीव, दोनों की गति और स्थिति में सहायक द्रव्य तो चाहिए ही ! विशुद्ध आत्मा में भी वैसी शक्ति नहीं है कि वह धर्मास्तिकाय की सहायता के बिना गति कर सके। फिर भी इसे शक्ति की कमी या अशक्ति नहीं मानी जा सकती। यह विश्व की शाश्वत् व्यवस्था है।

**प्रश्न :** ठीक है, मुक्त आत्मा अधोगमन नहीं करती है, लोकान्त के बाहर भी नहीं जाती है, परंतु तिरछी गति तो कर सकती है ? तिरछा जाने में दिक्कत क्या है ?

**उत्तर :** गाड़ी (Car) को सीधी भगाने के लिए 'स्टीयरिंग' पकड़ कर ही रखना होता है, पर गाड़ी को घूमाने के लिए–मोड़ देने के लिए (आगे–पीछे या आजूबाजू में) स्टीयरिंग को घूमाना पड़ता है । यानी मन और काया की क्रियाएँ करनी पड़ती हैं । इस तरह आत्मा को इधर–उधर जाने के लिए (चार दिशाओं में) मन–वचन–काया के योग चाहिए और आत्मा की क्रिया चाहिए । मुक्त आत्मा को इसमें का कुछ भी नहीं होता है ! तिर्यग् गमन करने के लिए जो उपकरण–साधन चाहिए, वे होते ही नहीं हैं । इसलिए तिरछी गति संभवित नहीं होती है, मुक्त आत्मा ऊर्ध्वगमन ही करती है ।

## ऊर्ध्वगमन के चार कारण :

मुक्त आत्मा के ऊर्ध्वगमन को सिद्ध करनेवाले चार कारण, ध्यान से सुन लो :

- पहला कारण है पूर्वप्रयोग,
- दूसरा कारण है संग का अभाव,
- तीसरा कारण है बंधनों का टूटना, और
- चौथा कारण है उस प्रकार का गतिपरिणाम ।

## पूर्वप्रयोग :

मुक्त जीव ऊर्ध्वगति करता है, ऊपर उठता है । 'समुद्घात' की क्रिया पूर्ण करने के बाद, 'योगनिरोध' करने के लिए आत्मा तीसरा 'शुक्लध्यान' (सूक्ष्मक्रिया–अनिवृत्ति) करती है और अंत में अपने चरम शरीर का तीसरा हिस्सा कम करती है (शरीर के पोले हिस्सों को भरकर) वे संस्कार आत्मा में रहे हुए ही होते हैं, वे संस्कार यानी ऊर्ध्वगमन के लिए सानुकूल क्रियाशीलता ।

जैसे कुम्हार पहले डंडे से चक्र को घूमाता है, बाद में डंडा ले लेता है, फिर भी चक्र तो घूमता ही रहता है, उसी तरह पूर्वप्रयोग पूरा हो जाने पर भी आत्मा में ऊर्ध्वगमन के (गति के) संस्कार रहे हुए होते हैं, उन संस्कारों के जरिये आत्मा ऊर्ध्वगमन करती है ।

## संग–लेप :

दूसरा कारण है संग का अभाव । असंग यानी निर्लेप । लेप के उतरने पर ज्यों तूम्बा पानी के नीचे से ऊपर आ जाता है, वैसे ही निर्लेप आत्मा ऊर्ध्वगति करती है ।

**बंधन टूटना :**

जैसे एरंड का फल फूटते ही उसके बीज ऊपर उछलते हैं, वैसे ही कर्म बंधन टूटते ही आत्मा ऊर्ध्वगति करती है ।

**गति–परिणाम :**

घी का या तेल का दिया जलाया जाता है तो उसकी दीपशिखा ऊपर ही उठती है, नीची नहीं जाती है, नहीं तिरछी या इधर–उधर जाती है । ठीक है, कोई निमित्त पाकर इधर–उधर जायं, वह बात अलग है, पर निमित्त के नहीं रहने पर तो वह ऊर्ध्वगति ही करती है । इसी तरह मुक्तात्मा ऊर्ध्वगमन ही करती है । उसे 'गति–परिणाम' कहते हैं ।

जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य स्वभाव से गतिशील हैं । पुद्गलद्रव्य स्वभाव से अधोगतिशील है और जीवद्रव्य ऊर्ध्वगतिशील है । संसार में जीव को अधोगति करते या तिरछी गति करते हुए देखा जाता है, वह शरीर संग और कर्म के बंधनों के कारण होता है । जब वह संग और बंधन छूट जाता है, टूट जाता है, तब मुक्त जीव अपने स्वभाव के अनुसार ऊर्ध्वगति ही करता है ।

**प्रश्न :** मोक्ष में किस प्रकार का सुख होता है ?

**उत्तर :** दुनिया में चार अर्थों में 'सुख' शब्द का प्रयोग किया जाता है : १. विषयों में, २. वेदना के अभाव में, ३. पुण्यकर्म के विपाक में और ४. मोक्ष में ।

१. 'इस संसार में मधुर शब्द ही सुख है, सुंदर रूप ही सुख है, प्रिय इष्ट भोजन ही सुख है, मृदु स्पर्श ही सुख है.... धन–संपत्ति ही सुख है,' इस तरह विषयों में 'सुख' शब्द का व्यवहार होता है ।

२. जब कोई रोग दूर होता है तब, जब कोई आफत टल जाती है तब, सर पर से कोई भार उतर जाता है तब आदमी बोलता है : 'ठीक है, चलो, अब सुखी बने ।'

३. पुण्यकर्म के विपाक में भी मनुष्य 'सुख' शब्द का प्रयोग करता है । 'अपना तो पुण्य का उदय है, इसलिए अपन को मनपसंद मजेदार बंगला मिल गया.... अपन तो अब सुखी हैं..... अब सुख का उदयकाल आया है....' इस प्रकार मनुष्य बोलता है ।

४. मोक्ष में परम सुख होता है । कर्मों का नाश हो जाता है, फिर मोक्ष में

अव्याबाध सुख होता है । निरूपम सुख होता है । मुक्त आत्मा को न तो शरीर होता है, न ही मन होता है ! फिर उन्हें एक भी दुःख कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता । दुःख के अभावरूप सुख मुक्त आत्माओं को होता है ।

इस सुख को अनुमान प्रमाण से या उपमान प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता । इस विश्व में ऐसा कोई प्रसिद्ध लिंग नहीं है कि जिसके बल पर अनुमान से मुक्तात्मा के सुख को सिद्ध किया जा सके । इसलिए कहा है कि 'मुक्तात्मा को दुःख नहीं हो सकता, सुख ही होता है ।'

## मुक्तात्माओं के प्रमुख आठ गुण :

मुक्त–सिद्ध आत्माओं को, आठ कर्मों के क्षय से आठ गुण प्रगट होते हैं । ज्ञानावरण कर्म के क्षय से अनन्तज्ञान–केवलज्ञान प्रगट होता है ।

२. दर्शनावरण कर्म के क्षय से अनंत दर्शनगुण प्रगट होता है ।

३. मोहनीय कर्म के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्रगुण प्रगट होता है ।

४. वेदनीय कर्म के क्षय से अनंत सुख प्रगट होता है ।

५. अंतराय कर्म के क्षय से अनंतवीर्य प्रगट होता है ।

६. आयुष्य कर्म के क्षय से अक्षय स्थिति प्राप्त होती है ।

७. नामकर्म के क्षय से अरूपिता प्रगट होती है, और

८. गोत्रकर्म के क्षय से अनंत अवगाहना प्राप्त होती है ।

मुक्त बनने के बाद आत्मा को कर्मबंध के कोई कारण नहीं रहते इसलिए जन्म–जरा–मृत्यु आदि दुःख नहीं रहते । अतः मुक्त आत्मा को पुनः जन्म लेना नहीं पड़ता है ।

## अवर्णनीय सिद्धों का वर्णन !

वास्तव में अरूपी ऐसे सिद्ध भगवंतों का वर्णन करना संभव ही नहीं है, फिर भी विशिष्ट ज्ञानी पुरुषों ने अपनी आत्मानुभूति से थोड़ा सा वर्णन किया है ।

'लोकप्रकाश' ग्रंथ में कहा गया है :

सिद्धा बुद्धा गताः पारं परं पारंगता अपि ।
सर्वामनागतामद्धां तिष्ठन्ति सुखलीलया ।।

सिद्ध, बुद्ध और संसार–सागर को पार करनेवाले सिद्ध–मुक्त आत्माएँ परंपरा से समग्र भविष्यकाल में भी सुख एवं आनन्द में रहेंगे ।

अरूपा अपि प्राप्तरूपप्रकृष्टा,
अनंगा स्वयं ये त्वनंगद्रुहोऽपि ।
अनन्ताक्षराश्चोज्झिताशेषवर्णाः,
स्तुमस्तान् वचोऽगोचरान् सिद्धजीवान् ।।

'लोकप्रकाश' में सिद्धों के गुण गाते हुए उपाध्यायश्री विनयविजयजी ने कहा है –

'अरूपी होते हुए भी सिद्धभगवंत उत्कृष्ट रूपवाले हैं, अशरीरी होते हुए भी कामदेव का द्रोह करनेवाले हैं, एवं अनन्ताक्षर होते हुए भी सभी वर्णों से रहित हैं ! ऐसे अवर्णनीय सिद्धभगवंतों की हम स्तुति करते हैं ।'

## 'आचारांग' सूत्र में सिद्धों का वर्णन :

स्वयं श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने सिद्धों का निषेधात्मक पद्धति से वर्णन किया है, जो वर्तमान में आचारांग सूत्र में मिलता है । उन्होंने गौतम स्वामी को संबोधित करते हुए कहा है :

'हे गौतम, सिद्ध आत्माएँ दीर्घ नहीं होती, ह्रस्व नहीं होती, उनका कोई आकार नहीं होता, उनका कोई वर्ण नहीं होता.... उनकी कोई गंध नहीं होती, उनका कोई रस नहीं होता, वे मृदु नहीं होती, कर्कश नहीं होती वे शीत नहीं होती, उष्ण नहीं होती, वह स्निग्ध नहीं होती, रूक्ष नहीं होती, वह स्त्री नहीं होती, पुरुष नहीं होता, नपुंसक नहीं होती ।'

मोक्ष का एक अर्थ है 'महानन्द !' ऐसा महानंद हमें कब प्राप्त होगा ? सदैव मुक्ति की परिभावना करते रहना है । क्योंकि एक दिन हमें वहाँ जाना है ।

आज बस, इतना ही ।

★ ★ ★

# प्रवचन : ७८

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में श्रावक जीवन के विषय में सर्वांगीण मार्गदर्शन दिया है। जिस किसी को भी वास्तविक श्रावक जीवन जीना है, उसके लिए यह ग्रंथ अत्यंत उपयोगी है।

बाह्य क्रियाकलापों के साथ ग्रंथकार ने श्रावक की दिनचर्या भी बतायी है। श्रावक के चिन्तन-मनन की दिशा भी बतायी है। आप कुछ दिनों से चिन्तन-मनन की बातें सुन रहे हो। अभी अपनी बात 'अपवर्गालोचनम्' के विषय में चल रही है। मोक्ष का चिंतन ! मुक्ति का चिंतन ! मुक्त आत्माओं के विषय में चिंतन। हम सभी के लिये यह चिंतन आवश्यक है। जिस किसी को मुक्ति पाना है, उन सभी जीवों के लिए यह चिंतन करना अनिवार्य है।

जिनको मुक्ति नहीं चाहिए, जिनको मोक्ष में जाने की इच्छा ही पैदा नहीं हुई है, उनको भी मुक्ति का ज्ञान तो पाना ही चाहिए। जैसे हमें अमरिका नहीं जाना है, फिर भी अमरिका का ज्ञान तो हमने भी पाया है ! वह देश, वहाँ की प्रजा, वहाँ की जीवनपद्धति, वहाँ के सुख-दुःख..... वहाँ की राजनीति..... इत्यादि बातों का ज्ञान तो होना चाहिए। वैसे मुक्ति आपको नहीं चाहिए, कोई बात नहीं, मुक्ति का ज्ञान तो पा सकते हैं !

मैं तो आप लोगों को मुक्ति की, मोक्ष की बातें एक बार सुनाऊँगा, आपको बार-बार चिंतन-मनन करना होगा। बार-बार चिंतन-मनन करने से मुक्ति की सही कल्पना आप कर सकोगे। संभव है कि चिंतन करते करते वहाँ जाने की इच्छा जाग्रत हो जायं !

## सिद्धि एवं सिद्धों की सात विशेषताएँ :

मुक्ति को मोक्ष कहते हैं वैसे सिद्धि या सिद्धिगति भी कहते हैं। वैसे वहाँ जिन विशुद्ध आत्माओं का अवस्थान है, उन आत्माओं को मुक्त कहते हैं, सिद्ध कहते हैं, बुद्ध कहते हैं। यहाँ आज मैं जो वहाँ की सात विशेषताएँ बताना चाहता हूँ, वे विशेषताएँ दोनों की हैं, सिद्धों की और सिद्धिगति की, मुक्ति की और मुक्त आत्माओं की। कुछ अपेक्षा से सिद्ध और सिद्धिगति में अभेद माना गया है। मुक्त और मुक्ति का अभेद माना गया है। इसलिए जो विशेषता सिद्धिगति की है, वह विशेषता सिद्धों की भी है।

## पहली विशेषता : शिव :

मोक्ष में, सिद्धिगति में कोई उपद्रव नहीं है ! 'अशिव' का अर्थ है उपद्रव। 'शिव' का अर्थ है बिना उपद्रव का।

उपद्रवों का उद्‌भव स्थान है कर्म। मोक्ष में आत्मा के साथ कोई कर्म का संबंध नहीं होता है। वहाँ आत्मा निष्कर्मा होती है। कर्म नहीं तो उपद्रव नहीं। बिना कारण, कार्य बनता नहीं है। यह विश्व का सनातन नियम है।

संसार में आत्मा कर्मबंधनों से बंधी हुई ही होती है। आठ-आठ कर्मों के बंधन होते हैं। इसलिए विविध उपद्रव पैदा होते रहते हैं। अशिव से जीवात्मा घिरा हुआ रहता है। कोई भी संसार की गति हो। नरकगति, तिर्यंचगति और मनुष्य गति में तो उपद्रव आप देखते ही हो, देवगति में भी उपद्रव होते हैं। देवों के भी युद्ध होते हैं। वहाँ भी राग-द्वेष, ईर्ष्या-असूया वगैरह दोष होते हैं।

यदि आप संसार में कोई निरुपद्रवी स्थान में जाना चाहो, तो वैसा स्थान है ही नहीं ! वैसा स्थान है केवल सिद्धिगति ! केवल मुक्ति..... मोक्ष। इसलिए सर्वज्ञ-वीतराग परमात्मा ने कर्मबंधन तोड़ने का और मुक्ति पाने का उपदेश दिया है। सिद्धिगति ही 'शिव' है। सिद्धात्मा ही शिव है। शाश्वत् निरुपद्रव स्थिति है वहाँ। यह पहली विशेषता है।

## दूसरी विशेषता : अचल :

सिद्धिगति जैसे अचल है, वैसे सिद्धिगति में गये हुए जीव भी अचल बन जाते हैं। सिद्ध आत्माएँ वहाँ से कभी भी खिसकती नहीं हैं। चलायमान होती नहीं हैं। स्वाभाविक रूप से चलायमान नहीं है, वैसे प्रायोगिक रूप से भी विचलित नहीं होती है।

आत्मा कर्ममुक्त होती है, वह सहज रूप से ऊर्ध्वगमन करती है, लोकांत पर, सिद्धिगति में पहुँच जाती है। वहाँ स्थिर हो जाती है। वहाँ फिर विचलित होने का कोई प्रयोजन भी नहीं रहता है। न ऊपर जाने का प्रयोजन होता है, न नीचे जाने का प्रयोजन रहता है। कोई चंचलता नहीं रहती है।

**सभा में से** : हमारा तो तन भी चंचल होता है और मन भी !

**महाराजश्री** : चंचलता के कारण हैं न ! मुख्य रूप से कर्म ही कारण हैं। जीव को चंचल बनानेवाले कर्म होते हैं। राग, द्वेष और मोह कारण होते हैं। वहाँ सिद्धिगति में न कर्म हैं, न राग-द्वेष और न मोह हैं। कारण के बिना कार्य होता नहीं है।

आत्मा की अचल स्थिति की कल्पना करें । जरा भी हिलना नहीं, जरा भी डोलना नहीं..... जरा भी काँपना नहीं ! पूर्ण स्थिरता ! अचल स्थिति..... और वह भी शाश्वत्काल के लिए ! सिद्धशिला तो अचल है ही । कभी भी वह हिली नहीं, भविष्य में कभी भी वह हिलनेवाली नहीं । ऐसी अचल स्थिति पसंद पड़ेगी क्या ? सोचना ।

## तीसरी विशेषता : अरोग :

अब तीसरी विशेषता बताता हूँ । मुक्त आत्माओं को किसी प्रकार का रोग नहीं होता है । यानी उनको नहीं होती है व्याधि और नहीं होती है वेदना । शरीर को तो व्याधि हो सकती है ! मुक्त आत्माएँ अशरीरी होती हैं, उनको शरीर ही नहीं होता है..... इसलिए उनको व्याधि नहीं होती है ।

वेदना भी नहीं होती है । जिसको मन होता है, उसको वेदना हो सकती है । वेदना का अनुभव मन से ही हो सकता है । मुक्त आत्माओं को मन होता ही नहीं है ।

**सभा में से** : मुक्त आत्माओं को मन नहीं होता है तो फिर वे विचार कैसे कर सकते हैं ?

**महाराजश्री** : पूर्ण ज्ञानी आत्मा को विचार करने के ही नहीं होते हैं । वे तो समग्र विश्व के सभी भावों को आत्मा से ही प्रत्यक्ष देखते हैं । उनको मन के माध्यम की आवश्यकता नहीं रहती है । विचार, चिंतन, मनन वगैरह अपूर्ण जीवों को करना पड़ता है । पूर्ण आत्माओं को तो सिर्फ ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग ही होते हैं ।

मुक्त आत्माओं को न होता है शरीर और नहीं होता है मन ! इसलिए उनको व्याधि नहीं होती, वेदनाएँ नहीं होती । कितनी उत्तम स्थिति है मुक्तात्माओं की ! संपूर्ण निरोगी अवस्था ! कोई रोग नहीं ! पसंद आयी न यह विशेषता ? रोग नहीं इसलिए दवा नहीं । दवा नहीं इसलिए डॉक्टर नहीं, अस्पताल नहीं !

## चौथी विशेषता : अनन्त :

सिद्धिगति का कभी अन्त आनेवाला नहीं है । सिद्धिगति कभी नष्ट होनेवाली नहीं है, इसलिए उसको 'अनन्त' कहा है ! जिस प्रकार सिद्धिगति अनन्त है वैसे सिद्ध–मुक्त आत्माएँ भी अनन्त होती हैं ! उनकी कभी मृत्यु होती नहीं ! मृत्यु हो, तो अन्त आ सकता है ! वहाँ मृत्यु है ही नहीं ! सर्वनाश है ही नहीं ।

मुक्त आत्माएँ जन्म–मृत्यु से परे हो जाती हैं। जन्म–मृत्यु के कारणभूत कर्म ही नहीं हैं वहाँ, और आत्मा तो वैसे भी मरती नहीं है। अमर होती है आत्मा। आत्मा की अनन्तता और अमरता पसंद है न ? यदि पसंद हो, तो मुक्त बनने का, सिद्ध बनने का संकल्प करें। कर्मबंधन तोड़ने का पुरुषार्थ करें। आत्मा की अनन्तता प्राप्त करेंगे ही।

## पाँचवी विशेषता : अक्षय :

सिद्धिगति की पाँचवी विशेषता है अक्षय स्थिति की। सिद्ध आत्माएँ और सिद्धिगति – दोनों अक्षय हैं। दोनों अविनाशी हैं। वहाँ कोई विनाशक तत्त्व हो तो विनाश करे न ? है ही नहीं वहाँ कोई विनाशक तत्त्व !

एक बार आत्मा की शुद्ध अवस्था प्रगट हो गई, बाद में उस अवस्था का कभी नाश नहीं होता है। कभी क्षय नहीं होता है, इसलिए वह विशुद्ध अवस्था अक्षय होती है। नाश होने का कोई भय नहीं ! यह विशेषता भी आपको जँची न ? पसंद आयी न ? न उत्पत्ति, न विनाश ! अनादिकाल से उत्पत्ति और विनाश का दुष्चक्र चल ही रहा है। उसका अन्त आ जाता है मुक्त होने पर। आत्मा अक्षय बन जाती हैं।

## छट्ठी विशेषता : अव्याबाध :

व्याबाध यानी पीड़ा, अड़चन, रुकावट। अव्याबाध यानी पीड़ा–अड़चन–रुकावटों का अभाव। सिद्धिगति में किसी प्रकार की पीड़ा नहीं है, अड़चनें नहीं हैं, रुकावटें नहीं हैं। वहाँ हवा के तूफान नहीं होते। वहाँ भूकंप नहीं होते। वहाँ आग नहीं लगती..... वहाँ वर्षा नहीं होती। वहाँ नहीं होते नैसर्गिक उपद्रव, नहीं होते प्रायोगिक उपद्रव !

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अमूर्त पदार्थ को मूर्त पदार्थ के आघात–प्रत्याघात लगते ही नहीं ! सिद्धिगति में आत्माएँ सभी अमूर्त होती है। इसलिए कोई उपद्रव होने का संभव ही नहीं होता। वैसे सिद्धशिला पर भूकंप, आग, वर्षा..... वगैरह होते ही नहीं, होने की संभावना ही नहीं होती है। यह अव्याबाध स्थिति है।

जब तक आत्मा कर्मबद्ध होती है, शरीरधारी होती है, तब तक ही नैसर्गिक और प्रायोगिक उपद्रव, रुकावटें..... अड़चनें आती रहती हैं। जीवों पर उसका असर भी होता है। इसलिए संसार से मुक्त होकर, सिद्धिगति में जाना है। जाना है न आपको ?

## सातवी विशेषता : अपुनरावृत्ति :

'आवृत्ति' का अर्थ होता है आवर्तन । संसार एक महासागर है । सागर में आवर्त उठते रहते हैं । संसार-सागर में विविध जन्म रूप आवर्त होते रहते हैं । जीव उन आवर्तों में फँसते हैं ।

सिद्धिगति में गये हुए जीव, मुक्त बने जीव, पुनः संसार की गतियोंरूप आवर्त में नहीं फँसते हैं । यानी मुक्त आत्माएँ पुनः संसार में नहीं आती हैं । मोक्षावस्था में से संसारावस्था में आत्मा नहीं जाती है । शाश्वत्काल आत्मा वहाँ ही रहती है ।

वैसे, पूर्ण सुख छोड़कर दुःखपूर्ण संसार में वापस लौटने की इच्छा कौन करेगा ? हालाँकि मोक्ष में आत्मा में इच्छा पैदा होने का प्रश्न ही नहीं होता । मुक्त आत्मा इच्छाओं से भी मुक्त होते हैं । मुक्त आत्मा संसार में आती नहीं है, परंतु उनके पूर्ण ज्ञान में संसार प्रत्यक्ष दिखता है । दिखता है, परंतु राग-द्वेष नहीं होते ! पूर्ण ज्ञान-दर्शन की यह असाधारण विशेषता है । जानते हैं, देखते हैं.... परंतु रागद्वेष नहीं होते । रागद्वेषरहित पूर्णानन्द में ही आत्मा वहाँ स्थिर रहती है ।

इस प्रकार मुक्त आत्माओं की और मुक्ति की सात विशेषताएँ आपको बतायी । वे शिव, अचल, अरोगी, अनंत, अक्षय, अव्याबाध और अपुनरावृत्तिवाली आत्माएँ होती हैं ।

## सिद्धशिला पर सूक्ष्म पृथ्वीकायादि जीव :

एक आश्चर्य पैदा करनेवाली बात बताता हूँ । अपन सिद्धशिला पर कई बार जाकर आये हैं ! कई जीव..... अनन्त जीव वहाँ जाते हैं और आते हैं ! सभी कर्मबद्ध जीव ! परंतु वे जीव वहाँ सूक्ष्म पृथ्वीकाय वगैरह के जीव होते हैं ! उनका चैतन्य आवृत्त होता है । शिव..... अचल नहीं होते ! अरोगी-अनन्त नहीं होते, अक्षय और अव्याबाध नहीं होते ! वे कर्मरहित शुद्ध स्वरूपवाले नहीं होते ! वे जीव वापस इस दुनिया में आते रहते हैं ! अपनी आत्मा भी इस प्रकार सिद्धशिला पर गई हुई हैं ! परंतु इस प्रकार वहाँ जाने का कोई मतलब नहीं है । ऐसे सूक्ष्म जीव वहाँ कोई सुख नहीं पाते हैं, आनन्द नहीं पाते हैं..... क्या अर्थ रखता है सिद्धशिला पर जाने का ? कर्ममुक्त..... शरीरमुक्त बनकर जो आत्माएँ सिद्धशिला पर जाती हैं, वे परम सुख और परमानन्द पाती हैं ।

## अच्छे स्थान में जाने मात्र से क्या ?

एक परिवार परदेश जाकर आया था । मेरे पास वंदन करने आया । मैंने पूछा : 'कहाँ जाकर आये ?'

भाई ने कहा : "हम लोग 'स्विट्झरलेन्ड' गये थे । वहाँ दो महीना रहे थे ।"

मैंने पूछा : 'वहाँ का मौसम अच्छा होगा ? बहुत आनन्द आया होगा वहाँ पर ?'

उस भाई की पत्नी बोली : 'क्या आनन्द ? मुझे तो वहाँ जरा सा भी आनन्द नहीं मिला ।'

'क्यो ?'

वह भाई बोला : 'उसको आनंद कैसे मिलता ? उसको आप पूछे कि एक दिन भी झगड़ा किये बिना पास हुआ था ? गुरुदेव, इसका क्रोध इतना भयंकर है कि..... हम लोगों को भी शान्ति से रहने नहीं दिये ।'

'तो फिर परदेश जाने का अर्थ क्या ?' मैंने कहा ।

'कुछ नहीं ! बस, जाकर आये, दो लाख रुपये वैसे ही खर्च हो गये ।'

स्विट्झरलेंड जाकर आये..... वहाँ कोई सुख..... या आनन्द नहीं पाया ! क्या मतलब रहा वहाँ जाने का ? वैसे सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव सिद्धशिला पर जाते हैं..... परंतु वे जीव नहीं पाते हैं सुख, नहीं पाते हैं आनन्द ! मूर्च्छित अवस्था में जाते हैं और मूर्च्छित अवस्था में वापस लौटते हैं !

दूसरा एक परिवार सम्मेतशिखरजी वगैरह पूर्व देशों के तीर्थों की यात्रा कर के लौटा था । मेरा परिचित परिवार था ।

मैंने उनको पूछा : 'आपकी तीर्थयात्रा आनन्द से हुई होगी ।'

पुरुष ने कहा : 'हम तो यात्रा में परेशान हो गये.....'

'कैसे ?'

'अरे, जिस ट्रावेल में गये थे, उसने यात्रिकों को परेशान कर डाले । खाने-पीने की कोई सुविधा नहीं..... कार्यक्रम में बार-बार परिवर्तन..... यात्रिकों के साथ रोजाना झगड़ा ! मजा नहीं आया ।'

मैंने कहा : 'तीर्थस्थानों में परमात्मा की पूजा-सेवा-भक्ति में तो आनन्द आया होगा न ?'

महिला ने कहा : 'गुरुदेव, मैं सच बोलती हूँ, हमने कहीं भी परमात्मा की पूजा नहीं की ! केवल दर्शन करते थे । कभी-कभी शाम को मंदिर में आरती कर लेते थे ।'

'तो फिर दिनभर क्या करते थे ? धार्मिक किताबों का अध्ययन करते थे ? माला फेरते थे ? सामायिक करते थे ?'

महिला ने उसके पति के सामने देखा । वे दोनों मौन रहे । उनकी एक ही बात थी – यात्रा में उनको आनन्द नहीं आया । तीर्थों में जाकर आये, तीर्थपति परमात्मा की पूजा-भक्ति नहीं की.... जाप-ध्यान नहीं किया..... बस, पर्यटन कर आ गये ! वह भी आनन्द के बिना !

क्या मतलब रहा तीर्थों में जाने का ?

सिद्धिगति में जाने का तो मतलब है ! वहाँ पूर्णानन्द और पूर्ण सुख पाने का है । इसलिए दुःख एवं अशान्ति के कारणभूत कर्मों का क्षय करके वहाँ जाना है । शरीर एवं मन से मुक्त होकर वहाँ जाने का है । इस प्रकार आत्मा मोक्ष में जाती है तब परम सुख और परमानन्द पाती ही है ।

तीर्थंकर भगवंतों ने इसीलिए कर्मक्षय करने का उपदेश दिया । कर्मक्षय करने के उपाय बताये । कर्मक्षय होने पर शरीर का नाश और मन का नाश स्वतः हो जाता है । कर्मक्षय होने पर आत्मा इस संसार में नहीं रहती है । वह सिद्धिगति में पहुँच जाती है ।

**सभा में से** : मेरे पढ़ने में आया है कि सिद्ध-बुद्ध आत्माएँ न संसार में रहती हैं, न मोक्ष में रहती हैं ! सिद्ध-बुद्ध आत्मा को वे लोग 'महान् तत्त्व' अथवा 'महान् पुरुष' कहते हैं । ये महान् पुरुष जगत की उन्नति के लिए होते हैं । ये 'अभवस्थ-अमोक्षस्थ' आत्माएँ चिंतामणि रत्न से भी अधिक फल देनेवाली होती हैं ।

**महाराजश्री** : महानुभाव ! ऐसा कोई भी आत्मद्रव्य नहीं हो सकता कि जो संसार में न हो और मोक्ष में भी न हो ! संसार यानी कर्मबद्ध अवस्था और मोक्ष यानी कर्मरहित अवस्था । इन दो अवस्थाओं के अलावा तीसरी कोई अवस्था है ही नहीं । तीसरी अवस्था को सिद्ध करनेवाला कोई 'प्रमाण' मिलता नहीं है । नहीं है प्रत्यक्ष प्रमाण, नहीं है शास्त्रप्रमाण । फिर तो जिसको जो भी कल्पना करनी हो, कर सकता है ! बिना प्रमाण की कल्पना मान्य नहीं हो सकती है ।

**सभा में से** : ऐसा भी पढ़ने में आया है कि क्रम से ही सिद्ध हो, वैसा नियम नहीं है। 'अक्रम सिद्ध' भी होते हैं। जैसे लोग क्रम से ही धनवान् बनते हैं, ऐसा नहीं है। रंक राजा बन जाता है। हरिजन सीधा राष्ट्रपति भी बन सकता है! वैसे संसारी जीव सीधा मुक्त बन सकता है। क्रमिक आत्मविकास आवश्यक नहीं है। क्या यह मान्यता सही है ?

**महाराजश्री** : यह मान्यता गलत है। मुक्ति क्रम से ही होती है। इसलिए तो 'सिद्धाणं-बुद्धाणं सूत्र' में 'परंपरगयाणं' विशेषण दिया गया है सिद्धों का। १४ गुणस्थानकों के क्रम से ही आत्मा सिद्ध बनती है। गुणस्थानकों का क्रम जानते हो क्या ? उनके १४ नाम बताता हूँ – मिथ्यात्व, सास्वादन, मिश्र, अविरत सम्यग् दृष्टि, देशविरति, सर्वविरति-प्रमत्त, सर्वविरति-अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्ति-बादर, सूक्ष्म संपराय, उपशांत मोह, क्षीण मोह, सयोगी केवली और अयोगी केवली। अन्तर्मुहूर्तकाल में आत्मा पहले से १४वे स्थानक पर पहुँच सकती है और सिद्ध बन सकती है।

जो लोग गुणस्थानकों के माध्यम से होनेवाला आत्मविकास नहीं जानते, नहीं समझते, ऐसे लोगों को भरत चक्रवर्ती जैसे अपवादरूप दृष्टांत देकर समझाते हैं कि 'देखो, भरत चक्रवर्ती गृहस्थ थे..... और अरिसाभवन में सीधे वे केवल ज्ञानी बन गये! वहाँ कौन-सा क्रमिक विकास था ? यह है अक्रम विज्ञान!'

सरल जीव, अज्ञानी लोग मान लेते हैं यह बात! भरत चक्रवर्ती के भीतर कौन-सी प्रक्रिया घटी थी; भावपरिवर्तन, भावशुद्धि और भाववृद्धि में कौन-सा क्रम था, यह बात 'अक्रम विज्ञान' की बात करनेवाले नहीं जानते! १४ गुण-स्थानकों का क्रमिक विकास, प्रत्येक आत्मा का होता ही है, जो मोक्ष पाता है।

## गुणस्थानकों का विभागीकरण : मोहनीय कर्म :

गुणस्थानकों का विभागीकरण मुख्य रूप से मोहनीय कर्म के उपशम, क्षयोपशम और क्षय के माध्यम से किया गया है। मोहनीय कर्म की मुख्य दो प्रकृति हैं : दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय।

– दर्शनमोहनीय कर्म, आत्मा के सम्यग् दर्शन-गुण को आवृत्त करता है। इससे आत्मा में तात्त्विक रूचि पैदा नहीं होती है और सत्यदर्शन नहीं हो पाता है।

– चारित्रमोहनीय कर्म, आत्मा के चारित्रगुण को आवृत्त करता है। इस कर्म के प्रभाव से, सम्यग् दर्शनी आत्मा, स्व-स्वरूप की प्राप्ति का पुरुषार्थ नहीं कर सकता है।

– जब तक दर्शनमोहनीय कर्म का क्षयोपशम या क्षय नहीं होता है तब तक चारित्रमोहनीय कर्म की शक्ति कम नहीं होती है। इस दृष्टि से १ से ४ गुणस्थानक दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम, क्षयोपशम और क्षय पर आधारित हैं। ५ से ७ गुणस्थानक, चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम पर आधारित हैं। ८ से १० गुणस्थानक चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम या क्षय पर आधारित हैं। ११वा गुणस्थानक, चारित्रमोहनीय के मात्र उपशम की अपेक्षा से है।

– १२ से १४ गुणस्थानक, मोहनीय कर्म आदि कर्मों के क्षय पर आधारित हैं। आत्माओं को इस गुणस्थानकों के क्रम से गुजरना ही पड़ता है...तभी जा कर वे सिद्ध–बुद्ध और मुक्त बन सकते हैं। इस क्रम से गुजर कर सिद्ध बनने वाले 'परंपरगत' सिद्ध कहे जाते हैं।

## सभी सिद्ध–बुद्ध आत्माएँ क्या एक निश्चित स्थान में ही रहती है ?

अपने देश में आत्मा और मोक्ष के विषय में भिन्न–भिन्न विचारधाराएँ प्रचलित थी। इसमें एक विचारधारा ऐसी है –

'जहाँ आत्मा के क्लेश (कर्म) का क्षय होता है, वहाँ ही विज्ञानस्वरूप आत्मा रहती है। उस आत्मा को अब कोई क्लेश–आशय–संस्कार नहीं होता है, इसलिए उसको कहीं पर भी कोई बाधा नहीं होती है। उस विज्ञानस्वरूप आत्मा को कहीं पर भी जाना–आना नहीं होता है। उसको गमन का कोई प्रयोजन नहीं रहता है।'

गलत है यह विचारधारा। मैंने आप लोगों को कल ही बताया था कि लोकांत पर ४५ लाख योजन लंबी–चौड़ी गोलाकार स्फटिकमय सिद्धशिला है। उसको 'इषत् प्राग्भारा पृथ्वी' भी कहते हैं। सर्वकर्म का क्षय होने से, आत्मा सहजरूप से ऊर्ध्वगति कर सिद्धशिला पर पहुँच जाती है। वहाँ ही स्थिर हो जाती है।

**प्रश्न :** अनादिकाल से जीव मोक्ष में जा रहे हैं, वहाँ सिद्धशिला पर स्थिर हो जाते हैं...आज दिन तक अनंत आत्माएँ वहाँ गई हैं...जगह तो केवल ४५ लाख योजन की ही है। इतनी छोटी जगह में अनन्त आत्माएँ कैसे रहती हैं ?

**उत्तर :** जिस प्रकार एक दीपक की ज्योति में, दूसरे दीपक की ज्योति मिल जाती है, वहाँ वास्तव में दोनों ज्योति का अस्तित्व स्वतंत्र होता है, फिर भी समानता के कारण महा ज्योति दिखती है। इसी प्रकार एक सिद्ध आत्मा की ज्योति में दूसरे सिद्ध आत्मा की ज्योति मिल जाती है। फिर भी दोनों सिद्ध आत्माओं

का अस्तित्व स्वतंत्र रहता है। और, वे सभी सिद्ध आत्माएँ अरूपी होने से, एक-दूसरे को बाधक नहीं बनते ! इसलिए एक आकाशभाग में अनंत सिद्धों का समावेश हो जाता है। शास्त्रों में कहा गया है –

**जत्थ य एगो सिद्धो तत्थ अणंता भवक्खयविमुक्का ।**
**अन्नोन्नमणाबाहं चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता ।।**

'जिस लोकान्त में, आकाशभाग में एक सिद्ध है, वहाँ भवक्षय से, अत्यंत भुक्त बने हुए अनन्त सुखपूर्ण सिद्ध, एक-दूसरे को बाधा पहुँचाये बिना सुखपूर्वक रहे हुए हैं।

बात समझे न ? आपको मोक्ष में जाना है न ? वहाँ अनन्त आत्माओं के साथ..... एकरूप होकर रहने का है... तो फिर यहाँ आपकी जगह में दूसरों का समावेश करना चाहिए न ? जिसको मोक्ष प्रिय है, वहाँ का अवस्थान प्रिय है, वह महानुभाव यहाँ संसार में भी जीवों के साथ अभेदभाव से रहना पसंद करेगा न ? कुछ सोचना ! विचार करना ! सगे माता-पिता का भी घर में समावेश नहीं करनेवाले भगत लोग, मोक्ष की बातें करते हैं... उनको शरम भी नहीं आती ! वहाँ सिद्धशिला पर जिस जगह आपका आत्मद्रव्य होगा, वहाँ दूसरी आत्माएँ आती रहेगी..... वहाँ ही स्थिर रहेगी..... क्या आप उनको नहीं रहने दोगे ? सोचना ! वहाँ जाकर झगड़ा मत करना !

**सभा में से** : जब तक झगड़ा करते रहेंगे, वहाँ जा ही नहीं पायेंगे !

**महाराजश्री** : जब तक कषाय है, मुक्ति होने की नहीं है। यह बात निश्चित है। फिर भी मोक्ष में जाने की बात करनेवाले कषायों का त्याग नहीं करते। इसका तात्पर्य यह है कि वास्तव में उनको मोक्ष में जाना ही नहीं है ! केवल बातें करना है ! केवल 'भक्त' होने का दंभ करना है।

## सभी सिद्ध भगवंतों को सदा नमस्कार करें :

यदि सिद्ध-बुद्ध होना है, सिद्धिगति पाना है, तो रोजाना सभी सिद्ध भगवंतों को नमस्कार करते रहो !

'नमो सया सव्वसिद्धाणं ।।'

सिद्ध-बुद्ध बननेवाली आत्माएँ १५ प्रकार की होती हैं। इसलिए 'सव्व' शब्द का प्रयोग किया है। आज यहाँ मैं केवल १५ नाम ही बता देता हूँ। इन प्रकारों को समझाने का आज समय नहीं है। फिर कभी समझाऊँगा।

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. | तीर्थसिद्ध | २. | अतीर्थसिद्ध |
| ३. | तीर्थंकरसिद्ध, | ४. | अ–तीर्थंकरसिद्ध, |
| ५. | स्वयंबुद्ध सिद्ध, | ६. | प्रत्येकबुद्ध सिद्ध, |
| ७. | बुद्धबोधित सिद्ध, | ८. | स्त्रीलिंग सिद्ध |
| ९. | पुरुषलिंग सिद्ध, | १०. | नपुंसकलिंग सिद्ध, |
| ११. | स्वलिंग सिद्ध, | १२. | अन्यलिंग सिद्ध, |
| १३. | गृहिलिंगसिद्ध, | १४. | एक सिद्ध, १५. अनेक सिद्ध । |

सिद्ध भगवंत का प्रतिदिन ध्यान भी करना चाहिए । आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था प्राप्त करने का यह श्रेष्ठ उपाय है । आत्मसाक्षी से निर्णय करें कि 'मुझे सिद्ध–बुद्ध बनना है । अविलंब बनना है ।' इस संकल्प को रोजाना दोहराते रहो ।

'अपवर्ग–आलोचन' का यह कर्तव्य कितना उत्तम बताया है ? जो हमारा अंतिम लक्ष्य है, अंतिम ध्येय है..... उसकी स्मृति प्रतिदिन होनी ही चाहिए ।

अपवर्ग–मोक्ष का किस प्रकार चिंतन करना, कुछ विस्तार से ही बताया है । चिंतन में आपको उपयोगी बनेगा ।

आज बस, इतना ही ।

★ ★ ★

# प्रवचन : ७९

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में 'श्रावक जीवन' के विषय में विशद मार्गदर्शन दिया है। कायिक और वाचिक धर्मआराधना के विषय में तो समुचित बोध दिया ही है, मानसिक-वैचारिक भूमिका पर भी अति उत्तम मार्गदर्शन दिया है।

योगाभ्यास, नमस्कारादि चिंतन, प्रशस्त भावक्रिया, भवस्थिति का अवलोकन, भवस्थिति की असारता का चिंतन, सर्वगुणमय मुक्ति की परिभावना ! यह सारी वैचारिक भूमिका है श्रावक जीवन की ! सदैव ऐसे विचार जो करते रहें, उनका मन क्या विरक्त नहीं बनेगा ? उनके हृदय में वैराग्य का दीपक क्या नहीं जल उठेगा ? और जब संसारवास के प्रति वैराग्य पैदा होता है तब उसका मन साधुता-श्रामण्य की ओर मुड़ता ही है। उनके मन में साधुता के प्रति अनुराग पैदा होता है।

## श्रामण्य के प्रति अनुराग :

जब संसार के प्रति वैराग्य जगता है और मुक्ति का आकर्षण पैदा होता है तब एक विचार उसके मन में उठता है 'मुक्ति पाने का सही रास्ता श्रामण्य का, साधुता का ही है। साधुजीवन में ही मुक्ति का सही पुरुषार्थ हो सकता है। साधुजीवन ही निष्पाप जीवन है।'

और वह संसारविरक्त एवं मुक्तिप्रेमी जीवात्मा, साधुजीवन के विषय में विशिष्ट ज्ञान पाने का प्रयत्न करता है। वैसे विशिष्ट ज्ञानी महापुरुषों के पास जाकर, विनय से वह ज्ञान प्राप्त करता है। अच्छी तरह समझता है।

जैसे जैसे वह साधुजीवन की आराधना का ज्ञान पाता जाता है, उसके मन में साधुजीवन के प्रति अनुराग बढ़ता जाता है। उसको साधुजीवन पसंद आता है। साधुजीवन के पाँच महाव्रत अच्छे लगते हैं।

१. प्राणातिपात-विरमण महाव्रत,
२. मृषावाद-विरमण महाव्रत,
३. अदत्तादान-विरमण महाव्रत,
४. मैथुन-विरमण महाव्रत, और
५. परिग्रह-विरमण महाव्रत।

ये पाँच महाव्रत हैं। श्रावक भावना भाता है कि – 'कब ऐसा धन्य अवसर आयेगा..... कि मैं महाव्रतों को धारण करूँगा और उनका पालन करूँगा ? कब मेरा चारित्रमोहनीय कर्म टूटे और मैं श्रमण बनूँ !'

एक–एक महाव्रत के पालन के विषय में वह भावना भाता है।

## पहले महाव्रत की भावनाएँ :

– मैं श्रमण बनकर, उपयोगपूर्वक गमनागमन करूँगा। बिना उपयोग गमनागमन करने से जीवहिंसा होती है।

– मैं ४२ दोष टालकर, उपयोगपूर्वक भिक्षा ग्रहण करूँगा। उपाश्रय में आ कर प्रकाश में खड़े रहकर भिक्षा देखूँगा। मांडली के पाँच दोष नहीं लगे, वैसे मैं गौचरी करूँगा। जरा सी भी जीवहिंसा नहीं हो, वैसे उपयोग रखते हुए मैं गौचरी करूँगा।

– मैं आगमोक्त विधि से ही उपकरण–वस्त्रादि ग्रहण करूँगा और मेरे पास बिना ममत्व किये रखूँगा।

– मैं मेरे चंचल मन का ज्ञान के सहारे समाधान करता रहूँगा। मन को विशुद्ध बनाये रखूँगा। काया से विशुद्ध संयम का पालन करने पर भी दुष्ट मन पापकर्म बंधवा देता है। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का बाह्य संयम कितना श्रेष्ठ था ? फिर भी मानसिक हिंसा से विरत नहीं रह पाने से, उन्होंने सातवी नरक में जाने के कर्म उपार्जित कर लिये थे। मैं इसलिए मानसिक रूप से भी हिंसा के विचार नहीं करूँगा। सावधान रहूँगा।

– मैं जबान से पापयुक्त वचन नहीं बोलूँगा। सदैव निष्पाप वचन ही बोलूँगा। चूँकि सावद्यवचन (पापवचन) कभी हिंसा के निमित्त बन सकते हैं।

## दूसरे महाव्रत की भावनाएँ :

– मैं श्रमण बनकर जोर–जोर से हँसना बंद करूँगा। क्योंकि हँसने में कभी असत्य बोला जाता है। इसलिए हँसने में कभी असत्य न बोला जायं, इसकी सावधानी रखूँगा।

– मैं सोच–विचारकर बोलूँगा। सोचे बिना बोलने से शायद झूठ भी बोला जायें ! इससे वैर भी बंध जायं। दूसरे जीवों की जान चली जायें.... इसलिए मैं सोच–विचारकर बोलूँगा।

– परमात्मा ने कहा है : जो क्रोध, लोभ और भय का परिहार करता है, वही

मुनि है। ऐसे मुनि मोक्ष के समीप रहते हैं। मोक्ष–मार्ग पर चलते हुए वे मृषावाद का त्याग करते हैं। मैं क्रोध से मुक्त होकर मृषावाद का त्याग करूँगा।

– लोभ से अभिभूत चित्तवाला मनुष्य अत्यंत अर्थकांक्षा से एवं गलत बयान देकर असत्य बोलता है। इसलिए सत्यव्रती श्रमण को लोभ नहीं करना चाहिए। मैं लोभ का त्याग करूँगा।

– अपने प्राण, धन इत्यादि की रक्षा–सुरक्षा के डर से भी मनुष्य कभी कभी सत्य नहीं बोलता है। मैं निर्भय रहूँगा। निर्भयता को आत्मसात् करूँगा। ताकि असत्य वचन से बच सकूँ।

## तीसरे महाव्रत की भावनाएँ :

– इन्द्र, राजा, घर का मालिक, शय्यातर, साधर्मिक वगैरह की इजाजत लेकर यानी उनके अवग्रह की याचना कर, उनकी जगह में रहूँगा। क्योंकि अवग्रह की याचना करना – जिनाज्ञा है। मैं जिनाज्ञा का पालन करता रहूँगा।

– जगह के मालिक को पूछकर ही जो कुछ भी लेना होगा, लूँगा। बिना शय्यातर की आज्ञा, एक तिनका भी नहीं लूँगा।

– जगह के मालिक ने जगह दी हो, फिर भी बार–बार उसकी अनुज्ञा मांगते रहना चाहिए। पानी वगैरह फेंकने की जगह, पादप्रक्षालन करने की जगह.... वगैरह छूकर ही, उसी जगह का उपयोग करना चाहिए। ताकि जगह के मालिक को दुःख न हो, रोष न हो। मैं वैसा ही बरताव करूँगा।

– आगमोक्त विधि के अनुसार आहार–पानी लाऊँगा। गुरु को बताऊँगा, आलोचना करूँगा, गुरु या वडील की अनुज्ञा लेकर, अकेले या मांडली (समूह) में आहार–पानी करूँगा। यदि इस प्रकार नहीं करते तो 'गुरु–अदत्त' नाम का दोष लगता है।

– जिस स्थान में, जिस गाँव–नगर में, दूसरे साधु रहे हों, यदि उस स्थान में या उस गाँव–नगर में रहना होगा तो पहले से रहे हुए साधुओं की आज्ञा ग्रहण करूँगा। अन्यथा चोरी का दोष लगता है।

## चौथे महाव्रत की भावनाएँ :

– मैं स्निग्ध और मधुर आहार नहीं करूँगा। अति ज्यादा भोजन भी नहीं करूँगा। तीर्थंकरों ने कहा है कि स्निग्ध और मधुर आहार (ज्यादा घी, दूध, दहीं, मीठाई आदि) से मन में विकार पैदा होते हैं। वासनाएँ उद्दीप्त होती हैं, कामवासना

जगती है और ब्रह्मचर्य का भंग होने का भय होता है.... शरीर को भी नुकसान होता है ।

– मैं स्नान नहीं करूँगा । विलेपन नहीं करूँगा । विविध साजसज्जा नहीं करूँगा । चित्त स्नानादि में लगने से, स्वाध्यायादि छूट जाते हैं, इससे मन में अब्रह्म के, मैथुन के विचार प्रविष्ट हो जाते हैं । इसलिए मैं स्नानादि नहीं करूँगा ।

– मैं राग–अनुराग से स्त्री को देखूँगा नहीं । स्पृहा से उसके अंगोपांग देखूँगा नहीं । देखने से ब्रह्मचर्यव्रत को धक्का लगता है ।

– मैं स्त्रियों का परिचय नहीं रखूँगा । जहाँ स्त्री होगी, उस स्थान में मैं नहीं रहूँगा । जिस जगह स्त्री बैठी होगी, उस जगह पर दो घड़ी तक मैं नहीं बैठूँगा । उस स्त्री ने जिस आसनादि का उपयोग किया होगा, मैं उसका उपयोग नहीं करूँगा ।

– मैं अप्रशस्त स्त्रीकथा नहीं करूँगा । यानी निरर्थक स्त्री की शृंगारकथा नहीं करूँगा । स्त्रीकथा करने से मन में कामोन्माद जगता है ।

## पाँचवे महाव्रत की भावनाएँ :

– मैं अच्छे या बुरे शब्द में आसक्ति या द्वेष नहीं करूँगा ।

– मैं अच्छे या बुरे रूप में आसक्ति या द्वेष नहीं करूँगा ।

– मैं अच्छे या बुरे रस में राग या द्वेष नहीं करूँगा ।

– मैं अच्छी या बुरी गंध में राग या द्वेष नहीं करूँगा ।

– मैं अच्छे या बुरे स्पर्श में राग या द्वेष नहीं करूँगा ।

पंडित पुरुष जितेन्द्रिय होता है । सभी पापों से, बाह्य–आभ्यंतर परिग्रह से मुक्त होता है । शब्द–रूप आदि में राग–द्वेष करने से पाँचवे महाव्रत की विराधना होती है । इसलिए मैं उन विषयों में राग–द्वेष नहीं करूँगा ।

इस प्रकार में पाँच महाव्रतों का दृढ़ता से पालन करूँगा ।

## दशविध धर्म :

जिस प्रकार महाव्रतों का पालन करूँगा, वैसे ही मैं दश प्रकार के साधुधर्म का भी पालन करूँगा । मैं क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, संयम, त्याग, सत्य, तप, ब्रह्मचर्य और अकिंचनता का सही रूप में पालन करूँगा ।

– कोई मुझे गाली देगा, कोई मेरा अपमान करेगा, कोई मेरे पर प्रहार करेगा, तो मैं समताभाव से सहन करूँगा । मैं गाली देनेवाले की ओर, अपमान करनेवाले की ओर, प्रहार करनेवाले की ओर करुणा–दृष्टि से देखूँगा । उनके प्रति रोष,

गुस्सा या नाराजगी नहीं रखूँगा। सहने की और क्षमा करने की शक्ति को बढ़ाता रहूँगा।

– मैं मान–कषाय के ऊपर विजय प्राप्त करूँगा। मेरे मनोभावों को मृदु बनाऊँगा। हृदय को कोमल–मुलायम बनाऊँगा। मैं समझता हूँ कि मान–अभिमान हृदय को कठोर बना देते हैं। कठोर हृदय में सद्‌गुणों के बीज अंकुरित नहीं होते ! इसलिए मैं नम्रता को यथावत् रखने के लिए प्रयत्नशील रहूँगा ! नम्रता को यथावत् रखने के लिए मैं सदैव मेरे दोषों को देखता रहूँगा। दूसरे मनुष्यों के गुण देखता रहूँगा। मैं जानता हूँ कि मेरी आत्मा में अनंत दोष भरे पड़े हैं। मैं किस बात पर अभिमान करूँ ?

– मैं सरल बना रहूँगा। बच्चों जैसी सरलता मुझे पसंद है। सरलता को मैं महान् धर्म मानता हूँ। बच्चा कितना सरल होता है ? वह जो कुछ करता है, माँ से सब कुछ कह देता है। वैसे ही मैं गुरुदेव के समक्ष बालक बनकर मेरे मन–वचन–काया के छोटे–बड़े दोष कह दूँगा। किसी भी पाप को मेरे भीतर छुपाये नहीं रखूँगा। सरलता से मैं मेरे चित्त की प्रसन्नता बनाये रखूँगा। पापों से बचता रहूँगा।

– मैं समझता हूँ कि लोभ और तृष्णा आत्मा को गन्दी और अपवित्र बना डालती है, इसलिए मैं लोभ–तृष्णा का त्याग करूँगा। मैं पवित्र बना रहूँगा। आन्तरिक पवित्रता–विशुद्धि प्राप्त करने का मेरा निश्चय होगा। आंतर विशुद्धि ही मेरा शौचधर्म होगा।

– हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से विरत बनूँगा। पाँच इन्द्रियों का निरोध करूँगा। चार कषायों को उपशान्त करूँगा और मन–वचन–काया की अशुभ प्रवृत्तियों को रोकूँगा। यही मेरा संयम होगा। मैं दृढ़तापूर्वक संयमधर्म का पालन करता रहूँगा।

– मैं किसी भी जीव को मरणांत कष्ट नहीं दूँगा। किसी भी जीव को बंधन में नहीं डालूँगा। जीवों के साथ दयापूर्ण व्यवहार करूँगा। वैसे, मैं संयमी साधुपुरुषों को भोजन, वस्त्र, पात्र आदि दूँगा। साधु, साधु के साधर्मिक होते हैं। मैं सभी मेरे साधर्मिक साधुओं के प्रति अच्छा उचित व्यवहार करूँगा।

– जो स्व और पर के लिए हितकारी होगा, वही बोलूँगा। कुछ ऐसी बातें होंगी, जो मेरे लिए हितकारी होंगी परंतु दूसरों के लिए अहितकारी होंगी, वैसी बातें मैं नहीं करूँगा। विसंवादी बातें नहीं करूँगा। असत्य नहीं बोलूँगा। सत्यनिष्ठा को मैं महान् धर्म समझूँगा।

– कर्मक्षय के लिए मैं तप करूँगा। बाह्य तप के साथ मैं आभ्यंतर तप की आराधना करता रहूँगा। बाह्य तप के द्वारा आभ्यंतर तप में मेरा विकास होता रहे–यह लक्ष्य रखूँगा।

– ब्रह्मस्वरूप आत्मा में लीनता प्राप्त करने के लिए मैं अब्रह्ममैथुन से निवृत्त होऊँगा। मन से भी मैथुन का त्याग करने का मेरा प्रयत्न रहेगा। यानी मन से मैथुन के विचार भी नहीं करूँगा। मैं ऐसे ही स्थान में रहूँगा कि जहाँ ब्रह्मचर्य का सरलता से पालन हो सके। मैं भोजन भी वैसा ही करूँगा, जो ब्रह्मचर्य के पालन में सहायक बनें। तपश्चर्या भी इस अभिगम से ही करूँगा। दर्शन, श्रवण, पठन... अध्ययन सब कुछ इसी दृष्टि से करूँगा कि ब्रह्मचर्य का पालन भली–भाँति हो सके। मुझे परम ब्रह्म की लीनता प्राप्त करना है, इसलिए मैं ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा ही।

– मैं संयम के उपकरणों के अलावा कुछ भी ग्रहण नहीं करूँगा। नहीं संग्रह करूँगा। मुझे अपरिग्रही बनकर जीना है। मुझे मूर्च्छा से – आसक्ति से बचना होगा। किसी भी पुद्गल–पदार्थ के ऊपर ममता न हो जायं, इस बात की मैं सावधानी बरतूँगा।

– भूतकालीन पापों का क्षय करने के लिए और वर्तमान जीवन निष्पाप एवं प्रसन्नतापूर्ण बनाने के लिए यह दशविध धर्म अद्भुत उपाय है। मेरी यह भावना है कि मैं मन–वचन–काया से इस दशविध धर्म की आराधना कर मेरी गुणसमृद्धि को बढ़ाता रहूँ।

कब ऐसा धन्य अवसर मेरे जीवन में आयेगा... कि मैं जिनेश्वर भाषित श्रमण धर्म की आराधना करनेवाला बनूँगा ?

## १७ प्रकार के संयम का पालन :

– एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों का मैं मन–वचन–काया से संरंभ, समारंभ या आरंभ नहीं करूँगा, नहीं करवाऊँगा और करने में अनुमति भी नहीं दूँगा।

– प्रमाद वगैरह दोषों के कारण एवं तथाविध बुद्धि–आयुष्य–श्रद्धा–संवेग और बल वगैरह की हीनता के कारण, साधुओं के प्रति अनुग्रह की बुद्धि से पुस्तक वगैरह की प्रमार्जना–प्रतिलेखना करता रहूँगा।

– जिस भूमि पर शयन करना होगा, सर्वप्रथम मैं उस भूमि को आँखों से देखूँगा... दृष्टि–प्रतिलेखना करूँगा।

– कोई साधु संयमधर्म के पालन में ढीला पड़ा होगा, उसका मन चंचल बन गया होगा तो मैं उसको प्रेम से प्रेरणा देकर, संयमधर्म में स्थिर करूँगा। वैसे कोई शिथिल साधु होगा, असंयम की प्रवृत्ति करता होगा, साधुधर्म का पालन छोड़ दिया होगा... केवल साधु का वेष ही पहना होगा... ऐसे साधुओं की मैं उपेक्षा करूँगा। उनके प्रति भावकरुणा का ही चिंतन करूँगा।

– जिस स्थान में, मकान में रहना होगा उस मकान की प्रमार्जना करूँगा। वस्त्र–पात्र आदि का प्रमार्जन करूँगा। प्रमार्जन करके ही उसका उपयोग करूँगा।

– जो भोजन, पानी, वस्त्र, पात्र आदि जीवयुक्त हो गया होगा, जो विशुद्ध नहीं होगा... जो उपयोगी नहीं होगा, उसको जीवरहित स्थान में विधिपूर्वक डाल दूँगा।

– मैं मेरे मन का संयम रखूँगा। द्रोह, ईर्ष्या, अभिमान आदि दोषों से निवृत्त होऊँगा और धर्मध्यान में निमग्न बनूँगा।

– मैं मेरी वाणी का संयम रखूँगा। हिंसाप्रेरक एवं परुष भाषा का प्रयोग नहीं करूँगा। प्रशस्त भाषा का प्रयोग करूँगा।

– मैं मेरी काया का संयम रखूँगा। आवश्यक कार्य करने में एवं गमनागमन करने में उपयोग..... कोई जीव मर न जायं!

## १० प्रकार की वैयावच्च :

१. मैं जिस आचार्य के सान्निध्य में रहूँगा, उनकी भाव से सेवा–शुश्रूषा करता रहूँगा।

२. मैं जिस उपाध्याय के पास अध्ययन करूँगा, उनकी भाव से सेवा–भक्ति करता रहूँगा।

३. साधुसमुदाय में जो तपस्वी साधु होंगे, जो हमेशा तप करते होंगे, मैं उनकी सेवा–भक्ति–विश्रामणा करता रहूँगा।

४. जो नये साधु बने होंगे, उम्र में जो छोटे होंगे, उनकी मैं सेवा–भक्ति करूँगा, उनको योग्य भिक्षा लाकर दूँगा!

५. जो साधु ग्लान–रोगी–बीमार होंगे, मैं उनकी सेवा करूँगा। उनको दवा, अनुपान दूँगा, समता–समाधि दूँगा।

६. समुदाय में जो स्थविर साधु होंगे, उम्र में बड़े और ज्ञान में बड़े – उनकी भी मैं उचित सेवा करूँगा।

७. हमारे समान आचार मर्यादावाले दूसरे साधु हमारे पास आयेंगे, तब उनका उचित स्वागत करेंगे, योग्य धर्मसाधनों से उनकी सेवा–भक्ति करेंगे ।

८. साधु–साध्वी–श्रावक और श्राविका, यह चतुर्विध संघ है । अवसर आने पर, चतुर्विध संघ की भी वैयावच्च करूँगा । शास्त्रीय मार्गदर्शन के अनुसार, संघ के चारों अंगों की उचित सेवा करूँगा ।

९. एक आचार्य के पास अध्ययन करनेवाले साधुओं की उचित सेवा करूँगा, यानी 'कुल' की सेवा करूँगा ।

१०. 'गण' की सेवा करूँगा । अनेक आचार्यकुलों के समूह को गण कहते हैं ।

तीर्थंकर भगवंतों ने 'वैयावच्च' गुण को श्रेष्ठ बताया है । मैं वैयावच्च करने में प्रमाद नहीं करूँगा । वैयावच्च का उत्कृष्ट गुण जिनमें था, वैसे नंदिषेण मुनि वगैरह को मेरे आदर्श मानूँगा । उनके पदचिह्नों पर चलने का प्रयत्न करूँगा ।

मुझे ऐसा श्रमण जीवन बहुत अच्छा लगता है ।

## ९. ब्रह्मचर्य–गुप्ति का पालन :

ब्रह्मचर्य–व्रत का पालन करने के लिए मैं नौ गुप्ति का पालन करने में तत्पर रहूँगा ।

१. स्त्री–पशु और नपुंसक से रहित बसती (स्थान) में मैं रहूँगा ।

२. स्त्रियों के साथ एकान्त में बातें नहीं करूँगा । औरों के समक्ष भी स्त्री–संबंधित बातें नहीं करूँगा ।

३. स्त्री के साथ एक आसन पर नहीं बैठूँगा । जिस जगह पर स्त्री बैठी होगी, उस जगह पर ४८ मिनट तक मैं नहीं बैठूँगा ।

४. स्त्री के शरीर के अंगोपांग नहीं देखूँगा, स्त्री का चिंतन नहीं करूँगा ।

५. पति–पत्नी का वार्तालाप नहीं सुनूँगा ।

६. गृहस्थ जीवन में की हुई काम–क्रीड़ा का साधुजीवन में स्मरण नहीं करूँगा ।

७. मैं अति स्निग्ध और अति मधुर भोजन नहीं करूँगा ।

८. रूक्ष आहार भी अधिक मात्रा में नहीं लूँगा ।

९. स्नान, विलेपन.... साज–सज्जा आदि शरीर–विभूषा नहीं करूँगा ।

## रत्नत्रयी का पालन :

श्री तीर्थंकर भगवंतों ने कहा है कि सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र – तीन रत्न हैं । सम्यग् दर्शन–ज्ञान–चारित्राणि मोक्षमार्गः । यह मोक्षमार्ग है ।

– ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जो अवबोध आत्मा में प्रगट होता है, वह सम्यग् ज्ञान होता है । मैं सम्यग् ज्ञान की आराधना करता रहूँगा । गुरुविनय करता हुआ श्रुतज्ञान की प्राप्ति का पुरुषार्थ करता रहूँगा ।

– विशुद्ध देव–गुरु–धर्मतत्त्व के ऊपर मेरी श्रद्धा बनी रहेगी और जिनोक्त नौ तत्त्वों के प्रति मेरी ज्ञानमूलक श्रद्धा अखंड रहेगी ।

– सभी पापप्रवृत्तियों का, मन–वचन–काया से मैं त्याग करूँगा । सर्वविरतिमय चारित्रधर्म का दृढ़ता से पालन करूँगा । प्राणों से भी ज्यादा महत्त्व चारित्रधर्म का समझूँगा ।

## १२ प्रकार का तप :

तीर्थंकर भगवंतों ने कहा है : जो कर्मों को नष्ट करे वह तप है । कर्मों को जो तपाये, जलाये.... नष्ट करे, उसे तप कहा जाता है । अनादिकाल से आत्मा और कर्म का संयोग है । जब तक आत्मा कर्मों से आबद्ध है, तब तक वह संसारी है, और जब तक संसारी है तब तक जन्म–जीवन और मृत्यु के दुःखों से जीवात्मा छूट नहीं सकती । परम सुखमय मोक्षदशा प्राप्त करने का पुरुषार्थ करने के लिए जिन्होंने मुनिव्रत स्वीकार किया है, वैसे मुनिजनों को चाहिए कि वे अपने जीवन में तपश्चर्या को समुचित स्थान दें । यानी जीवन को तपोमय बनायें ।

तपश्चर्या के मुख्य दो भेद बतलाये गये हैं : १. बाह्य तप और २. आभ्यंतर तप । दोनों तप के छह–छह प्रकार हैं । मैं श्रमण बनकर उन सभी प्रकार की तपश्चर्या करूँगा ।

१. मैं उपवास, छट्ठ, अट्ठम.... इत्यादि तप करता रहूँगा ।

२. मैं ३२ कवल से ज्यादा आहार नहीं ग्रहण करूँगा । ३२ कवल में से भी घटाता जाऊँगा... घटाते–घटाते सिर्फ आठ कवल का ही आहार ग्रहण करूँगा ।

३. गृहस्थ के वहाँ से मैं परिमित भिक्षा ग्रहण करूँगा ।

४. दूध, दही, घी, मक्खन..... गुड़ और तेल, ये सारी विकृतियाँ हैं । मैं यथाशक्ति इनका त्याग करूँगा ।

५. मैं कायोत्सर्गध्यान में खड़ा रहूँगा। धूप में खडे रहकर आतापना लूँगा। कड़ाके की सर्दी में, एकान्त में निर्वस्त्र हो ध्यानस्थ बनूँगा। जानबूझकर काया को कष्ट दूँगा।

६. मैं इन्द्रिय संलीनता करूँगा। जिस प्रकार कछुआ अपने अंगोपांग को छूपा कर रखता है, उस प्रकार मैं भी शरीर का फिजूल हलन–चलन, इन्द्रियों का निरर्थक गमनागमन नहीं करूँगा। प्रयत्नपूर्वक काया को स्थिर रखने का प्रयत्न करूँगा। शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श के विषयों में जाती हुई इन्द्रियों को रोकूँगा।

– जिस तरह इन्द्रियों की संलीनता को तप कहा गया है, उसी प्रकार मन की संलीनता को भी तप कहा गया है। मैं आर्तध्यान से एवं रौद्रध्यान से मन को मुक्त रखने के लिए जाग्रत रहूँगा। जब–जब मन में क्रोध, मान, माया या लोभ उठता है उस वक्त मन संलीन नहीं रह पाता है, उद्विग्न होता है.... संतप्त रहता है, इसलिए मैं कषायों के उदय को ही रोक दूँगा। मैं मेरे मन को ज्ञानोपासना में, ध्यान–साधना में और चारित्र की क्रियाओं में जोड़कर रखूँगा। इतना कुछ करने पर भी प्रमाद या असावधानी से कषाय कभी–कभार मन में आ जायेंगे, तो उसे उपशान्त करने के उपाय खोजूँगा।

ज्ञानी पुरुषों ने कहा है कि मुनि जीवन जीनेवालों को, इन छह प्रकार के तप का आदर करना होता है और जीवन में जीने का होता है। तपश्चर्या से कर्मों की निर्जरा होती है। कर्मों की निर्जरा करके आत्मविशुद्धि करने की चाहना रखनेवाले मुनि को बाह्य तप अवश्य करना होता है। मैं अवश्य बाह्य तप करूँगा।

मैं छह प्रकार का आभ्यंतर तप भी करूँगा।

– जिससे अपना चित्त शुद्ध हो, उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। मैं गुरुचरणों में बैठकर, विनयपूर्वक मेरे पापों को प्रगट करूँगा, अतिचार निवेदन करूँगा और गुरुदेव जो भी प्रायश्चित्त देंगे, उसका स्वीकार करूँगा।

– आर्तध्यान और रौद्रध्यान का त्याग करूँगा। और इस प्रकार चित्तवृत्ति निरोध रूप ध्यान करूँगा। मैं धर्मध्यान करूँगा।

– आज्ञा विचयरूप धर्मध्यान करूँगा।

– विपाक विचयरूप धर्मध्यान करूँगा।

– संस्थान विचयरूप धर्मध्यान करूँगा।

कब मेरा भाग्योदय होगा..... कि मैं 'शुक्लध्यान' भी कर सकूँगा ? शोक,

संताप, दुःख..... परिताप का सर्वथा नाश करनेवाला शुक्लध्यान मुझे करना है....किस जनम में यह संभव होगा ?

– मैं आचार्य, उपाध्याय, ग्लान, बाल आदि मुनिजनों की शरीर–सुश्रूषा करूँगा। उनके लिए भिक्षा, पानी, वस्त्र–पात्र वगैरह लाऊँगा। मुनिजनों की अत्यन्त विनम्र और प्रसन्नचित्त बनकर वैयावच्च करूँगा। सेवा करते हुए 'मैं दूसरों पर उपकार कर रहा हूँ,' ऐसा विचार कभी नहीं करूँगा। 'आचार्य वगैरह मुझे सेवा का अवसर देकर, मेरे पर उपकार कर रहे हैं,' ऐसे विचार करूँगा।

– जो विनय करने लायक हो, उनका विनय करने से, पापकर्म नष्ट होते हैं, इसलिए 'विनय' को तप कहा गया है। पूज्य पुरुष जब आयेंगे तब मैं खड़ा होऊँगा, सर पर अंजलि रचाऊँगा, उन्हें वंदना करूँगा, उनका चरण प्रक्षालन करूँगा, बैठने के लिए आसन दूँगा.... वगैरह अनेक प्रकार से विनय करूँगा।

– साधु को संग्रही–परिग्रही नहीं होने का है। मेरे पास जो भी ज्यादा उपकरण वगैरह होंगे, मैं उसका त्याग करूँगा। शास्त्रीय पद्धति से त्याग करूँगा। यदि भूल से दोषित भिक्षा–पानी आ गये होंगे तो, उसका भी त्याग करूँगा। वैसे, यदि कभी–कभार मिथ्यादर्शनों के प्रति अनुराग हो जायेगा, तो उस अनुराग का त्याग करूँगा।

– मैं प्रति दिन–रात पाँच प्रहर स्वाध्याय करूँगा।

– सद्गुरु के चरणों में विनयपूर्वक बैठकर, सूत्र–अर्थ ग्रहण करूँगा।

– संदेह–शंका दूर करने के लिए विनयपूर्वक प्रश्न पुछूँगा।

– मन में आगम तत्त्वों का अनुचिंतन करूँगा।

– सूत्रपाठ का शुद्धिपूर्वक उच्चार करूँगा।

– औरों को धर्मोपदेश देता रहूँगा।

आभ्यंतर तप में जितना सहायक होगा, उतना ही बाह्य तप करता रहूँगा। इन्द्रियों की हानि न हो, उस प्रकार बाह्य तप करूँगा।

'मैं तपस्वी कहलाऊँगा, मेरी प्रशंसा होगी.....' इस भावना से मैं तप नहीं करूँगा। तप का अभिमान न आ जायं, ऐसी मैं सावधानी रखूँगा।

## चार कषायों का त्याग :

– क्रोध सभी जीवों के चित्त में परिताप पैदा करता है, उद्वेग पैदा करता है, वैर का अनुबंध पैदा करता है और मोक्षमार्ग अवरुद्ध करता है, इसलिए मैं क्रोध नहीं करूँगा। क्रोध का उदय नहीं होने दूँगा।

– श्रुत–शील और विनय को दूषित करनेवाले एवं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ में विघ्नकारक ऐसे मान को मैं एक पल भी मेरे मन में स्थान नहीं दूँगा ।

– मायावी मनुष्य, चाहे मायाजनित कोई भी अपराध या गुन्हा नहीं करता हो, फिर भी स्वयं के माया–दोष से कलंकित होने से वह साँप की भाँति अविश्वसनीय बनता है । इसलिए मैं कभी भी माया नहीं करूँगा ।

– सारे नुकसानों का आश्रय स्थान और सारे दुःखों का राजमार्ग है लोभ । ऐसे लोभ का जो जीव शिकार बनता है, वह कौन–सा सुख प्राप्त करता है ? सभी सुख लोभी से दूर रहते हैं । इसलिए मैं लोभ नहीं करूँगा ।

## चरणसित्तरी :

इस प्रकार श्रावक–श्राविका जब श्रमण धर्म के, साधु धर्म के अनुरागी बनते हैं तब ७० प्रकार के चारित्र धर्म की आराधना के मनोरथ उनके चित्त में पैदा होते हैं । ५ महाव्रत, १० श्रमण धर्म, १७ संयम, १० वैयावच्च, ९. ब्रह्मचर्यगुप्ति, ३ ज्ञानादि, १२ तप और ४ क्रोधादि कषायों का त्याग ।

ऐसे मनोरथ करता हुआ श्रावक.... विपुल कर्मनिर्जरा करता है, उसकी आत्मा विशुद्धि के पथ पर आगे बढ़ती जाती है । वह श्रेष्ठ कोटि के श्रमण जीवन की जीने की भावना करता है ।

आज बस, इतना ही ।

★ ★ ★

# प्रवचन : ८०

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में 'श्रावक जीवन' के विषय में समुचित मार्गदर्शन दिया है। बाह्य दिनचर्या के साथ साथ आंतरिक मनःशुद्धि के उपाय भी बताये हैं। इन उपायों को आप लोग भूल ही गये हो। इसी कारण मन की अशुद्धि, विचारों की मलीनता बढ़ गई है। और जिसकी मनोवृत्ति अशुद्ध होती है, उसकी प्रवृत्ति भी प्रायः अशुद्ध होती है। अशुद्ध वृत्ति-प्रवृत्ति से क्लेश, संताप, उद्वेग... राग-द्वेष आदि अशुभ तत्त्व बढ़ते जाते हैं। निरंतर पापकर्मों का बंधन होता रहता है। परिणाम.... जानते हो ? भविष्यकाल अंधकारमय, दुःखपूर्ण बन जायेगा।

ऐसी दुःखमय स्थिति का निर्माण नहीं करना है, तो दृढ़ता के साथ मनःशुद्धि के उपाय करते रहो –

१. योगाभ्यास करते रहो।

२. नमस्कारादि चिंतन करते रहो।

३. प्रशस्त भावक्रिया करते रहो।

४. भवस्थिति का अवलोकन करते रहो।

५. भवस्थिति की निःसारता का चिंतन करते रहो।

६. मोक्ष की उपादेयता की परिभावना करते रहो।

इतना चिंतन-मनन प्रतिदिन करते रहोगे तो अवश्य श्रमणधर्म के प्रति, चारित्रधर्म के प्रति अनुरागी बनोगे। चारित्रधर्म आपको प्रिय लगेगा। और, मनुष्य-मन का ऐसा स्वभाव होता है कि उसको जो पसंद आ जाता है, उसको ग्रहण करने की इच्छा प्रगट होती ही है। जो प्रिय लगता है, उसके विचार मन में आते ही रहते हैं।

श्रमणधर्म प्रिय लगने पर, 'मैं श्रमण बनकर.... ऐसी ऐसी आराधना करूँगा,' ये विचार मन में घुमराते ही रहते हैं। ऐसे कुछ विचार, कुछ भावनाएँ.... कल बतायी थी। 'चरण सित्तरी' की ७० बातें बतायी थी। आज भी कुछ भावनाएँ बताता हूँ। इससे आप लोगों को चिन्तन-मनन करने की पद्धति मालुम होगी।

## १० प्रकार की साधु–सामाचारी :

श्रमणों के परस्पर व्यवहार की आचारसंहिता 'दशविध सामाचारी' नाम से प्रसिद्ध है ।

**१. 'इच्छाकार' सामाचारी :** मुझे मेरा काम दूसरे साधुओं से कराना होगा तो उन साधुओं की इच्छा होगी तो ही कराऊँगा । उनकी इच्छा जानने का प्रयत्न करूँगा । उनके ऊपर जबरदस्ती नहीं करूँगा । इसी तरह दूसरों का काम करने की मेरी इच्छा होगी, तो भी मैं उन्हें पूछकर ही उनका काम करूँगा । हालाँकि निष्प्रयोजन तो दूसरों से मैं मेरा काम कराऊँगा ही नहीं; परंतु अशक्ति, बीमारी, अपंगता आदि कारणों से कराना पड़ेगा तो, जो दीक्षापर्याय में मेरे से छोटे साधु होंगे उनको पुछूँगा – 'मेरा यह काम करोगे क्या ?' इसी तरह कर्मनिर्जरा के हेतु से, मुझे दूसरों का काम करना होगा तो मैं पुछूँगा – 'आपका यह काम क्या मैं कर सकता हूँ ?'

**२. दूसरी है 'मिथ्याकार' सामाचारी :** साधुजीवन के व्रत–नियमों का पालन करने में जाग्रत रहूँगा, फिर भी अगर कोई गलती हो जायेगी तो उसकी शुद्धि के लिए 'मिच्छामि दुक्कडं' कहूँगा । जैसे कि छींक आयी और मुँह के आगे वस्त्र नहीं रहा, बाद में ध्यान आने पर तुरंत 'मिच्छामि दुक्कडं' कहना होगा । मैं कहूँगा । परंतु जान–बूझकर जो दोष–भूल करता है, बार–बार करता है, तो उन भूलों की शुद्धि 'मिच्छामि दुक्कडं' से नहीं होती है ।

**३. तीसरी सामाचारी है 'तथाकार' की :** सद्गुरु के वचन, बिना किसी विकल्प के, 'तहत्ति' कहकर स्वीकार कर लूँगा । तहत्ति यानी 'मुझे आपकी आज्ञा स्वीकार्य है ।'

**४. चौथी सामाचारी है 'आवश्यकी' :** आवश्यकी का अर्थ है 'आवस्सही' । ज्ञान–दर्शन–चारित्र की आराधना के लिए, गुरु–आज्ञा से मकान के बाहर निकलते ही 'आवस्सही' बोलकर निकलूँगा । आवश्यक कार्य के लिए बाहर जाना, उसे आवश्यकी कहते हैं ।

**५. पाँचवी सामाचारी है नैषेधिकी :** नैषेधिकी को 'निस्सीही' कहते हैं । आवश्यक कार्य पूर्ण करके मैं मकान में प्रवेश करूँगा तब 'निस्सीही' बोलकर प्रवेश करूँगा ।

**६. छट्ठी सामाचारी है 'पृच्छा' :** कोई काम करना होगा तो गुरुदेव को पुछूँगा

कि 'भगवन्, क्या मैं यह काम करूँ ?' यदि वे अनुमति देंगे, तो ही मैं काम करूँगा ।

**७. सातवी सामाचारी है 'प्रतिपृच्छा'** : पहले किसी काम के लिए गुरुदेव ने मना कर दिया हो, परंतु वर्तमान में वह काम उपस्थित होने पर पुनः गुरुदेव को पूछें कि – 'भगवन्, पहले आपने यह काम करने के लिए मना किया था, परंतु अब इसका प्रयोजन है । अगर आपकी आज्ञा हो तो मैं यह कार्य करूँ ?' गुरुदेव जैसा कहेंगे, वैसे करूँगा ।

प्रतिपृच्छा का दूसरा अर्थ यह है कि किसी काम के लिए गुरुदेव ने अनुमति दे दी हो, तो भी वह कार्य शुरू करते समय पुनः गुरुदेव को पूछना चाहिए ।

**८. आठवी सामाचारी है 'छंदणा'** : मैं भिक्षा लाकर मेरे सहवर्ती साधुओं को कहूँगा : 'मैं गोचरी लेकर आया हूँ, जिन्हें जो उपयुक्त हो, वह इच्छानुसार ग्रहण करें ।'

**९. नौवी सामाचारी है 'निमंत्रणा'** : गोचरी जाते समय सहवर्ती साधुओं को पुछूँगा कि 'मैं आपके लिए क्या गोचरी लाऊँ ?' यदि वे अनुमति देंगे, तो मैं उनके लिए गोचरी लाऊँगा ।

**१०. दसवीं सामाचारी है 'उपसंपदा'** : विशिष्ट ज्ञान–दर्शन–चारित्र की आराधना के लिए एक गुरुकुल से दूसरे गुरुकुल में जाना पड़ेगा तो विधिपूर्वक जाऊँगा ।

## उपसर्ग और परिसह :

जिस प्रकार सामाचारी का पालन, साधु जीवन में करना है, वैसे उपसर्ग एवं परिसहों को सहन भी करना है । उपसर्ग का अर्थ है कष्ट, आपत्ति । ये उपसर्ग तीन प्रकार के होते हैं – देवकृत, मनुष्यकृत और तिर्यंचकृत । देव और मनुष्य जो उपसर्ग करते हैं, वे दो प्रकार के होते हैं – अनुकूल और प्रतिकूल । भोग–संभोग की प्रार्थना आदि अनुकूल उपसर्ग हैं । मारना, लूटना, तंग करना वगैरह प्रतिकूल उपसर्ग हैं ।

जिनको अंतरंग शत्रु काम–क्रोध–लोभ आदि पर विजय प्राप्त करने की साधना करनी हो, उन्हें ये उपसर्ग समताभाव से सहन करने चाहिए । मैं भी समताभाव से उपसर्ग सहन करूँगा ।

अब 'परिसहों' की बात करता हूँ ।

मोक्षमार्ग में स्थिर होना और कर्मनिर्जरा के लिए सम्यक् सहन करने को परिसह कहते हैं। ये परिसह, जीवन की स्वाभाविक परिस्थितियों में से उत्पन्न हुए कष्ट होते हैं। परिसहों में कोई देव, मनुष्य या पशु के अनुकूल-प्रतिकूल हमले नहीं होते हैं। परिसह का उद्‌भव-स्थान मनुष्यों का स्वयं का मन होता है। बाह्य निमित्तों को प्राप्त कर, मन में उठता हुआ क्षोभ है। परिसह २२ प्रकार के हैं -

१. मैं क्षुधा को समताभाव से सहन करूँगा।
२. मैं प्यास को भी समताभाव से सहन करूँगा।
३. मैं सर्दी लगने पर सहन करूँगा।
४. मैं गर्मी को समभाव से सहन करूँगा।
५. मैं मच्छर आदि के उपद्रव सहन करूँगा।
६. मैं जीर्ण वस्त्र पहनूँगा।
७. मैं संयमधर्म में अरुचि नहीं होने दूँगा।
८. स्त्री-दर्शन होने पर मन में विकार पैदा नहीं होने दूँगा।
९. मैं उग्र विहार करता रहूँगा।
१०. मैं एकान्त स्थान में रहूँगा।
११. ऊँची-नीची जमीन पर समतापूर्वक रहूँगा।
१२. कोई मेरे प्रति क्रोध करेगा, तिरस्कार करेगा, मैं सहन करूँगा।
१३. कोई मेरे ऊपर प्रहार करेगा, मैं सहन करूँगा।
१४. मैं भिक्षा मांगने में संकोच का अनुभव नहीं करूँगा।
१५. इच्छित वस्तु नहीं मिलने पर निराश नहीं बनूँगा।
१६. रोग उत्पन्न होने पर समतापूर्वक सहन करूँगा।
१७. शरीर को घास वगैरह का कर्कश स्पर्श होने पर सहन करूँगा।
१८. शरीर के ऊपर मैल जमने पर.... उद्विग्न नहीं बनूँगा।
१९. मान-सम्मान मिलने पर समभाव रखूँगा।
२०. बुद्धि का गर्व नहीं करूँगा।
२१. प्रयत्न करने पर भी ज्ञान प्राप्त नहीं होगा, तो निराश नहीं होऊँगा।
२२. जिनवचनों में शंका, संदेह नहीं होने दूँगा।

मैं इन परिसहों में विचलित नहीं होऊँगा। परिसहों को सम्यक् भाव से सहन

करूँगा। इससे मोक्षमार्ग में स्थिरता प्राप्त होती है और कर्मों की निर्जरा होती है।

## पाँच आचारों का पालन :

जिस प्रकार उपसर्ग–परिसहों को सम्यक् रूप से सहन करने की आराधना करना है, वैसे पंचाचारों का भी सही रूप में पालन करना है। मोक्षमार्ग की आराधना के प्रमुख पाँच मार्गों को पंचाचार कहा जाता है।

**१. मैं पहले ज्ञानाचार का सम्यक् पालन करूँगा।**

– आगमग्रंथों के अध्ययन के लिए शास्त्रकारों ने कालनिर्णय किया है, उस काल में ही मैं अध्ययन करूँगा।

– ज्ञानी, ज्ञान के साधन और ज्ञान का विनय करते हुए मैं ज्ञानार्जन करता रहूँगा।

– ज्ञान और ज्ञानी के प्रति मैं चित्त में प्रीति धारण करूँगा।

– जिन जिन सूत्रों के अध्ययन हेतु शास्त्रकारों ने जो तप करने का विधान बताया है, वह तप करके ही शास्त्र का अध्ययन करूँगा। इससे यथार्थ रूप में सूत्र की धारणा हो जाती है।

– अभिमान–वश या स्वयं की शंका से श्रुतगुरु का या श्रुत का अपलाप नहीं करूँगा।

– अक्षर–शब्द–वाक्य का शुद्ध उच्चारण करूँगा।

– अक्षरादि से अभिधेय अर्थ का विचार करूँगा।

– व्यंजन–अर्थ में फेरफार किये बिना तथा सम्यक् उपयोग रखकर पढ़ाई करूँगा।

**२. मैं दर्शनाचार का सम्यक् पालन करूँगा।**

– मैं जिनवचन में संदेह नहीं रखूँगा।

– मिथ्या दर्शनों की आकांक्षा नहीं रखूँगा।

– 'साधु मलीन हैं....' ऐसी जुगुप्सा नहीं करूँगा।

– तपस्वी, विद्यावंत ऐसे मिथ्यात्वी बाबा–जोगी के चमत्कार देखकर चलित नहीं होऊँगा।

– साधर्मिक मनुष्यों के दान–शीलादि सद्गुणों की प्रशंसा करके, उनके सद्गुणों की वृद्धि करूँगा।

– धर्म के विषय में चंचल बने हुए मनुष्यों को हित–मित–पथ्य वचनों से, धर्म में पुनः स्थिर करूँगा ।

– समान धार्मिकों की, भोजन–वस्त्र आदि द्वारा भक्ति करूँगा ।

– धर्मकथा, वादीविजय, दुष्कर तप.... आदि करके जिनशासन की प्रभावना करूँगा ।

**३. मैं चारित्राचार का सम्यक् पालन करूँगा ।**

– ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, निक्षेपणा समिति और पारिष्ठापनिका समिति का मैं सम्यक् पालन करूँगा ।

– मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति का सम्यग् पालन करूँगा ।

**४. मैं तपाचार का सम्यक् पालन करूँगा ।**

– अनशन, उणोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसत्याग, कायक्लेश और संलीनता – इन छः बाह्य तप का मैं सम्यक् पालन करूँगा ।

– प्रायश्चित्त, विनय, वैयावच्च, स्वाध्याय और ध्यान – इन छः प्रकार के आभ्यंतर तप से मैं मेरी आत्मा को विशुद्ध करूँगा ।

**५. मैं वीर्याचार का सम्यक् पालन करूँगा ।**

ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार और तपाचार में मन–वचन–काया का वीर्य स्फुरित करके मैं संयमधर्म का सुंदर पुरुषार्थ करूँगा ।

इस प्रकार पंचाचार का निर्मल रूप से पालन करनेवाली आत्मा मोक्षमार्ग पर प्रगति करती है और अंत में मोक्ष प्राप्त करती है ।

## करण सप्तति :

मैं 'करण सप्तति' का भी सम्यक् पालन करूँगा ।

जिसका आचरण रोजाना करना होता है वह 'चरण' कहलाता है । जिसका आचरण प्रयोजन आने पर करना पड़ता है, उसे 'करण' कहा जाता है । जैसे कि पिंडविशुद्धि । गौचरी आदि ग्रहण करते समय ही पिंडविशुद्धि का उपयोग रखना पड़ता है, शेष समय में नहीं । मोक्षार्थी मुनिवर के लिए करने योग्य कर्तव्यों को 'करण' कहा जाता है । 'करण' के भी ७० प्रकार बताये गये हैं । इस करण सप्तति का पालन, चरण सप्तति के पालन में सहायक होता है ।

अब मैं 'करण सप्तति' की बातें बताता हूँ ।

– सर्वप्रथम है पिंडविशुद्धि । मैं ४२ दोषरहित आहार–पानी, मकान, वस्त्र और पात्र ग्रहण करूँगा ।

मैं पाँच समिति का पालन करूँगा ।

१. त्रस और स्थावर जीवों को अभयदान देने की भावना को हृदय में रखता हुआ, नीचे देखकर चलूँगा । किसी भी जीव की हिंसा न हो, कोई जीव पैरों तले कुचला न जायं, इसकी सावधानी रखता हुआ चलूँगा ।

२. पापयुक्त भाषा नहीं बोलूँगा । सच बोलूँगा । अप्रिय भाषा का प्रयोग नहीं करूँगा ! सभी जीवों के लिए हितकारी एवं असंदिग्ध भाषा का प्रयोग करूँगा ।

३. मैं निर्दोष भिक्षा की गवेषणा करूँगा । साधुजीवन में उपकरण, उपाश्रय, पाट–पाटिया.... वगैरह की निर्दोष गवेषणा करूँगा ।

४. आसन, वस्त्र, पात्र, दंड इत्यादि बराबर देखकर रखूँगा और उपयोग में लूँगा । सूक्ष्म जीवों की विराधना न हो, वैसे आसनादि लेना–रखना वगैरह क्रिया करूँगा ।

५. मल–मूत्र, श्लेष्म, अनुपयोगी अन्न–पान–वस्त्र वगैरह का त्याग निर्जीव भूमि पर.... सावधानीपूर्वक करूँगा ।

## १२ भावनाएँ :

मैं श्रमण बनकर १२ भावनाओं का चिंतन–मनन करूँगा !

१. मैं अनित्य भावना का चिंतन करूँगा । प्रियजनों का संयोग–सहवास, सुख, संपत्ति, आरोग्य, यौवन, शरीर और जीवन, यह सब कुछ अनित्य है !

२. मैं अशरण भावना का चिंतन करूँगा । जन्म–जरा और मृत्यु से त्रस्त, व्याधि एवं वेदना से भरपूर इस संसार में जिनवचन के अलावा अन्य कोई भी शरणभूत नहीं है ।

३. मैं एकत्व भावना का चिंतन करूँगा । जीव अकेला जन्म लेता है और अकेला ही मरता है, अकेला ही वेदना–कष्ट सहन करता है.... तो आत्महित भी अकेले ही साध लेना उचित है ।

४. मैं अन्यत्व भावना का चिंतन करूँगा । मैं स्वजनों से, परिजनों से, वैभव–संपत्ति से और मेरे इस शरीर से भी जुदा हूँ, अलग हूँ । ऐसी निश्चित धारणा बना लूँगा । इससे मेरा मन कभी भी शोकाकुल नहीं बनेगा ।

५. मैं अशुचि भावना का चिंतन करूँगा । शरीर का राग तोड़ने के लिए मैं

शरीर की अपवित्रता, गंदगी.... भीतरी रचना के बारे में सोचूँगा । शरीर के अंदर निरी गंदगी ही भरी है, फिर क्या शरीर पर राग करना ?

६. मैं संसार भावना का चिंतन करूँगा । माँ मरकर बेटी, बहन या पत्नी भी हो सकती है, बेटा मरकर बाप बन सकता है, दोस्त भी दुश्मन हो सकता है, संसार के सारे संबंध विचित्र हैं ।

७. मैं आश्रव भावना का चिंतन करूँगा । मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग एवं प्रमाद – ये आश्रव–द्वार हैं । इनमें से कर्मों का प्रवाह बहकर आत्मा में आता है । इन आश्रव–द्वारों को बंद करने का मैं प्रयत्न करूँगा ।

८. मैं संवर भावना का चिंतन करूँगा । न तो शुभ आश्रव चाहिए, न ही अशुभ आश्रव चाहिए । सम्यग् दर्शन वगैरह के द्वारा आश्रवों के द्वार बंद करूँगा ।

९. बाह्य एवं आभ्यंतर तप के द्वारा आत्मा में रहे हुए कर्मों का मैं नाश करूँगा । इस प्रकार मैं निर्जरा भावना का चिंतन करूँगा ।

१०. मैं लोकस्वरूप भावना का चिंतन करूँगा । १४ राजलोक का चिंतन करूँगा । ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक का चिंतन करूँगा ।

११. मैं धर्मस्वाख्यात भावना का चिंतन करूँगा । धर्म का दिव्य प्रकाश देनेवाले तीर्थंकर परमात्मा का चिंतन करूँगा । धर्म का प्रभाव, धर्म की महिमा के विषय में मनन करूँगा । धर्म के स्वरूप का मनन करूँगा ।

१२. मैं बोधिदुर्लभ भावना का चिंतन करूँगा । बोधि यानी सम्यग् दर्शन । सम्यग् दर्शन की दुर्लभता का चिंतन करूँगा ।

प्रतिदिन मैं इन बारह भावनाओं का चिंतन करूँगा ।

## बारह प्रतिमा :

प्रतिमा यानी प्रतिज्ञा या नियम । साधुजीवन में विशिष्ट कोटि के नियमों का स्वीकार कर के, अप्रमत्त जीवन जीने का अभ्यास करने का होता है । प्राचीन समय में धीर–वीर और श्रेष्ठ श्रमण बारह प्रकार की 'प्रतिमाओं' का क्रमशः अभ्यास करते रहते थे । मैं भी मेरी शक्ति के अनुसार इन प्रतिमाओं का अभ्यास करूँगा ।

## इन्द्रिय निरोध :

मैं इष्ट–अनिष्ट विषयों में राग–द्वेष नहीं करूँगा । अपने–अपने विषयों में इन्द्रियों की आसक्ति का त्याग करूँगा । विषयासक्ति से जीवात्मा क्लेश का ही अनुभव करता है और विनाश को प्राप्त करता है ।

## प्रतिलेखना :

मैं विधिपूर्वक मेरे जो उपकरण होंगे, उनकी प्रतिलेखना करूँगा। सबेरे करूँगा, पोरिसी के समय करूँगा और शाम को करूँगा।

– सबेरे १० उपकरणों की प्रतिलेखना करूँगा।

– पोरिसी के समय पात्रक वगैरह सात उपकरणों की प्रतिलेखना करूँगा।

– शाम को १४ उपकरणों की प्रतिलेखना करूँगा।

## तीन गुप्ति :

मन–वचन और काया की अशुभ प्रवृत्तियों का त्याग और शुभ प्रवृत्ति में प्रवर्तन करना – 'गुप्ति' कहलाती है। गुप्ति के तीन प्रकार हैं – मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति।

– जिससे आर्तध्यान और रौद्रध्यान होता है वैसी कल्पनाएँ नहीं करूँगा, वैसी धारणाएँ नहीं करूँगा।

– शास्त्रानुसारी, परलोक हितकारी वैसा धर्मध्यान बढ़ता रहे, वैसी मन की संतुलित वृत्ति बनाये रखूँगा।

– मुँह, आँखें और भुकुटी के विकार नहीं करूँगा। अंगुलियाँ वगैरह नहीं हिलाऊँगा। मुँह चढ़ाना, हूँ हूँ..... आवाज करना, कंकर वगैरह फेंकना.... इत्यादि चेष्टाओं का त्याग करूँगा। मौन रहूँगा।

– बोलते समय मुँहपत्ति का उपयोग रखूँगा।

– आगमानुसारी प्रवृत्ति के अलावा, सभी प्रवृत्तियों का त्याग करूँगा। उपसर्ग और परिसह के समय कायोत्सर्ग–ध्यान में से विचलित नहीं होऊँगा।

– तत्त्व में संदेह होने पर जयणापूर्वक और विनयपूर्वक गुरु को पूछने के लिए जाऊँगा। उपयोगपूर्वक जमीन एवं संथारे की प्रतिलेखना करूँगा। आगम की आज्ञा के अनुसार ही सारी क्रियाएँ करूँगा।

## अभिग्रह :

श्रमणधर्म की उत्कृष्ट आराधना में 'अभिग्रह' का विशिष्ट महत्त्व है। 'अभिग्रह' यानी विशिष्ट प्रतिज्ञा। मुख्य रूप से अभिग्रह चार प्रकार के होते हैं – १. द्रव्य अभिग्रह, २. क्षेत्र अभिग्रह, ३. काल अभिग्रह और ४. भाव अभिग्रह।

१. जैसे कि 'यदि उड़द के बाकुले (सूखे हुए उड़द के दाने) सूपड़े में मिलेंगे, तो ही लूँगा।'

२. जैसे कि 'बेड़ियों में जकड़ी हुई, एक पैर जिसका दहलीज के बाहर हो और एक पैर दहलीज के अंदर हो, वैसे भिक्षा देनेवाली महिला भिक्षा देगी, तो लूँगा ।'

३. काल अभिग्रह में – 'दिन का दूसरा प्रहर बीतने के बाद ही भिक्षा लेने जाऊँगा, तब भिक्षा मिलेगी तो लूँगा ।'

४. भाव अभिग्रह में – 'भिक्षा देनेवाली महिला मुंडित मस्तकवाली होगी और रोती हुई दान देगी, तो ही ग्रहण करूँगा ।'

इन चार प्रकारों में सभी तरह के अभिग्रह समाविष्ट हो जाते हैं ।

## 'जिनकल्प' की पूर्वभूमिका :

श्रावक की आंतरिक विशुद्ध भावना जब वृद्धि पाती है, तब वह साधुजीवन ग्रहण करने की भावना भाता है । साधुजीवन की उच्च–उच्चतर भूमिकाओं का ज्ञान पाता है । उसके चित्त में ऐसे मनोरथ पैदा होते हैं – 'मैं साधु बनकर क्रमशः विशुद्धतर श्रमण जीवन, साधुधर्म का पालन करूँगा ।'

साधुजीवन दो प्रकार का बताया गया है : स्थविरकल्प का और जिनकल्प का । दोनों प्रकार के पालन से मोक्षमार्ग की आराधना हो सकती है । दोनों प्रकार के साधुधर्म में एक ही अन्तर है । जिनकल्प का साधुधर्म मात्र उत्सर्गमार्ग का अवलंबन लेता है । स्थविरकल्प का साधुधर्म, उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग – दोनों का अवलंबन लेता है । अर्थात् जिनकल्पी मुनि अपवादमार्ग का अनुसरण नहीं करते, स्थविरकल्पी मुनि करते हैं । तात्पर्य यह है कि मोक्षमार्ग की आराधना के लिए मुख्य रूप से ये दो प्रकार के ही जीवन हैं ।

वर्तमानकाल में जिनकल्प का जीवन जीना असंभव है । वैसा जीवन जीने के लिए जैसा शरीरबल और मनोबल चाहिए, वैसा वर्तमानकाल में हो ही नहीं सकता । परंतु फिर भी, जिनकल्प की पूर्वभूमिका का पालन करना चाहो, तो आंशिक रूप में कर सकते हो । पूर्वभूमिका में पाँच प्रकार की आराधना, अप्रमत्त भाव से करने की होती है ।

१. तपोभावना,

२. सत्त्वभावना,

३. सूत्रभावना,

४. एकत्वभावना,

५. बलभावना,

श्रावक इस आराधना के मनोरथ कर सकता है। होना चाहिए इस उत्कृष्ट साधुजीवन का अनुराग। अनुराग, मनोरथ करवायेगा ही!

**१. पहली है तपोभावना :** 'जिस तप का मैंने स्वीकार किया होगा, वह तप जब तक स्वभावभूत नहीं होगा तब तक उस तप का अभ्यास करता रहूँगा।

– जो जो धर्मानुष्ठान मुनिजीवन में मुझे करने होंगे, उन धर्मानुष्ठानों में हानि–क्षति नहीं हो, उस प्रकार मैं तप करता रहूँगा।

– शुद्ध–प्रासुक आहार भिक्षा में नहीं मिलेगा तो छः महीने तक भूखा रहूँगा, परंतु दोषित आहार नहीं ग्रहंण करूँगा।

इस प्रकार, तपश्चर्या से मैं अल्पाहारी बनूँगा। इन्द्रियों की शब्दादि विषयों से दूर रखूँगा, मधुर आहार में निःसंग बनूँगा और इन्द्रियविजेता बनूँगा।

तपोभावना में इस प्रकार के मनोरथ करने चाहिए।

**२. दूसरी है सत्त्वभावना :** इस भावना में मुनि, पाँच प्रतिमाओं का पालन करता है।

– निद्रा का त्याग कर, जनशून्य, मलिन तथा अंधकारपूर्ण उपाश्रय में, कायोत्सर्ग–ध्यान में खड़ा रहकर, भयों को जीतकर मैं निर्भय बनूँगा। उपाश्रय में फिरनेवाले चूहे, बिल्ली आदि द्वारा होनेवाले उपसर्गों से भयभीत नहीं बनूँगा, वहाँ से भाग नहीं जाऊँगा।

– उपाश्रय के बाहर, रात्रि के समय, कायोत्सर्ग–ध्यान में खड़ा रहूँगा, चूहे, बिल्ली, कुत्ते तथा चोर आदि भयों से निर्भय बनूँगा।

– जहाँ चार रास्ते मिलते हों, वहाँ जाकर रात्रि के समय ध्यान में खड़ा रहूँगा। पशु, चोर वगैरह से निर्भय बनूँगा।

– खंडहर, शून्य घर में जाकर, रात्रि के समय ध्यान में स्थिर रहूँगा। उपद्रवों से डरूँगा नहीं, निर्भय रहूँगा।

– स्मशान में जाकर कायोत्सर्ग–ध्यान में खड़ा रहूँगा और बड़े भयों पर विजय पाऊँगा।

इस प्रकार सत्त्वभावना से अभ्यस्त होना है। दिन में या रात में देव–दानव से भी नहीं डरना है। क्योंकि निर्भयता के बिना जिनकल्प का पालन नहीं हो सकता है।

**३. तीसरी है सूत्रभावना :** काल–समय का प्रमाण जानने के लिए मैं ऐसा श्रुताभ्यास करूँगा कि मेरे नाम जैसा अभ्यास हो जायं। सूत्रार्थ के परिशीलन

द्वारा मैं अन्य संयमानुष्ठानों के प्रारंभकाल तथा समाप्तिकाल को जान लूँगा। दिन और रात के समय को जान लूँगा। कब कौन–सा प्रहर और कौन–सी घड़ी चल रही है, यह जान लूँगा। आवश्यक क्रिया, भिक्षा, विहार आदि का समय, बिना किसी साधन से जान लूँगा।

इस सूत्रभावना से चित्त की एकाग्रता सिद्ध होती है। कर्मनिर्जरा होती है.... और दूसरे अनेक गुण सिद्ध होते हैं।

**४. चौथी है एकत्व भावना :** संसारवास का ममत्व तो मुनि पहले ही छोड़ देता है, परंतु साधुजीवन में आचार्य आदि का ममत्व हो जाता है। इसलिए 'जिनकल्प' की तैयारी करनेवाला मुनि, आचार्य वगैरह के साथ भी सस्निग्ध अवलोकन, आलाप–संलाप, परस्पर गौचरी–पानी का आदान–प्रदान, सूत्रार्थ के लिए प्रतिपृच्छा, हास्य, वार्तालाप वगैरह का त्याग करना होता है। मैं ऐसा त्याग करूँगा। आहार, उपाधि और शरीर का ममत्व भी नहीं करूँगा।

इस प्रकार एकत्व भावना द्वारा मुनि ऐसा निर्मोही बन जायं कि जिनकल्प स्वीकार करने के बाद, स्वयं के सामने स्वजनों का वध होता देखकर भी उसके मन में क्षोभ नहीं होता।

**५. पाँचवी है बलभावना :** मनोबल से, स्नेहजनित राग का और गुण बहुमान–जनित राग का त्याग करूँगा।

– धृतिबल से आत्मा को सम्यग् भावित करूँगा।

– इस प्रकार सात्त्विक, धैर्यसंपन्न, औत्सुक्य रहित और निष्प्रकंपित बनकर, परिसह–उपसर्ग को जीतकर मैं अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करूँगा।

## उपसंहार :

इस प्रकार 'श्रामण्यानुरागः' सूत्र का विवेचन किया है। साधुता प्राप्त हो या न हो, 'चारित्रमोहनीय' कर्म का क्षयोपशम होने पर ही वास्तविक साधुधर्म प्राप्त होगा। परंतु साधुता के अनुराग से और साधुता के मनोरथों से चारित्रमोहनीय कर्म का क्षयोपशम अवश्य होगा। कर्म यदि प्रगाढ़ होगा, निकाचित होगा, तो आनेवाले जन्म में क्षयोपशम होगा।

इसलिए, मन में फालतू विचार नहीं करें। ऐसे पवित्र विचार करते रहें। साधुता का अनुराग होगा तो ऐसे पवित्र विचार आयेंगे ही। साधुता के अनुरागी बनें, यही मंगल कामना।

आज बस, इतना ही।

★ ★ ★

# प्रवचन : ८१

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में 'श्रावक जीवन' के विषय में सर्वांगीण मार्गदर्शन दिया है।

जब श्रावक के चित्त में साधुधर्म के प्रति, श्रमणधर्म के प्रति अनुराग पैदा होता है, तब तीन तत्त्वों के प्रति सहजता से श्रद्धा हो ही जाती है।

१. मोक्षमार्गरूप साधुधर्म के प्रकाशक तीर्थंकर परमात्मा के प्रति श्रद्धा हो जाती है।

२. साधुधर्म का सही स्वरूप बतानेवाले सद्गुरु के प्रति श्रद्धा हो जाती है, और

३. धर्मतत्त्व के प्रति श्रद्धा हो जाती है।

'श्रद्धा' महत्त्वपूर्ण गुण है। क्योंकि इस गुण के साथ दूसरे अनेक गुण संलग्न होते हैं। इन सभी गुणों को आत्मा में दृढ़ करने पड़ते हैं, अन्यथा ये गुण चले भी जाते हैं।

– क्षायोपशमिक भाव के गुण प्रगट होते हैं और अन्तर्धान भी हो जाते हैं। आना और जाना स्वभाव है इन गुणों का।

– क्षायिक भाव के गुण एक बार प्रगट होने पर कभी नहीं जाते हैं।

इसलिए ग्रंथकार आचार्यश्री ने कहा है – 'यथोचितं गुणवृद्धिः।' इस सूत्र का अर्थ बराबर समझना। जिस समय जिस गुण की पुष्टि–वृद्धि करना आवश्यक हो, उस गुण की पुष्टि करनी चाहिए। गुणों का पुष्टिकरण करना अति आवश्यक है।

## एक ही लक्ष्य – गुणवृद्धि :

साधु हो या श्रावक हो, उसका एक ही लक्ष्य, एक ही ध्येय और एक ही आदर्श रहना चाहिए, और वह है गुणवृद्धि। प्रत्येक शुभ–शुद्ध क्रिया का लक्ष्य–ध्येय–आदर्श एक मात्र आत्मगुणों की अभिवृद्धि ही होना चाहिए। व्यापारी दुकान के जरिये सिर्फ एक ही मकसद पूरा करने में जुटा रहता है, और वह मकसद है धनवृद्धि ! धन बटोरने के लिए, संपत्ति इकट्ठी करने के लिए, वह हर संभव

मार्ग अपनाता है, उपाय और योजनाओं को कार्यान्वित करता रहता है । भले ही उसका प्रयास, अपनाया हुआ मार्ग अपार कष्ट और अथक परिश्रमवाला क्यों न हो ? लेकिन वह लक्ष्यपूर्ति के लिए सदा-सर्वदा सचेत, सजग और सन्नद्ध रहता है । जैसे जैसे धनवृद्धि होती है, उसके पुरुषार्थ में वृद्धि होती जाती है । उसका पुरुषार्थ बढ़ता जाता है और यह सब करते हुए उसके उत्साह का ठिकाना नहीं रहता है ।

ठीक उसी समय धार्मिक क्रियात्मक साधना, गुणवृद्धि के लिए खोली हुई दुकान ही है । प्रत्येक धर्मक्रिया का लक्ष्य-ध्येय गुणों की वृद्धि ही होना चाहिए । जिन-जिन क्रियाओं के माध्यम से गुणों की वृद्धि होने की संभावना हो, भले ही वे क्रियाएँ कष्टप्रद और परिश्रमपूर्ण क्यों न हो, गुणवृद्धि के अभिलाषी मनुष्य को हँसते-हँसते करनी चाहिए । और जैसे जैसे गुणवृद्धि होती जायेगी, वैसे वैसे उसके पुरुषार्थ में एक प्रकार की स्थिरता आती जायेगी । परिणाम स्वरूप क्रिया का आनंद ब्रह्मानंद-चिदानंद स्वरूप बन जायेगा ।

## गुणसंपत्ति की रक्षा करें :

अन्तरात्मा से प्रगट हुए शुभ, पवित्र.... उन्नत मोक्षानुकूल गुणवैभव हमारी सर्वश्रेष्ठ संपत्ति है - यह बात पहले माननी होगी । गुणवैभव का उच्चकोटि का मूल्यांकन करोगे, तो ही इसका संरक्षण करना परम कर्तव्य समझोगे । याद रखना कि गुणों की संपदा के माध्यम से ही हम परमपद की प्राप्ति कर सकेंगे ।

गुणों की, शुभ भावों की अपनी विशेषता होती है । यदि प्रतिसमय सावधानी से उनका संरक्षण नहीं करें तो इसे खत्म होते देर नहीं लगती है । आपको मैंने पहले ही बता दिया कि क्षायोपशमिक भाव के गुण चंचल होते हैं, इसलिए उनका संरक्षण करना अति आवश्यक होता है । इन गुणों का संरक्षण करने के लिए सात उपाय बताता हूँ । उपाय सरल और सुंदर हैं । लेकिन इन उपायों का अवलंबन तभी आप लोगे, जब सद्गुणों का, शुभ भावों का समुचित मूल्यांकन करोगे । बाह्य भौतिक संपत्ति से बढ़कर अनंत गुना महत्त्व गुणों को दोगे । शुभ भावों की, गुणों की रक्षा के लिए कुछ भी करने की तैयारी होनी चाहिए । उसके लिए जो भी त्याग करना आवश्यक हो, त्याग करने के लिए सदैव तत्पर रहना होगा !

अब सर्वप्रथम गुणों की सुरक्षा के लिए, गुणों की दृढ़ता के लिए सात उपाय बताता हूँ ।

१. पहला उपाय है व्रत का स्मरण। जब हमारे शुभ भावों पर अशुभ भावों का आक्रमण होता है, तब हमें अंगीकृत व्रतों का सतत स्मरण करना चाहिए। इस स्मरण से आत्मा में ऐसी अद्‌भुत शक्ति जाग्रत होगी कि जिसके बल से अशुभ भावों को सरलता से भगा सकोगे।

२. दूसरा उपाय है गुणवानों का सम्मान। गुणवान् मनुष्य यानी शुभ भावनाओं के शस्त्रों से सज्ज सैनिक। इनके प्रति अगाध श्रद्धा, परम भक्ति और अपार प्रीति रखने से संकट काल में वे हमारी सहायता करने दौड़े आते हैं और हमारे आत्मधन की रक्षा करते हैं।

३. तीसरा उपाय है पाप–जुगुप्सा। हमने जिन पापों का परित्याग कर दिया हो, उनके प्रति कभी किसी प्रकार का आकर्षण पैदा नहीं होना चाहिए। मोह की सुप्त वासना जाग्रत न हो जायं, इसलिए सदैव पापों से घृणा करनी चाहिए। पापों के प्रति हमारे मन में नफरत की आग सुलगती रहनी चाहिए।

४. चौथा उपाय है परिणाम की आलोचना। पापक्रिया से होनेवाले परिणाम और धर्मक्रिया के परिणाम पर विचार करने चाहिए। चिंतन–मनन करना चाहिए। 'पाप से दुःख और धर्म से सुख,' यह सूत्र सदैव स्मृति में बना रहना चाहिए।

५. पाँचवा उपाय है तीर्थंकर–भक्ति। देवाधिदेव तीर्थंकर भगवान के अनन्त उपकारों का सतत स्मरण करते रहो। तीर्थंकर परमात्मा के प्रति अनन्य प्रीतिभाव जाग्रत होने से हमारे गुणों में वृद्धि होती है। शुभ भावों में अभिवृद्धि होती है।

६. छट्‌ठा उपाय है सुसाधुओं की सेवा। मोक्षमार्ग के अनुकूल आचरण रखनेवाले साधुपुरुषों की सेवा–भक्ति करनी चाहिए। उनको आहार, वस्त्र, पात्र, औषध आदि देना चाहिए। हृदय में उनके प्रति प्रीति–भक्ति होनी चाहिए।

७. सातवा उपाय है उत्तर–गुणों की आराधना। पच्चक्खाण, गुरुवंदन, प्रतिक्रमण, तप–त्याग, विनय–विवेक आदि विशिष्ट धर्मक्रियाओं में सदैव प्रवृत्तिशील रहना चाहिए।

## शुभ क्रियाएँ करते रहो :

शुभ क्रिया शुभ भावों की, सद्‌गुणों की बाड़ है। कंटीली और मजबूत बाड़ है। यदि उस बाड़ में छेद हो गया तो अशुभ भाव के पशु भीतर घुसते देर नहीं लगती। अशुभ भाव के पशु भीतर आकर, शुभ भावों की हरी–भरी फसल को नष्ट कर देते हैं। गँवार किसान भी यह भलीभाँति जानता है कि बाड़ के

बिना फसल की रक्षा नहीं हो सकती है । आप लोग तो बुद्धिमान् हो न ?

**सभा में से :** बुद्धिमान् भी नहीं, गँवार भी नहीं, मूढ हैं हम !

**महाराजश्री :** मूढ मत मानो अपने आपको । आप समझते तो हैं, परंतु आप राह भटक गये हो । अणुव्रत–महाव्रत के भाव और सम्यग् दर्शन–ज्ञान–चारित्र के भावों की सुरक्षा तथा संरक्षण के लिए, अनंतज्ञानी तीर्थंकरों ने तप–संयमादि अनेकविध क्रियाओं का उपदेश दिया है ।

क्रियाओं का, शुभ क्रियाओं का परित्याग कर, शुभ भावों की वृद्धि और रक्षा की बात करना, सरासर मूर्खता है । एक बात स्पष्टता से समझ लो कि अशुभ भावों की जन्मदात्री अशुभ क्रियाएँ ही हैं ।

## मौलिक गुण – सम्यग् दर्शन :

'धर्मबिन्दु' ग्रंथ के टीकाकार आचार्यदेव ने लिखा है सम्यग् दर्शन आदि गुणों की वृद्धि करनी चाहिए । 'वृद्धि' का अर्थ उन्होंने किया है पुष्टीकरण । पुष्टीकरण का उपाय बताया है – 'दर्शनप्रतिमा–व्रतप्रतिमा–अभ्यास ।'

पहले आपको 'सम्यग् दर्शन' के विषय में कुछ जानकारी देता हूँ । उसके बाद पुष्टीकरण के उपाय – 'दर्शनप्रतिमां' और 'व्रतप्रतिमां' का स्वरूप समझाऊँगा ।

'सम्यग् दर्शन' को 'सम्यक्त्व' कहते हैं, वैसे 'समकित' भी कहते हैं । तीनों समानार्थक शब्द हैं । 'सम्यक्त्व' शब्द की परिभाषा करते हुए कहा गया है – 'सम्यग्–जीवः, तस्यभावः सम्यक्त्वम् ।' इसका अर्थ इस प्रकार होता है – जीव का मोक्षानुकूल प्रशस्त स्वभाव सम्यक्त्व है । सम्यक्त्व, जीव का प्रशस्त भाव है । मोक्षानुकूल भाव है । यह शुभ–प्रशस्त भाव आत्मा में से उत्पन्न होता है । यह भाव किसी को दिया नहीं जाता है ।

सम्यक्त्व का भाव आत्मा में प्रगट होता है । किसी को स्वाभाविक रूप से (नैसर्गिक) प्रगट होता है, किसी को बाह्य निमित्त से प्रगट होता है ।

किसी को सहजता से मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उपशम होता है, क्षयोपशम होता है, क्षय होता है । किसी को निमित्त पाकर मिथ्यात्व मोहनीय का उपशम, क्षयोपशम या क्षय होता है । आत्मा में स्वयं ये क्रियाएँ घटती हैं । तब जाकर आत्मा में सम्यक्त्व गुण प्रगट होता है ।

## सम्यग् दर्शन के प्रतिभाव :

आत्मा में जब सम्यग् दर्शन का गुण प्रगट होता है तब सर्वप्रथम परम तत्त्वभूत

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष – इन नौ तत्त्वों के ऊपर श्रद्धा होती है। इन तत्त्वों का वह भावपूर्वक अभ्यास करता है। यह पहला प्रतिभाव होता है।

इन परमार्थभूत नौ तत्त्वों को समझानेवाले, प्रतीति करानेवाले आचार्य, उपाध्याय या साधु के प्रति उसके चित्त में प्रीति उत्पन्न होती है। प्रीति से प्रेरित होकर वह उन आचार्य वगैरह की सेवा करता है, पर्युपास्ति करता है, वैयावच्च करता है। यह दूसरा प्रतिभाव है।

नौ तत्त्वों का यथार्थ बोध होने पर, यदि पूर्वावस्था में कोई निह्नव (जिनोक्त तत्त्वों का मनस्वी अर्थ करनेवाले) वगैरह का परिचय हुआ हो, तो उनका संपर्क तोड़ देता है। उसको मालुम हो जाता है कि निह्नव आदि के किये हुए तत्त्वार्थ गलत थे, इसलिए वह उनका त्याग कर देता है। यह तीसरा प्रतिभाव है।

पूर्वावस्था में यदि कोई एकान्तवादी बौद्धदर्शन आदि के परिचय में आया हो तो उसका भी परिचय नहीं रखता है। उसको सभी मिथ्यादर्शनों की गलत मान्यताओं का अवबोध हो जाता है, फिर उनका संपर्क नहीं रखता है। यह चौथा प्रतिभाव होता है।

अब आप लोग आत्मसाक्षी से चिंतन करें। यदि आप लोग अपने आपको सम्यग् दृष्टि मानते हो, समकिती मानते हो तो सोचिए, ये चार प्रतिभाव आप में हैं ? क्या जीव, अजीव आदि नौ तत्त्वों का आपने अध्ययन किया हैं ?

**सभा में से :** जीव तत्त्व का भी यथार्थ बोध नहीं है।

**महाराजश्री :** तो फिर आप सम्यग् दृष्टि कैसे बन गये ? ये नौ तत्त्व, तीर्थंकर भगवंत का मुख्य उपदेश है। जिनवचनों को समझे बिना, तीर्थंकर के ऊपर आपको श्रद्धा कैसे हो गई ? आपने नौ तत्त्वों का बोध क्यों प्राप्त नहीं किया ? क्या समझानेवाले कोई सद्गुरु नहीं मिले ? अथवा समझने के लिए जो बुद्धि चाहिए वह बुद्धि नहीं हैं ? अथवा समझने के लिए समय नहीं मिल रहा ? क्या बात है ? समय है, बुद्धि है.... समझानेवाले सद्गुरु का संयोग है, फिर भी आप नौ तत्त्वों का बोध प्राप्त नहीं कर रहे हो तो समझना कि यह आपका घोर प्रमाद है। सम्यग् दर्शन प्राप्त करने की योग्यता ही नहीं है। और, नौ तत्त्वों का बोध प्राप्त किये बिना, अपने आपको समकित दृष्टि मानना, एक भ्रमणा है।

'तमेव सच्च निःशंक जं जिणेहिं पवेइयं।' वही सच्चा और निःशंक है, जो

जिनेश्वरों ने कहा है । इस प्रकार की श्रद्धा कब हो सकती है ? जिनेश्वरों ने क्या कहा है, यह जाने बिना श्रद्धा हो सकती है क्या ? 'हम जिनेश्वर को मानते हैं, हम अरिहंत को मानते हैं,' इतना कहने मात्र से श्रद्धावान् नहीं बन सकते । अरिहंत को अपने परमात्मा मानने का कोई कारण है ! कोई दूसरा मनुष्य आपको पूछेगा – 'आप अरिहंत को ही आपके परमात्मा क्यों मानते हो ?' आप क्या जवाब दोगे ? यदि आपने नौ तत्त्वों का बोध प्राप्त किया होगा तो कहोगे – 'विश्व के तत्त्वों का यथार्थ बोध अरिहंत परमात्मा ने कराया है, इसलिए हम अरिहंत को हमारे परमात्मा मानते हैं ।' विश्व के सभी तत्त्वों का समावेश इन नौ तत्त्वों में हो जाता है । 'परिपूर्ण विश्वदर्शन वीतराग–सर्वज्ञ परमात्मा ने ही कराया है,' यह श्रद्धा वास्तविक श्रद्धा होती है ।

इससे भी आगे, जीव तत्त्व का जैसे जैसे सूक्ष्म अध्ययन करते जाओगे, जीव का वैभाविक और स्वाभाविक स्वरूप जानते जाओगे, त्यों त्यों आपका सम्यग् दर्शन निर्मल होता जायेगा ।

'मैं ज्ञान–दर्शनमय विशुद्ध आत्मा हूँ –' इस प्रकार की प्रतीति होगी, तब आपका सम्यग् दर्शन उच्चतम कोटि का हो जायेगा ।

दूसरा प्रतिभाव है आचार्य, उपाध्याय, साधुपुरुषों की पर्युपास्ति और यथाशक्ति उनकी सेवा–भक्ति । करते हो न उनकी सेवा–भक्ति ?

**सभा में से** : कभीकभी करते हैं ।

**महाराजश्री** : क्योंकि उनके पास प्रतिदिन नौ तत्त्वों का ज्ञान पाने नहीं जाते होंगे । ज्ञानी ऐसे सद्गुरुओं से ज्ञानप्राप्ति करनी चाहिए । ज्ञान प्राप्त करते करते उनके प्रति हृदय में प्रीति–भाव जाग्रत होगा । प्रीति उत्पन्न होने पर भक्ति स्वतः होने लगेगी । पर्युपास्ति किये बिना नहीं रहोगे । 'पर्युपास्ति' का अर्थ जानते हो ? पर्युपास्ति यानी सर्वांगीण सेवा ! सिर्फ आहार–पानी की ही सेवा नहीं । मुनिवरों की संयम आराधना में जो भी आवश्यक सामग्री चाहिए, सब सामग्री जुटाना । आहार, वस्त्र, पात्र, पुस्तक, औषधि... ज्ञान के साधन.... वगैरह भावपूर्वक उनको देना ।

सम्यग् दर्शन का गुण प्रगट होने पर 'गुरुसेवा' का गुण भी स्वतः प्रगट होता है । सम्यग् दर्शन के साथ जुड़ा हुआ है यह गुण । सद्गुरु की सेवा किये बिना बेचैनी हो जाती है उसको ।

**सभा में से** : हम लोगों को बेचैनी नहीं होती है ।

**महाराजश्री** : तो सम्यग् दर्शन–गुण आत्मा में प्रगट हुआ है या नहीं – चिंता का विषय समझें । यदि सम्यग् दर्शन–गुण की महत्ता समझें हों तो बात है । सद्गुरु का प्रीतिपूर्ण परिचय, वैसे भी उपयोगी एवं उपकारक होता है । आधि–व्याधि–उपाधि से भरे हुए संसार में सही पथप्रदर्शन करनेवाले वे प्रज्ञावंत सद्गुरु ही होते हैं । जो जो महानुभाव, सद्गुरु के परिचय में रहते हुए, उनकी पर्युपास्ति करते रहते हैं, वे कितने निर्भय, निश्चिंत और सन्मार्गगामी बने रहते हैं, यह बात समझना हो तो उनके पास जाकर पूछो । सद्गुरु से वे अपनी कोई भी बात छुपा कर नहीं रखते । बात पुण्य की हो या पाप की । सुख की हो या दुःख की । तभी सद्गुरु का उचित मार्गदर्शन मिलता रहता है । प्रेरणा, प्रोत्साहन और वात्सल्य प्राप्त होता रहता है ।

## श्रवण करने में सावधान रहें :

तीसरा प्रतिभाव भी महत्त्वपूर्ण है । जो व्यापन्न दर्शनी हों, उनसे बचकर रहना । भले जन्म से और धर्म से जैन हो, भले उसने शास्त्रों का अध्ययन किया हो, परंतु मनमाने ढंग से जो शास्त्रों का अर्थ करते हों, अपनी मनःकल्पना से शास्त्रों की बातें करते हों, वे 'व्यापन्नदर्शनी' कहे जाते हैं । उनसे बचना । उनका संपर्क, परिचय नहीं रखना । अपने जिनशासन में व्यापन्नदर्शनी को 'निह्नव' कहा गया है ! ये लोग जिनवचनों का यथार्थ निरूपण नहीं करते । आगमों को मानते हैं, परंतु आगमों पर लिखे गये भाष्य, चूर्णी, टीका वगैरह नहीं मानते । अपने काल्पनिक अर्थ बताते रहते हैं ।

कुछ वर्षों से, बंबई, अहमदाबाद जैसे बड़े शहरों में, पर्युषणापर्व में व्याख्यानमालाओं का आयोजन, कुछ मंडल, संस्था या ग्रूप करते हैं । उन व्याख्यान–मालाओं में ऐसे कुछ विद्वान् लोग आते रहते हैं.... कि जो शास्त्रों के वचनों का मनःकल्पित अर्थ करते हैं । अनपढ़ (शास्त्रों के) लोग सुनते रहते हैं ! भाषा अच्छी होती है, शैली आकर्षक होती है, विषय रूचिपूर्ण होता है.... इसलिए सुनने में मजा आता है ! परंतु जिनवचनों से विपरीत बातें श्रोताओं के दिमाग में प्रविष्ट हो जाती हैं । मिथ्यात्व दृढ़ होता जाता है और सही तत्त्व से भटक जाता है ।

वास्तविकता तो यह है कि आप लोग नौ तत्त्वों का अच्छा अध्ययन करें । कुछ गहराई में जाकर अध्ययन करें ।

**सभा में से** : हमें अध्ययन करने का समय ही कहाँ है ?

**महाराजश्री** : समय तो है, रूचि नहीं है। सम्यग् ज्ञान प्राप्त करने की तमन्ना नहीं जगी है। ठीक है, जब तक आप ज्ञानी नहीं बनें, तब तक जैसे–तैसे वक्ताओं के भाषण मत सुना करो। गलत बातें दिमाग में नहीं भरें।

## अन्य धर्मों की बातें कब सुननी चाहिए ?

सम्यग् दर्शन का चौथा प्रतिभाव है कुदर्शनी का त्याग। कुदर्शनी यानी जैनदर्शन से परे अन्य बौद्धदर्शनी, वेदांतदर्शनी, सांख्यदर्शनी..... वगैरह। उन लोगों का तब तक परिचय नहीं करना चाहिए कि जब तक आपने जैनधर्म–दर्शन का सही अध्ययन नहीं किया हो। जैनधर्म–दर्शन का तलस्पर्शी अध्ययन करने के बाद आप तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए बौद्ध, वेदान्त वगैरह दर्शनों का अध्ययन कर सकते हैं। हालाँकि आप लोग तो जैनदर्शन का भी अध्ययन नहीं करते, फिर दूसरे दर्शनों के अध्ययन की तो बात ही कहाँ रही ?

फिर भी, उन बौद्ध, वेदान्ती वगैरह का परिचय भी नहीं रखना चाहिए। अन्यथा आपके दिमाग में बौद्ध एवं वेदान्त का एकान्तवाद घूस गया.... तो दिमाग बिगड़ेगा ? उनके संपर्क से तुम्हारे आचार–व्यवहार भी बिगड़ेंगे। खाना–पीना बिगड़ेगा।

मैं जानता हूँ कि वर्तमानकाल में अन्य दर्शनों का कोई आक्रमण नहीं है, अन्य धर्मों का भी विशेष आकर्षण आप लोगों को नहीं है, फिर भी, सावधानी रखने के लिए यह बात बतायी है। आजकल तो ईसाइयों से एवं मुसलमानों से विशेष सावधानी आवश्यक है। ईसाईधर्म का आक्रमण केवल भारत पर ही नहीं, दुनिया के ज्यादातर देशों के ऊपर हो रहा है।

आप लोगों को शिक्षा के माध्यम से ईसाइयों के परिचय में जाना पड़ता है और अस्पताल के माध्यम से उनका संपर्क होता है। ईसाइयों ने 'कोन्वेन्ट' स्कूलों का आकर्षण बढ़ा दिया है ! आपके बच्चे वहाँ जाते हैं ! चर्च में भी जाते हैं ! ईसाई धर्म की बातें वहाँ उनके कानों पर पड़ती रहती हैं। जैनधर्म का अध्ययन वे बच्चे करते नहीं !

जिनकी स्कूलों में बच्चें पढ़ते होंगे, उनकी बातें उनको सुननी ही पड़ेगी। परिणाम की कल्पना आप लोग कर सकते हैं।

## सम्यग् दर्शन के तीन लिंग :

सम्यग् दर्शन, आत्मा का विशिष्ट गुण है। इस गुण को दृढ़ करना चाहिए,

पुष्ट करना चाहिए। श्रावक का जो एक कर्तव्य बताया है : गुणवृद्धि करने का, उसमें सम्यग् दर्शन–गुण को प्राथमिकता देनी चाहिए। इस गुण को पुष्ट करने के तीन उपाय बताये गये हैं। वैसे तो ये तीन 'लिंग' कहे गये हैं, यानी चिह्न कहे गये हैं। ये तीन लिंग जीवात्मा में दिखायी दें तो समझना कि उसमें सम्यग् दर्शन है ही !

पहली बात है सर्वज्ञभाषित शास्त्रों की श्रवणेच्छा। जैसी–तैसी इच्छा नहीं, तीव्रतम इच्छा। जैसे संगीतप्रिय मनुष्य को यदि मनपसंद संगीत सुनने का अवसर मिल जाता है तो रातभर वह सुना करता है। दूसरे सभी कामों को गौण करता है। घर और दुकान भूल जाता है। संगीत सुनने में तल्लीन हो जाता है। वैसे समकित दृष्टि मनुष्य, सर्वज्ञ–वचनों को सुनने में तल्लीन बन जाता है। जहाँ वह रहता होगा, उसके आसपास यदि कोई विद्वान् सद्गुरु का धर्मोपदेश चलता होगा, वह समय पर पहुँच जायेगा। विनयपूर्वक बैठेगा और तन्मय होकर, तल्लीनता से सुनेगा।

जिनवचनों को सुनते सुनते वह भावविभोर हो जायेगा। हर्ष से उसका शरीर रोमांचित हो जायेगा। धर्मशास्त्रों का श्रवण करते रहने से उसका सद्बोध बढ़ता जाता है। जिनवचनों की यथार्थता जानता हुआ वह दृढ़ श्रद्धावान् बनता है। उसका सम्यग् दर्शन परिपुष्ट बनता जाता है।

श्रुतधर्म का राग बढ़ता जाता है। श्रुतधर्म उसको बहुत प्रिय लगता है। हाँ, जो जो जिनवचन वह सुनता है, उसको जीवन में नहीं भी जी सकता हो, यह संभव है। जीवन में जीने की भावना रहती है, परंतु चारित्रमोहनीय कर्म का क्षयोपशम हुए बिना वह चारित्रधर्म का पालन नहीं कर सकता है।

## चारित्रधर्म का अनुराग होता है :

जिनवचनों को सुनते सुनते वह चारित्रधर्म को जानता है, समझता है, उसको चारित्रधर्म प्रिय भी लगता है। चारित्रधर्म पाने की उसकी अभिलाषा तीव्र होती है। परंतु एक निश्चित नियम है कि चारित्रधर्म की प्राप्ति में बाधक चारित्रमोहनीय कर्म का जब तक क्षयोपशम नहीं होता है, तब तक चारित्रधर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

समकित दृष्टि जीव, व्रत–नियमों की उपादेयता अच्छी तरह समझता है। फिर भी व्रत–नियम लेने का, ग्रहण करने का उल्लास उसके हृदय में पैदा नहीं होता है।

**सभा में से :** व्रत–नियम उपादेय समझने पर, व्रत–नियम प्रिय लगने पर, स्वीकार करना ही चाहिए ।

**पद्मरत्नजश्री :** यदि उसका चारित्रमोहनीय कर्म उदय में होगा तो वह ग्रहण नहीं कर सकेगा । कितना भी प्रिय लगो.... परंतु कर्म ग्रहण नहीं करने देंगे । दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से उसको सम्यग् दर्शन गुण की प्राप्ति हो गई, परंतु वह व्रत–नियम चाहता हुआ भी ग्रहण नहीं कर सकता है । फिर भी वह चारित्रधर्म की प्रशंसा करता रहेगा । देशचारित्र और सर्वचारित्र – दोनों प्रकार के चारित्र की प्रशंसा करेगा । दोनों प्रकार के चारित्र की विस्तृत जानकारी भी प्राप्त करेगा ।

चारित्रधर्म का यह अनुराग, सम्यग् दर्शन को तो दृढ़ करता ही है, साथ में चारित्रमोहनीय कर्म को भी तोड़ता जाता है । मैं इसलिए कहता हूँ आप लोगों को, कि चारित्रधर्म की सदैव प्रशंसा करते रहो । कभी न कभी, अवरोधक कर्म टूटेगा और चारित्रधर्म की प्राप्ति सरल हो जायेगी ।

चारित्रधर्म के ऊपर प्रेम तो है न ? यदि प्रेम होगा, तो समझना कि आपको सम्यग् दर्शन की प्राप्ति हुई है । समकित दृष्टि जीव का यह लिंग है दूसरा, चारित्रधर्म का अनुराग ।

## परमात्मतत्त्व–गुरुतत्त्व का अनुराग :

सम्यग् दर्शन का तीसरा लिंग है परमात्मप्रेम और गुरुप्रेम । परमात्मप्रेम होने से वह महानुभाव परमात्मा के दर्शन में, स्मरण में और पूजन में तत्पर रहेगा ही । उसको परमात्मदर्शन करने की प्रतिज्ञा देनी नहीं पड़ती है ! वह स्वयं मंदिर में जायेगा और भावविभोर हो जायेगा परमात्मा के दर्शन करते ही ! उसको परमात्मपूजन करने की प्रतिज्ञा नहीं देनी पड़ती है ! वह परमात्मपूजन पहले करेगा, मुँह में पानी बाद में डालेगा !

वर्तमानकाल में भी ऐसे समकित दृष्टि मनुष्यों को मैंने देखे हैं । उनका परमात्मप्रेम देखकर मैं भावविभोर बना हूँ कई बार । परमात्मप्रेमी को कहना नहीं पड़ता कि 'तुम अष्टप्रकारी पूजा करना, अपने ही द्रव्यों से पूजा करना । कहना नहीं पड़ता, वह स्वयं करता है ! उत्तम द्रव्यों से पूजा करता है । द्रव्यपूजा करता है, भावपूजा भी करता है । यह करते रहने से उसका सम्यग् दर्शन–गुण पुष्ट होता रहता है ।

जिस प्रकार वह परमात्मभक्ति करता है, वैसे धर्मोपदेशक आचार्यादि मुनिवरों

की वैयावच्च भी करता रहता है । आचार्य वगैरह की विश्रामणा करता रहता है, अभ्यर्चना भी करता रहता है । क्योंकि उसके मन में गुरु–अनुराग होता है । यह अनुराग, प्रीति.... भक्ति उसको गुरुसेवा करने के लिए प्रेरित करती रहती है । गुरुसेवा, गुरुवैयावच्च, बहुत बड़ा गुण है । सम्यग् दर्शन के साथ जुड़ा हुआ गुण है । गुरुसेवा से सम्यग् दर्शन दृढ़ होता जाता है ।

– जिनवचनों के श्रवण की तीव्र भावना से,

– चारित्रधर्म पाने की तीव्र अभिलाषा से, और

– देव–गुरु की सेवा–भक्ति करने से

सम्यग् दर्शन–गुण का पुष्टीकरण होता रहता है ।

## श्रद्धा के १० केन्द्र :

समकित दृष्टि मनुष्य में १० केन्द्र होते हैं श्रद्धा के । इन दश केन्द्रों के प्रति उसका प्रेम होता है । इसलिए वह उनकी भक्ति करता है, पूजा करता है, प्रशंसा करता रहता है, निन्दा कभी नहीं करता, आशातनाओं का त्याग करता है । वे १० केन्द्र के नाम सुन लो –

१. अरिहंत,
२. सिद्ध,
३. आचार्य,
४. उपाध्याय,
५. साधुसमूह,
६. चैत्य–प्रतिमा,
७. आगम–श्रुत,
८. क्षमादिधर्म,
९. प्रवचन–संघ,
१०. सम्यग् दर्शन

अब आप लोग कहिए कि इन १० केन्द्रभूत परम तत्त्वों की आप लोग भक्ति करते हो ? पूजा करते हो ? करते होंगे, परंतु प्रशंसा करते हो क्या ? निन्दा तो कभी नहीं करते हो न ? आशातना का त्याग करते हो न ?

**सभा में से :** कभी कभी निन्दा करते हैं... आशातना भी हो जाती होगी ।

**महाराजश्री :** तो फिर सम्यग् दर्शन के विषय में सोचना पड़ेगा । सम्यग् दर्शन–गुण आत्मा में शायद प्रगट नहीं हुआ हो ! अथवा यह गुण निर्बल हो गया हो । प्रयत्न करें इस गुण को परिपुष्ट करने का । इस विषय में विशेष बातें आगे करूँगा ।

आज बस, इतना ही ।

★ ★ ★

# प्रवचन : ८२

परम उपकारी, महान् कृपानिधि आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में श्रावक जीवन के विषय में विशद मार्गदर्शन देते हुए कहा है – 'गुणवृद्धिं' करते रहो। गुणों को बढ़ाने की प्रेरणा दी है। वैसे देखा जाय तो गुणवृद्धि करने का लक्ष्य ही चूक गये हैं आप लोग। 'मुझे मेरे गुणों की वृद्धि करना है, गुणों को पुष्ट करना है,' ऐसा विचार कभी आया है क्या ? ये दो दिनों में आया हो तो संभव है। दो दिन से अपनी यही बात चल रही है।

– पैसे बढ़ाने के विचार आते होंगे,

– मान–सम्मान बढ़ाने के विचार आते होंगे,

– आरंभ–समारंभ बढ़ाने के विचार आते होंगे...

– मकान–बंगले–फ्लेट बढ़ाने के विचार आते होंगे... परंतु गुणवैभव बढ़ाने के विचार नहीं आते ! क्योंकि गुण की महत्ता का विचार ही कभी नहीं किया। गुणों के अभाव में जीवन कितना विकृतियों से भर गया है, यह विचार भी शायद ही आया होगा ? व्यक्तित्व को गुणमय बनाने का संकल्प करना पड़ेगा। प्राप्त किये हुए गुण चले न जाय, इसलिए सावधान रहना पड़ेगा। जाग्रत रहना पड़ेगा।

एक बात समझ लो कि गुण ही सच्चा धन है, सच्ची संपत्ति है। कितनी भी भौतिक संपत्ति होगी आपके पास, परंतु गुण–वैभव नहीं होगा, तो आप दरिद्र है – यह मानना पड़ेगा। और सभी गुणों का आधार है सम्यग् दर्शन ! समकित ! इसलिए सम्यग् दर्शन गुण पर विवेचन कर रहा हूँ।

## सम्यग् दर्शन के पाँच लक्षण :

सम्यग् दर्शन के पाँच लक्षण बताये गये हैं, वैसे तो ये पाँच गुण ही हैं, जिस व्यक्ति के चित्त में ये गुण होते हैं, वह महानुभाव सम्यक्त्व से विभूषित होता है। 'गुणस्थानक–क्रमारोह' नाम के ग्रंथ में कहा गया है –

**कृपा–प्रशम–संवेग–निर्वेदास्तिक्य लक्षणाः ।**
**गुणा भवन्ति यच्चित्ते सः स्यात् सम्यक्त्वभूषितः ।।**

१. शम, २. संवेग, ३. निर्वेद, ४. अनुकंपा और ५. आस्तिकता – ये पाँच

लक्षण हैं सम्यग् दर्शन के ! वैसे ये लक्षण बाह्य नहीं हैं, आन्तरिक हैं, मनुष्य स्वयं के लिए, इन लक्षणों के माध्यम से निर्णय कर सकता है कि 'मेरे में सम्यग् दर्शन-गुण प्रगट हुआ है या नहीं ।'

अब इन पाँच लक्षणों पर विवेचन करूँगा । इन पाँच गुणों को आत्मसात् कर लो, 'सम्यग् दर्शन' कभी नहीं जा सकता ! अति पुष्ट बन जायेगा, दृढ़ बन जायेगा ।

आत्मा में सम्यग् दर्शन-गुण प्रगट होने पर सर्वप्रथम 'आस्तिक्य' गुण प्रगट होता है । बाद में अनुकंपा, निर्वेद, संवेग और प्रशम-गुण होते हैं ।

## आस्तिक्य :

पहला गुण होता है आस्तिक्य का । इसका व्युत्पत्ति अर्थ इस प्रकार किया गया है – अस्तीति मतिरस्येत्यास्तिकः तस्य भावः आस्तिक्यम् । 'है' (अस्ति) ऐसी जिसकी बुद्धि होती है वह आस्तिक कहा जाता है । आस्तिक के भाव को 'आस्तिक्य' कहा जाता है । क्या है ? जब जीव मानता है –

- आत्मा है,
- आत्मा नित्य है,
- आत्मा कर्ता है,
- आत्मा भोक्ता है,
- निर्वाण है,
- निर्वाण का उपाय है ।

इन ६ बातों के अस्तित्व को मानना, आस्तिक्य है । इन ६ बातों को जिनवचन के अनुसार मानना आस्तिक्य है । 'जिस प्रकार सर्वज्ञ-वीतराग परमात्मा ने यह ६ बातें बतायी हैं, उसी प्रकार मैं मानता हूँ' – यह श्रद्धा आस्तिक्य है । इसलिए इन ६ बातों को अच्छी तरह समझ लेना ।

१. आत्मा है, कैसे माना जायं कि आत्मा है ? आत्मा का अस्तित्व कैसे सिद्ध किया गया है ? आत्मा को सिद्ध करनेवाले कौन-कौन-से प्रमाण हैं ?

२. आत्मा नित्य है, ठीक है, आत्मा अनित्य क्यों नहीं है ? क्या आत्मा नित्य ही है ? या नित्यानित्य है ? किस अपेक्षा से नित्य है, किस अपेक्षा से अनित्य है ? एकान्ततः नित्य मानने से कौन-से तर्क रोकते हैं ? एकान्ततः अनित्य मानने से कौन-से तर्क मना करते हैं ?

३. आत्मा कर्ता है, कौन–सी आत्मा में कर्तृत्व होता है ? शुद्ध आत्मा में या अशुद्ध आत्मा में ? कैसी आत्मा कर्मबंधन करती है ? कैसे करती है ? शुद्ध आत्मा का कर्तृत्व किस प्रकार का होता है ?

४. आत्मा भोक्ता है, आत्मा क्या भोगती है ? स्वोपार्जित कर्मों की आत्मा कैसे भोक्ता होती है ? आत्मा का भोक्तृत्व सिद्ध करनेवाले तीन प्रमाण कौन–से हैं ?

५. निर्वाण है, निर्वाण भावरूप है या अभावरूप ? निर्वाण के विषय में बौद्ध आदि दर्शनों की कैसी कल्पना है ? जिनेश्वरों ने निर्वाण का, मोक्ष का कैसा स्वरूप बताया है ?

६. निर्वाण के उपाय हैं, कैसे उपाय बताये हैं जिनेश्वरों ने ? अन्य बौद्धादि दर्शनों ने जो उपाय बताये हैं और जिनेश्वरों ने जो उपाय बताये हैं, उसमें क्या अन्तर है ? जिनेश्वरों के बताये हुए उपाय ही क्यों सही है ?

जब आत्मा में 'आस्तिक्य' गुण प्रगट होता है, तब ये ६ बातें 'अस्ति'–'है' ऐसी श्रद्धा बन जाती है । वह मनुष्य सच्चा श्रद्धावान् बन जाता है । जिनवचनों को ही यथार्थ मानने लगता है ।

## अनुकंपा :

दूसरा गुण प्रगट होता है अनुकंपा का, दया का । दुःखी जीवों के दुःख दूर करने की भावना जाग्रत होती है । दूसरे जीवों के दुःख देखकर उसका हृदय द्रवित हो जाता है । यदि शक्ति होती है तो दुःख दूर करने की वह प्रवृत्ति करता है । दुःख दूर करने की प्रवृत्ति, वह बिना पक्षपात करता है ।

दया–अनुकंपा में पक्षपात को स्थान ही नहीं होता । 'यह मेरा मित्र है, दुःखी है, इसलिए मैं उसका दुःख दूर करूँ...। यह मेरा परिजन है, स्नेही है, परिचित है... वह दुःखी है, इसलिए मैं उसका दुःख दूर करूँ... ।'

यह व्यक्ति दुःखी है, परंतु मुझे क्या ? न यह मेरा मित्र है, स्नेही है, स्वजन है... । यह मनुष्य दुःखी है, परंतु मुझे क्या लेना–देना ? मेरा वह क्या लगता है ?

इस प्रकार का पक्षपात, अनुकंपा में नहीं हो सकता है । अनुकंपा का विषय है जीवमात्र ! सभी मनुष्य.... सभी पशु.... सभी पक्षी.... और समग्र जीव सृष्टि । जो दुःखी हो, वे सभी जीव दया के पात्र होते हैं ।

पहले जाग्रत होनी चाहिए भाव–दया । भाव–अनुकंपा । दूसरे जीवों का दुःख देखकर आपका हृदय द्रवित हो जाना चाहिए । द्रवित हृदय – 'मैं इसका दुःख कैसे दूर करूँ ?' यह सोचता है ।

– यदि वह भूखा है, उसे भोजन देता है ।

– यदि वह रोगी है, उसका उपचार करवाता है ।

– यदि वह वस्त्र चाहता है, उसे वस्त्र देता है ।

दुःख दूर करने के जो जो साधन उसके पास होते हैं, दुःखी को देकर, उसको दुःखमुक्त करने का प्रयत्न करता है ।

दुःखी जीवों के गुण–अवगुण नहीं देखें । कभी ऐसा बनता है कि दुःख मनुष्य को अवगुणी बना देता है । अवगुणी जीव भी दयापात्र है । धिक्कारपात्र नहीं है ।

## निर्वेद :

जब जीवात्मा की दृष्टि सम्यग् बनती है, उसको सारा संसार दुःखमय दिखता है । संसार की चारों गतियों में वह दुःख का दर्शन करता है ।

– नरकगति का वर्णन, जब वह ज्ञानी–शास्त्रज्ञ पुरुषों के मुख से सुनता है, उसका कलेजा काँपने लगता है ।

– तिर्यंचगति के दुःखों को जब वह प्रत्यक्ष देखता है.... उसका मन ग्लानि से भर जाता है ।

– मनुष्यगति में भी आंतर–बाह्य दुःखों को देखता है, जानता है, तब उसका मन विरक्ति से भर जाता है ।

– देवलोक के मानसिक दुःखों का वर्णन सुनता है शास्त्रों में से, तब देवलोक के प्रति भी उदासीनता आ जाती है ।

– सभी दुःखों का कारण वह जानता है । कर्मों की वजह से ही सारे दुःख उत्पन्न होते हैं, परंतु कर्मजन्य कठोर विपाकों का प्रतिकार करने की उसकी शक्ति नहीं होती है, इसलिए पापकर्मों के विपाक उसको सहन करने ही पड़ते हैं । इससे संसार के प्रति उसका ममत्व नहीं रहता है । संसार के प्रति निर्वेद आ जाता है । उब जाता है संसार में ।

इस निर्वेद में ज्ञानदृष्टि होती है । ऐसा नहीं होता कि संसार के दुःखों में निर्वेद आ जाय और जब वैषयिक सुख मिल जाय तब खुश हो जाय ! वह सम्यग्

दृष्टि जीव संसार के वैषयिक सुखों का विपाक जानता है, परिणाम का विचार करता है, इसलिए सुखों का ममत्व नहीं रहता है। सुखों के अनेक साधन पास होने पर भी, आसक्ति नहीं रहती है। अनासक्त भाव से वह गृहवास में रहता है।

आप लोग अपने आपको समकित दृष्टि मानते हो न ? संसार में अनासक्त भाव से रहते हो न ? आत्मनिरीक्षण करना। भ्रमणा में नहीं रहना।

## संवेग :

समकित दृष्टि मनुष्य–जीवात्मा, विशुद्ध आत्मस्वरूप पाने की अभिलाषा रखता है। उसके मन में मुक्ति के सुख की कल्पना आ जाती है। वह ज्ञानी महापुरुषों के संपर्क में रहने से मुक्ति के सुख को कुछ अंशों में समझता है।

समझता है, परंतु वह मुक्ति–सुख पाने का पुरुषार्थ नहीं कर सकता है। केवल इच्छा, अभिलाषा रहती है। उसके भीतर की चाह मात्र रहती है।

**सभा में से :** इच्छा–अभिलाषा मुक्ति–सुख की रहती है, तो फिर समकिती जीव वैषयिक सुख–भोगों में आसक्त क्यों दिखता है ?

**महाराजश्री :** समकिती मनुष्य भीतर से मुक्ति–सुख चाहता है, बाह्य जीवन में रंगराग में डुबा हुआ दिखता है ! यही उसके जीवन में बहुत बड़ा द्वन्द्व होता है। वैषयिक सुखों के आवेग में वह बह जाता है, परंतु जब आवेग शांत हो जाता है तब 'मैंने यह अच्छा नहीं किया.... पाप किया....' उसके मन में पश्चात्ताप उठता है। ग्लानि पैदा होती है।

वास्तव में समकित दृष्टि जीव दोहरी प्रकृति का प्राणी होता है ! एक ओर वह अपनी सहज प्रवृत्तियों, आवेगों, इच्छाओं के अनुसार जीवनयापन करता है। दूसरी तरफ वह जागरूक होता है, नैतिक–धार्मिक और आध्यात्मिक प्रकृति का होता है। वह निम्न प्रकार की प्रकृति का परिशोधन चाहता है : दोनों प्रकृतियों का टकराव होता रहता है उसके जीवन में। इसी द्वन्द्व के कारण उसका जीवन कभी उच्चतर दिखता है तो कभी निम्नतर ! समकित दृष्टि इसी द्वन्द्व के कारण भीतर में दुःखी और व्याकुल रहता है। कभी शुभ तत्त्व की हार होती है उसके जीवन में, कभी अशुभ तत्त्व की हार होती है उसके जीवन में। शुभ–अशुभ तत्त्वों की हार–जीत चलती रहती है।

## प्रशम :

पाँचवा लक्षण है प्रशम । शम कहें, प्रशम कहें, उपशम कहें – एक ही बात है । तात्पर्य इतना ही है कि समकित दृष्टि जीव का क्रोध कम हो जाना चाहिए । इतना कम हो जाना चाहिए कि अपराधी जीव के ऊपर भी क्रोध न हो ! रोष न हो । क्रोध की वासना उपशान्त होनी चाहिए ।

हाँ, संपूर्णतया वह क्रोध विजय नहीं कर पायेगा, परंतु क्रोध को हो सके उतना जल्दी शांत करेगा । वैर की गाँठ नहीं बंधेगी । इस प्रकार का प्रशम–गुण प्रगट होने के दो कारण बताये गये हैं ।

– क्रोध–कषाय के भयानक परिणाम का चिंतन करने से,

– पूर्वजन्म से ही उपशमभाव के संस्कार लेकर आने से !

ये दोनों बातें कहनेवाले महान् ज्ञानी साधुपुरुष हैं । इसलिए एक बात निश्चित होती है कि प्रयत्न करने से क्रोध पर संयम किया जा सकता है ! क्रोध के कटु परिणामों का चिंतन करना, एक प्रयत्न ही है न ? परंतु यह प्रयत्न मन–वचन–काया से करना चाहिए । संकल्पपूर्वक होना चाहिए । 'मुझे क्रोध नहीं करना है,' यह संकल्प होना चाहिए ।

समकित दृष्टि जीवात्मा के साथ कोई व्यक्ति दुर्व्यवहार करें, उसको नुकसान पहुँचाये.... उसकी निन्दा करें.... फिर भी उसके ऊपर क्रोध नहीं करें, क्रोध उत्पन्न हो ही नहीं ! ऐसी प्रकृति का निर्माण करना है, समकित दृष्टि जीव को !

कुछ योगभ्रष्ट आत्माएँ ऐसी होती हैं कि जो पूर्वजन्मों से ऐसी प्रकृति लेकर यहाँ जनमे हुए होते हैं, कि जिनको सहजता से उपशम भाव रहता है ! हृदय में क्रोध उठता ही नहीं है ।

सम्यग् दर्शन–गुण, इन पाँच गुणों से पुष्ट होता है, विशुद्धि पाता है और पूर्णता की ओर प्रेरित करता है जीव को ।

## दर्शन–प्रतिमा की आराधना करें :

'धर्मबिन्दु' ग्रंथ के टीकाकार आचार्यश्री ने, सम्यक्त्व–गुण की वृद्धि–पुष्टि करने के लिए 'दर्शन–प्रतिमा' की आराधना करने का निर्देश किया है । 'दर्शन–प्रतिमा' श्रावक की जो ११ प्रतिमाएँ हैं उसमें पहली प्रतिमा है । 'दर्शन–प्रतिमा' के विषय में समझाने से पूर्व, उन ११ प्रतिमाओं के नाम सुन लो ।

१. दर्शन–प्रतिमा (सम्यक्त्व)

२. व्रत–प्रतिमा (अणुव्रत)

३. सामायिक–प्रतिमा (सावद्यत्याग, निरवद्यसेवन)

४. पौषध–प्रतिमा (पर्वदिनों में विशेष अनुष्ठान)

५. प्रतिमा–प्रतिमा (कायोत्सर्ग)

६. अब्रह्मत्याग–प्रतिमा (ब्रह्मचर्यपालन)

७. सचित्तवर्जन–प्रतिमा (सचेतन द्रव्य का त्याग)

८. आरंभवर्जन–प्रतिमा (खेती वगैरह आरंभों का त्याग)

९. प्रेष्यत्याग–प्रतिमा (दूसरों के पास आरंभ नहीं करायें)

१०. उद्दिट्ठ–त्याग–प्रतिमा (श्रावक के निमित्त बनाये हुए भोजन का त्याग)

११. श्रमणभूत–प्रतिमा (साधु की तरह रहें)

'प्रतिमा' का अर्थ होता है विशिष्ट कोटि की धर्मआराधना। हर प्रतिमा धारण करने का निश्चित समय होता है। जैसे कि पहली प्रतिमा का एक महीना, दूसरी प्रतिमा के दो महीने.... तीसरी के तीन महीने.... ग्यारहवी के ११ महीने। पूर्व–पूर्व की प्रतिमा की आराधना, उत्तर–उत्तर प्रतिमाओं की आराधना के साथ करने की होती है। जैसे दूसरी प्रतिमा की आराधना करते समय, पहली प्रतिमा की आराधना भी चालू रखने की होती है।

आज तो मुझे पहली 'दर्शन–प्रतिमा' के विषय में समझाना है। इस प्रतिमा की आराधना से सम्यग् दर्शन–गुण दृढ़ होता है, पुष्ट होता है। शेष १० प्रतिमाओं की आराधना से सम्यक् चारित्र–गुण पुष्ट होता है।

## दर्शन–प्रतिमा :

'दर्शन–प्रतिमा' की आराधना में प्रमुख चार बातें होती हैं।

१. पहली बात है आस्तिक्य, अनुकंपा, निर्वेद, संवेग और प्रशम – ये पाँच गुणों की आराधना। इन पाँच गुणों के विषय में आपको संक्षेप में बता दिया है।

२. दूसरी बात है मिथ्या अभिनिवेश का त्याग। किसी प्रकार का दुराग्रह नहीं रखने का। जो मिथ्या है, असत् है ऐसी मान्यताओं का त्याग होना चाहिए।

३. तीसरी बात है पाँच अतिचार (दोष) का त्याग करना है। शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि–प्रशंसा और मिथ्यादृष्टि–संस्तव – ये पाँच अतिचार हैं। इन पाँच अतिचारों का स्वरूप संक्षेप में आपको समझाता हूँ।

पहला अतिचार है **शंका**। यह दोष सम्यग् दर्शन–गुण को दाग लगाता है। श्रद्धा को निर्बल करता है। सर्वज्ञ वीतराग भगवंत ने जैसे सरल आचारमार्ग बताया है वैसे गहन–गंभीर नौ तत्त्व भी बताये हैं। उसमें धर्मास्तिकाय आदि अरूपी द्रव्यों का भी अस्तित्व प्रतिपादित किया है। जो मनुष्य मतिमंद होता है, यानी जिसकी बुद्धि मंद होती है वह मनुष्य इन गहन तत्त्वों को यथार्थ रूप में नहीं समझ पाता है, तब उसके मन में शंका पैदा होती है कि – 'क्या ऐसे धर्मास्तिकायादि अरूपी पदार्थ होंगे क्या ?'

शंका के दो प्रकार होते हैं : आंशिक शंका और सर्व शंका। जैसे 'जीव तत्त्व तो है, परंतु जीव शरीरव्यापी है या शरीर के एक भाग में ही जीव होता है ? जीवात्मा सप्रदेशी है या अप्रदेशी ?' यह है आंशिक शंका। जीव का अस्तित्व मान लिया, परंतु उसके स्वरूप में शंका की। इसको आंशिक शंका कहते हैं। सर्व शंका इस प्रकार होती है – 'क्या धर्मतत्त्व है या नहीं ?' धर्मतत्त्व के अस्तित्व के विषय में हो शंका ! सर्वांश में शंका। यह दोनों प्रकार की शंका, सम्यग् दर्शन–गुण को दूषित करती है। इसलिए ज्ञानी पुरुष शंका नहीं करने का उपदेश देते हैं। कई पदार्थ ऐसे होते हैं, जिनकी सिद्धि तर्क से नहीं हो सकती है, केवल आगम–प्रमाण से मानना होता है, वैसे पदार्थों में भी शंका नहीं करना। क्योंकि शास्त्र–रचना करनेवाले निःस्वार्थ ज्ञानी पुरुष थे। उनको असत्य का आश्रय लेने का कोई प्रयोजन नहीं था।

शास्त्रों की बातों में शंका होने के पाँच कारण होते हैं –

१. वैसे विशिष्ट कोटि के ज्ञानी आचार्य आज नहीं हैं।

२. ज्ञेय पदार्थों की गहनता–गंभीरता है।

३. जीवों का ज्ञानावरणीय कर्म का उदय होने से।

४. हेतु और उदाहरण का जहाँ अभाव होता है, और

५. बुद्धि मंद होती है।

शास्त्रों की सभी बातें समझ में नहीं भी आती हैं। अपनी बुद्धि मर्यादित होती है, बुद्धि की मर्यादा होती है। शास्त्रों की बातें अनंत–अपार होती हैं। ऐसा अभिमान कभी नहीं करना चाहिए कि – "मैं सभी शास्त्रों की, धर्मग्रंथों की बातें समझ सकता हूँ !' सयाना पुरुष ऐसा अभिमान कभी नहीं करेगा। वह सर्वज्ञशासन को कभी झूठा नहीं कहेगा। सर्वज्ञशासन का अपलाप नहीं करेगा। वह इतना

तो समझता है कि परानुग्रह–परायण, राग–द्वेष–मोहविजेता युगश्रेष्ठ वैसे जिनेश्वर कभी असत्य प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं ।

एक बात निश्चित है कि जिनभाषित एक भी तत्त्व के प्रति अरुचि होने से आत्मा को मिथ्यात्व का स्पर्श हो ही जाता है । जिनभाषित एक भी पदार्थ में शंका होने से जिनेश्वर में, अरिहंत में, तीर्थंकर में अविश्वास व्यक्त होता है । यही मिथ्यात्व है । यह मिथ्यात्व जीव को संसार में भटका देता है । इसलिए 'जिनभाषित पदार्थ ही प्रमाणभूत हैं,' ऐसी श्रद्धा बनाये रखना है । अपनी बुद्धि की मंदता का, दुर्बलता का स्वीकार करना ही होगा ।

दूसरा अतिचार है **कांक्षा** । कांक्षा यानी अभिलाषा । जब मनुष्य दूसरे धर्मों का अध्ययन करता है, दूसरे धर्मों की बातें सुनता है । वह सोचता है कि इन वैदिक, बौद्ध..... वगैरह धर्मों में विषयसुखों का सेवन करते हुए भी स्वर्ग पाने की बातें बतायी गई हैं.... मांसभक्षण, मद्यपान.... वगैरह करने में दोष नहीं बताया है, तो इन धर्मों की साधना करनी चाहिए । जिन धर्मों में ज्यादा तप–त्याग करने का नहीं होता है, पापों का त्याग करने की बातें नहीं कही गई हैं, वैसे धर्म का पालन करने की इच्छा होती है, तो 'कांक्षा' नाम का अतिचार लगता है । सम्यक्त्व को दूषित कर देता है ।

वैसे, किसी एक धर्म का आकर्षण पैदा हो तो भी 'कांक्षा' दोष लगता है । जैसे – बुद्ध भगवान ने भिक्षुओं के लिए सरल और सुखदायी धर्म बताया । मृदु शय्या में शयन करना, सुबह में उठते ही पेय लेना, मध्याह्न में भोजन करना, अपराह्न में पेय लेना और मध्य रात्रि में द्राक्ष.... शर्करा लेना । इस प्रकार बिना कष्ट किये मोक्ष पाने का । पसंद आ जायं ऐसा धर्म, तो 'कांक्षा' नाम का अतिचार लग जाता है । जिनभाषित वचनों में अविश्वास हो जाता है । 'जिनभाषित मोक्षमार्ग कठोर है, कष्टमय है.... जब कि बौद्ध धर्म सरल और सुखमय है.... अच्छा है !' ऐसा विचार सम्यक्त्व को दूषित कर देता है । इसलिए, दूसरे धर्मों का श्रवण–अध्ययन सावधानी से करना । गुण–दोषों का पर्याप्त पर्यालोचन करने की क्षमता हो तो ही करना ।

तीसरा अतिचार है **विचिकित्सा** । धर्मआराधना के फल के विषय में संदेह होना विचिकित्सा है ।

'मैं कठोर... दुष्कर तपश्चर्या करता हूँ, परंतु क्या परलोक में इसका फल मिलेगा क्या ? क्या मुझे स्वर्ग के सुख मिलेंगे या नहीं ? मैंने ज्ञानी पुरुषों से

सुना तो है... परंतु क्या सत्य होगी वह बात ? तप से निर्जरा होती है क्या ? पहले के युग में मनुष्यों के धृतिबल–संघयणबल वगैरह उच्च कोटि के थे, इसलिए उनको तो तपश्चर्या आदि धर्मसाधना का फल मिलता था, हमारे धृतिबल–संघयण बल निर्बल है, निम्नकोटि के हैं, तो फिर हमें धर्मसाधना का फल कैसे मिलेगा ?'

यह है विचिकित्सा । इससे सम्यग् दर्शन दूषित होता है ।

'विचिकित्सा' का दूसरा अर्थ भी शास्त्र में बताया गया है । विचिकित्सा यानी निन्दा । सदाचारों की निन्दा, साधुओं की निन्दा । जैसे कि–'ये जैन साधु स्नान नहीं करते इसलिए उनका शरीर कैसा मलिन और दुर्गंधमय होता है ? वे स्नान क्यों नहीं करते ? प्रासुक–अचित्त जल से स्नान करें तो क्या दोष लगता है ? स्वच्छ तो रहना चाहिए न ?' यह भी विचिकित्सा है ।

चौथा अतिचार है **अन्य धर्मों की प्रशंसा** ।

दूसरे धर्मों के आचार्यों को राज्य–सम्मान मिलता हुआ देखकर उनके प्रति आकर्षित होकर सोचे कि – 'अहो, ये बौद्ध आचार्य..... ये वैदिक आचार्य कैसे राज्यपूज्य हैं ! कैसे सर्वजन मान्य हैं !' इस प्रकार प्रशंसा करता रहे, तो समकित दृष्टि जीव अपने सम्यक्त्व को दूषित करता है । यदि आप समकित दृष्टि हैं, तो आपको स्थिर चित्त से सोचना होगा । दूसरे धर्मों का बाह्य आडंबर देखकर प्रभावित नहीं होना है । बाह्य मान–सम्मान देखकर आकर्षित नहीं हो जाना है । अन्यथा आपका सम्यक्त्व संकट में पड़ जायेगा ।

पाँचवा अतिचार है **अन्य धर्मों की सेवा** ।

यदि आप दूसरे धार्मिकों (अन्य धर्म के) के साथ रहते हो, उनके साथ वार्तालाप करते हो, धर्मतत्त्वों की चर्चा करते हो.... और आपकी बुद्धि यदि मंद है, दुर्बल है, तो आपकी जिनोक्त तत्त्वों की श्रद्धा हिल सकती है । आपका सम्यक्त्व दूषित हो सकता है ।

पहली 'दर्शन–प्रतिमा' धारण करनेवालों को इन अतिचारों से बचना है ।

'दर्शन–प्रतिमा' धारण करनेवालों को चौथी बात का जो पालन करना होता है, वह है सम्यग् दर्शन के विशिष्ट आचारों का पालन और राजाभियोग वगैरह ६ अभियोगों का त्याग करना ।

## ६ अभियोग :

अभियोग यानी इच्छा नहीं होने पर भी जो करना पड़े । और करने पर सम्यक्त्व का भंग नहीं होता है । ऐसे ६ अभियोग है ।

१. पहला है **राजाभियोग**। कभी राजा की आज्ञा से, जिनमत से विपरीत प्रवृत्ति करना पड़े, तो करें।

२. दूसरा है **गणाभियोग**। कभी स्वजन-परिजनों के आग्रह से जिनमत से विपरीत प्रवृत्ति करना पड़े, तो करें।

३. तीसरा है **बलाभियोग**। कभी कोई बलवान् मनुष्य के भय से नहीं करने योग्य प्रवृत्ति करना पड़े, तो करें।

४. चौथा है **देवाभियोग**। कभी कोई मिथ्यादृष्टि देव-दानव के भय से, नहीं करने योग्य प्रवृत्ति करना पड़े, तो करें।

५. पाँचवा है **कान्तारवृत्ति**। कभी जंगल में भटक गये, प्राणरक्षा करना मुश्किल हो गया हो, तब प्राणरक्षा हेतु अयोग्य प्रवृत्ति करना पड़े तो करें।

६. छट्ठा है **गुरु आदि का निग्रह**। विशेष परिस्थिति में गुरु आदि उपकारी-वर्ग के आग्रह से, जिनमतविरुद्ध प्रवृत्ति करना पड़े तो करें।

ये छः प्रकार के अपवाद हैं। जो समकित दृष्टि जीव हैं, उनके लिए ये छः अपवाद हैं। इनमें से एक भी कारण उपस्थित होने पर जो कुछ वंदनादि करना पड़े, वह भक्तिभाव से नहीं करें। भक्तिरहित केवल द्रव्यक्रिया ही करें।

परंतु 'दर्शन-प्रतिमा' धारण करनेवाला सत्त्वशील पुरुष, इन कारणों के उपस्थित होने पर भी अपवादमार्ग का आलंबन नहीं लेता है। जो कोई आपत्ति आये, सहन करने में वह समर्थ होता है। निर्भय होता है।

## समकित दृष्टि मनुष्य क्या करता है ?

एक बात समझना कि जो समकित दृष्टि मनुष्य, चौथे गुणस्थानक पर होता है वह व्रतधारी नहीं होता है। वह अव्रती होता है। चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होने से वह व्रत-नियम धारण नहीं कर सकता है। परंतु उसके हृदय में वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा के प्रति, उपकारी गुरुजनों के प्रति एवं संघ के प्रति भक्ति होती है, प्रीति होती है। इसलिए वह जिनशासन की प्रभावना करने के लिए सदैव तत्पर रहता है।

भक्ति करता है यानी पर्युपास्ति करता है। भक्तिभाव से सेवा करता है। अपनी शक्ति के अनुसार शासन की उन्नति हो, वैसी सत्प्रवृत्ति करता रहता है।

## सम्यक्त्व की स्तुति :

अंत में सम्यक्त्व-गुण की स्तवना कर, प्रवचन पूर्ण करूँगा। 'अध्यात्मसार'

ग्रंथ में महोपाध्याय श्री यशोविजयजी ने कहा है –

कनीकैव नेत्रस्य, कुसुमस्येव सौरभम् ।
सम्यक्त्वमुच्यते सारः सर्वेषां धर्मकर्मणाम् ।।

'जिस प्रकार आँखों में पुतली होती है, पुष्प में सुवास होती है वैसे सभी धर्मों में सारभूत सम्यक्त्व होता है ।'

'सम्यग् दर्शन' महत्त्वपूर्ण गुण है । इस गुण के बिना किसी भी जीव की मुक्ति नहीं हो सकती है । चारित्र के बिना मुक्ति हो सकती है, सम्यक्त्व के बिना कभी भी नहीं ! इसलिए इस गुण को परिपुष्ट करना अति आवश्यक है । परिपुष्ट करने का उपाय भी बताया है । आपका सम्यग् दर्शन दृढ़ रहे, यही मंगल कामना ।

आज बस, इतना ही ।

★ ★ ★

# प्रवचन : ८३

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में श्रावक जीवन के विषय में विशद मार्गदर्शन दिया है। एक-एक बात उन्होंने इतनी उपयोगी और हितकारी बतायी है कि यदि मनुष्य उस प्रकार जीवन बनाये तो उसकी भव्य उन्नति हो जायं। आनन्द और प्रसन्नता से जीवन भर जायं।

अपनी बात चल रही है गुणवृद्धि की। श्रावक गुणवृद्धि करता रहे। उसका लक्ष्य बना रहना चाहिए गुणवृद्धि करने का। एक रहस्यभूत बात समझना कि ज्यों ज्यों जीवात्मा गुणसमृद्ध बनता जाता है त्यों त्यों वह परम आत्मविशुद्धि की दिशा में अग्रसर बनता जाता है। परम आत्मविशुद्धि का अर्थ है अनंत गुणों का प्रगटीकरण। दोष नष्ट होते जाते हैं और गुणों में वृद्धि होती जाती है। क्रमशः सभी दोषों का क्षय हो जाता है और अनंत गुण प्रगट हो जाते हैं। यही तो मोक्ष है, मुक्ति है।

ग्रंथकार आचार्यदेव ने 'गुणवृद्धि' करने का कर्तव्य बताया है। इसमें सभी गुणों के आधारभूत 'सम्यग् दर्शन' का गुण बताया है। उस गुण को दृढ़ करने की, पुष्ट करने की प्रेरणा दी है। पुष्टीकरण के उपाय भी बताये हैं। 'दर्शन-प्रतिमा' की आराधना, श्रेष्ठ उपाय बताया है। कल मैंने आपको 'दर्शन-प्रतिमा' के विषय में बताया है। आज मैं पाँच लोकोत्तर गुण बताना चाहता हूँ। इन गुणों से मनुष्य का जीवन उन्नत तो बनता ही है, दुनिया के लिए भी आदर्शभूत बनता है। कुछ महानुभावों में ये गुण सहजरूप से दिखाई देते हैं। पूर्वजन्मों की साधना का फल होता है वह।

## लोकोत्तर पाँच गुण :

इसी ग्रंथकार आचार्यदेव ने 'ललितविस्तरा' में और 'षोडशक' में सम्यक्त्व को पुष्ट करनेवाले पाँच गुण बताये हैं : १. औदार्य, २. दाक्षिण्य, ३. पाप-जुगुप्सा, ४. निर्मल बोध और ५. जनप्रियता। जिस प्रकार, मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से 'सम्यग् दर्शन' गुण प्रगट होता है, वैसे कषायमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से औदार्य आदि गुण प्रगट होते हैं। जैसे जैसे क्षयोपशम की वृद्धि होती जाती है, वैसे वैसे औदार्यादि गुणों का अमृतास्वाद बढ़ता जाता है। और

अमृत–गुणों का अमृत विषयाभिलाष के जहर को मार डालता है । विषयों की अभिलाषा जहर है ! मानते हो क्या ? तो फिर जहर की अभिलाषा नहीं करनी चाहिए न ? करते रहते हो अभिलाषाएँ ! जब भी जहर लगे और जहर को उतारने की इच्छा जाग्रत हो तब गुणों के अमृत का पान करना शुरू करना ।

## औदार्य–उदारता :

औदार्य लोकोत्तर गुण है । यह गुण तभी आत्मा में प्रगट होता है, जब कृपणता और क्षुद्रता दोष दूर होते हैं । 'दानान्तराय कर्म' का क्षयोपशम भी अपेक्षित होता है । दानान्तराय कर्म का क्षयोपशम होने पर उदारता–गुण प्रगट होता है । समकित दृष्टि मनुष्य यदि उदार होता है तो वह शासन की उन्नति के अनेक शुभ कार्य करता रहता है । बुद्धिपूर्वक दान देता है । जहाँ जिस क्षेत्र में दान देना उचित होता है, वहाँ ही दान देता है ।

– जहाँ जिनमंदिर बनाना उचित होगा, वहाँ जिनमंदिर बनायेगा ।

– जहाँ उपाश्रय–धर्मशाला की आवश्यकता होगी वहाँ वह उपाश्रय और धर्मशाला बनायेगा ।

– जहाँ ज्ञानभंडार की आवश्यकता होगी, वहाँ ज्ञानभंडार बनायेगा ।

– जहाँ साधु–साध्वी को वैयावच्च जरूरी होगी, वहाँ वह वैयावच्च करेगा । औषध–उपचार में अपने पैसे लगायेगा ।

– जहाँ श्रावक–श्राविका को दरिद्रता में से बाहर निकालना जरूरी होगा, वहाँ श्रावक–श्राविका का उद्धार करेगा ।

यह मनुष्य के विवेक पर निर्भर करता है । आजकल.... कुछ वर्षों से यह विवेक नहीं दिखाई देता है । जैसे अपने संघों में कि जहाँ देवद्रव्य को आवश्यकता नहीं होती है, वहाँ देवद्रव्य में आप लोग लाखों रुपये देते हो, परंतु साधारण खाते में जरूरी रुपये भी नहीं देते हो । इसका परिणाम यह आया कि कई गाँवों में स्वप्नद्रव्य की बोली के रुपये साधारण खाते में ले जाते हैं ! कुछ गाँवों में ५०% ले जाते हैं साधारण खाते में ! कुछ गाँवों में २५% ले जाते हैं ।

वास्तव में रुपये देनेवाले तो आप लोग ही हो । साधारण खाते में जितने रुपये चाहिए उतने जमा करा दो, तो देवद्रव्य को साधारण खाते में ले जाने का पाप–दोष नहीं लगेगा ।

जहाँ ज्ञानद्रव्य की आवश्यकता हो वहाँ विवेकी मनुष्य पहले ज्ञानद्रव्य में दान

देगा । जहाँ साधु–साध्वी की वैयावच्च में रुपयों की आवश्यकता हो, वहाँ वैयावच्च में देना चाहिए । कुछ गाँवों में साधु–साध्वी की वैयावच्च के लिए रुपये नहीं होते हैं, संघ के पास वैयावच्च का फंड ही नहीं होता है, तो देवद्रव्य में रुपये उठाकर साधु–साध्वी की सेवा करते हैं ! दानवीर लोग यदि विवेकी बन जाय तो ऐसे दोष दूर हो सकते हैं ।

दानरुचि जीवों को संघ की पेढ़ी में पूछना चाहिए कि कौन–से क्षेत्र में घाटा है । जिस क्षेत्र में घाटा हो उसमें दान देना चाहिए । बाद में बोलियाँ बोलनी चाहिए । सबसे ज्यादा रुपये देवद्रव्य के संघों के पास होते हैं । ट्रस्टी लोग बैंकों में रुपये रखते हैं । बैंक कैसे–कैसे लोगों को लोन देती है ? उसमें से कैसे–कैसे धंधे होते हैं, आप लोग क्या नहीं जानते ? फिर भी कोई गंभीरता से सोचते ही नहीं हैं । देवद्रव्य की वृद्धि होती जाती है...दूसरे खाते घाटे में चलते हैं । फिर देवद्रव्य का ही उपयोग करते हैं ! दोष लगते हैं ।

उपदेशक मुनिवरों को भी चाहिए कि वे संघ को ऐसा उपदेश दें कि जिस जिस खाते में घाटा हो उन खातों को पहले भरपूर किये जाय । पुनः घाटा नहीं आना चाहिए । उदार लोगों को सही मार्गदर्शन मिलना चाहिए । यह शास्त्रीय मार्गदर्शन है कि पहले घाटे में चलनेवाले क्षेत्रों को भरपूर किये जाय । बाद में दूसरे क्षेत्रों में दान दिया जाय ।

जिन जिन दानवीर महानुभावों ने ज्ञानी–दीर्घदर्शी आचार्य–मुनिवरों का मार्गदर्शन लिया था, उन्होंने उचित क्षेत्रों में ही दान का प्रवाह बहाया था ।

– गुजरात के राजा कुमारपाल ने आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी का मार्गदर्शन लेकर, हर शुभ क्षेत्र में दान का प्रवाह बहाया था । कोई क्षेत्र दरिद्र नहीं रहा था ।

– आम राजा ने आचार्यश्री बप्पभट्टीसूरीश्वरजी का मार्गदर्शन लेकर, उचित क्षेत्रों में दान दिया था । जिनशासन की अपूर्व प्रभावना की थी ।

– महामंत्री विमल शाह, महामंत्री वस्तुपाल–तेजपाल, भामा शाह, जगडू शाह..... वगैरह श्रेष्ठियों ने भी ज्ञानी–दीर्घद्रष्टा आचार्यों का मार्गदर्शन लेकर योग्य क्षेत्रों में पर्याप्त मात्रा में दान दिया था ।

उदारता बड़ा गुण है । वह उदारता योग्य क्षेत्रों में बहनी चाहिए । इसलिए सभी गुणों के साथ विवेक–गुण तो होना ही चाहिए । विवेक के बिना कोई भी गुण शोभा नहीं देता है ।

वर्तमान काल में श्रीमंत लोगों में उदारता का गुण विशेष रूप में देखा जाता है। परंतु जहाँ तक मेरा अवलोकन है, मैं उन श्रीमंतों में विवेक नहीं देखता हूँ। ज्यादातर दानवीर लोग प्रसिद्धि चाहते हैं, प्रशंसा चाहते हैं....। जहाँ प्रसिद्धि और प्रशंसा मिलनेवाली हो, वहाँ वे लाखों-करोड़ों का दान देते हैं! जहाँ दान की जरूरत नहीं होती है, वहाँ!

## उदारता-गुण व्यापक चाहिए :

दूसरी बात भी विवेक की ही है। संघ-समाज में हजारों लाखों रुपयों का दान देनेवाले अपने घर में जब कृपण बन जाते हैं, स्नेही-स्वजन और नौकर-चाकर के साथ जब वे कृपणतापूर्ण, क्षुद्रतापूर्ण व्यवहार करते हैं.... तब उनका दान प्रशंसापात्र नहीं बनता है। दान से उसकी शोभा नहीं बढ़ती है। इसलिए मनुष्य को सर्वप्रथम घर में उदार बनना चाहिए।

एक महानुभाव ने संघ में स्वामिवात्सल्य किया था। रुपये पचास हजार का खर्च किया था। उदारता से संघ को भोजन दिया था। दूसरे दिन घर में उसने देखा कि पत्नी ने नौकर को ५० रुपये दिये। तूर्त ही पत्नी को पूछा : 'नौकर को ५० रुपये क्यों दिये?' पत्नी ने कहा : 'उसकी औरत बीमार है, दवा के लिए रुपये दिये हैं।'

'नहीं देने चाहिए इस प्रकार रुपये... । बीमारी का बहाना बनाकर ये लोग रुपये ले जाते हैं.... तू सरल है, नहीं जानती इन लोगों की आदत.... ।' और बड़ा भाषण सुना दिया! पत्नी विवेकी थी। १० साल से वह नौकर को जानती थी। सहायता करना आवश्यक था। वह उचित दान था। परंतु पुरुष उचित दान समझता ही नहीं था। इसलिए वह घर में अप्रिय बन गया था।

वैसे, पत्नी, पुत्र, पुत्री, माता-पिता वगैरह स्वजनों के साथ भी उदारतापूर्ण व्यवहार रखना चाहिए। भद्रामाता, शालिभद्र की हवेली में क्यों प्रिय थी? शालिभद्र की ३२ पत्नियों के लिए भद्रामाता ने १६ लाख स्वर्णमुद्रा देकर, १६ रत्नकंबल ली थी न? अपने लिए एक भी रत्नकंबल नहीं रखते हुए ३२ पुत्रवधूओं को दे दी थी न? ऐसी उदारता चाहिए। अपनी अपनी शक्ति के अनुसार उदार बनना है।

## दाक्षिण्यता :

दूसरा गुण बताया है दाक्षिण्यता का। दाक्षिण्यता यानी दूसरों की सेवा करने

का, दूसरों के कार्य करने का उत्साह ? यह उत्साह सदैव बना रहना चाहिए। यह उत्साह अखंड होगा तो जब कभी दूसरों का कार्य उपस्थित होने पर, आप अविलंब उसका काम करोगे। निःस्वार्थ भावना से करोगे।

जिस मनुष्य में यह दाक्षिण्य नहीं होता है, जो बेशर्म होता है, वह दूसरों का काम नहीं करेगा। सोचेगा कि – 'अपन क्या बेकार बैठे हैं ? अपन कितने लोगों के काम करते फिरेंगे ? अपन तो साफ मना कर देंगे।' हाँ कोई स्वार्थ दिखेगा तो वह आधी रात में भी काम करने चलेगा ! परोपकार का दिखावा करेगा ! दूसरे को आभारवश कर देगा। बाद में अपना स्वार्थ सिद्ध कर लेगा।

दाक्षिण्य गुणवाला मनुष्य, अपना स्वार्थ देखेगा ही नहीं, केवल परोपकार को, सेवा की भावना से ही दूसरों का काम करेगा। ऐसे दाक्षिण्य गुणवाले लोग दुनिया में महान् हो गये। सर्वजनप्रिय बन गये। कभी परोपकार करने को मन नहीं मानता हो, तो मन को समझाकर भी परोपकार करते रहना चाहिए। इस प्रकार परोपकार करते रहने से रस जाग्रत होगा। बाद में परोपकार की प्रवृत्ति स्वाभाविक बन जायेगी।

इस गुण को सिद्ध करने के लिए आपको गंभीर बनना होगा। धीर और स्थिर बनना होगा। दूसरे लोगों के गुण–दोष सुनने पर, जानने पर भी बोलने के नहीं। गुणों की उपबृंहणा करना और दोष देखने पर द्वेष नहीं करना, निंदा नहीं करना, यह है गंभीरता ! जिसका दोष आप जानते हैं, उसका ही कोई काम करने का प्रसंग आये, उस समय 'यह व्यक्ति लायक नहीं है, योग्य नहीं है, इसलिए मैं उसका काम नहीं करूँगा,' ऐसा विचार गंभीर मनुष्य नहीं करेगा। गंभीरता नहीं होगी तो उसका काम नहीं करेगा।

गंभीर मनुष्य सदैव हर महत्त्वपूर्ण बात का गहराई से विचार करेगा। दूसरे लोगों की रहस्यभूत बात, बड़ा दोष जानने पर भी वह जाहिर नहीं करेगा।

दाक्षिण्य गुण को टिकाने के लिए दूसरा गुण है धीरता। आपत्ति आने पर, प्रतिकूलता आने पर, कुछ भी अप्रिय बनने पर चंचल नहीं बनना, व्याकुल नहीं बनना, परंतु समताभाव से सहन कर लेना – धीरता है। अधोर नहीं बनना है। अघोर–चंचल क्यों होना ? जो होने का था, हो गया ! जो होने का होता है, होकर रहता है, कोई उसे मिथ्या नहीं कर सकता है। इसलिए शान्ति बनाये रखना है। इसमें भी, जो अपने उपकारी लोग होते हैं, गुणवान् पुरुष होते हैं, उनकी तरफ से कभी कुछ अप्रिय बनता है, प्रतिकूल बनता है, उस समय उनके प्रति रोष–

रीस नहीं करना है । धीरता बनाये रखना है, तब उनके प्रति दाक्षिण्य का भाव अखंड रहेगा । अन्यथा दाक्षिण्य का भाव नष्ट हो जायेगा ।

· दाक्षिण्य गुण को दृढ़ करने के लिए तीसरा गुण है स्थिरता । गांभीर्य और धैर्य के साथ-साथ स्थैर्य गुण भी आवश्यक है । अपने कर्तव्यमार्ग पर स्थिर रहना है । अपने गुणों को स्थिर रखने हैं । अपनी सत्प्रवृत्तियों में भी स्थिर रहना है ।

– जो कार्य आपने प्रारंभ किया, अपने मन को उसमें जोड़ दें, मन का उपयोग उसमें ही रखना है ।

– आपके सर पर जो जिम्मेदारी हो, आपका जो स्थान-स्टेटस हो, उसी के अनुरूप व्यवहार रखना, मर्यादा का पालन करना और कर्तव्यों को निभाना है ।

– हो सकता है कि कभी आपकी इच्छा से विपरीत बात बन गई, उस समय आप अपने स्वीकृत कार्य का त्याग नहीं करेंगे । कर्तव्य को छोड़ नहीं देंगे । आपको कर्तव्यपालन में अडिग रहना है । जिसको जो बोलना हो, बोलें.... जो करना हो, करें.... आप स्थितप्रज्ञ बन, अपने कर्तव्यों के पालन में लगे रहें ! यह स्थिरता गुण है ।

– आप स्थिर चित्तवाले बने रहें । जिस व्यक्ति के साथ आप बात करते हो, मन को उसी में स्थिर करें । स्थिरता से सुनें, स्थिरता से सोचें, स्थिरता से बोलें.... स्थिरता से व्यवहार करें ।

स्थिरता नहीं होगी तो क्या होगा, जानते हो ? कोई परोपकार का कार्य करते होंगे और अचानक आपका पर्सनल-निजी कार्य याद आ गया, आपका मन चंचल हो जायेगा, आप परोपकार का कार्य छोड़ देंगे और अपना कार्य करने चले जाओगे ! दाक्षिण्य गुण खंडित हो जायेगा ।

दाक्षिण्य गुण जीवन में अति आवश्यक है । क्योंकि दाक्षिण्य का संबंध सम्यग् दर्शन के साथ है । दाक्षिण्य को दृढ़ करने के लिए तीन गुण जरूरी है – गांभीर्य, धैर्य और स्थैर्य ।

## पाप-जुगुप्सा :

पाँच लोकोत्तर गुणों में तीसरा गुण है पाप-जुगुप्सा ।

सम्यग् दर्शन की नींव में यह गुण आवश्यक माना है । सम्यग् दर्शन तत्त्वरुचि-रूप है, धर्मरुचि-रूप है, यह तत्त्वरुचि और धर्मरुचि तभी आत्मा

में जाग्रत होगी, जब पापरुचि नष्ट हो जायेगी। पापरुचि यानी पापों का प्रेम। पापों का प्रेम बहुत गहरा होता है। पाप नहीं करने पर भी पाप-प्रेम हृदय में बना रहता है! इसलिए पाप-प्रेम को हृदय में से दूर करना होगा। दूर करने का उपाय है पाप-जुगुप्सा। पाप-जुगुप्सा करने के कुछ उपाय बताता हूँ।

१. सर्वप्रथम, पूर्वजन्मों में या इस जन्म में अपने से जो कोई पापाचरण हो गया हो, उसे याद कर, सच्चे दिल से पश्चात्ताप करें और प्रायश्चित्त करें। अपने पापी आत्मा की घृणा करें, उसका तिरस्कार करें। 'पाप वास्तव में घृणास्पद हैं, अहितकारी हैं,' इस आशय से पाप-जुगुप्सा करना है।

२. वर्तमानकाल में पाप-प्रसंग को पहले से ही जानकर, उससे दूर रहने का ख्याल आ जाना चाहिए कि तत्काल ऐसा पाप-प्रसंग आनेवाला है। दूर हो जाया करो।

– कोई पार्टी में गये। वहाँ का माहोल देखकर आपको मालुम हो जाना चाहिए कि 'यहाँ अब शराब का दौर शुरू हो जायेगा!' आपको बुद्धिपूर्वक वहाँ से हट जाना चाहिए।

– मित्रों के साथ कोई होटल में चले गये। वहाँ आपकी आँखें और आपकी नाक भाँप ले कि 'यहाँ अभक्ष्य भोजन मिलनेवाला है और मित्र लोग अभक्ष्य खानेवाले हैं!' आपको कैसे भी करके वहाँ से निकल जाना चाहिए।

– कोई मित्र के साथ गलत जगह पर चले गये। मित्र की बातों से और उस घर के माहोल से आपको मालुम हो गया कि 'यह वेश्या-गृह है,' आपको बुद्धिपूर्वक वहाँ से खिसक जाना चाहिए।

– आप तीर्थयात्रा को गये, कोई टूर में गये.... कोई हॉटल में ठहरे या धर्मशाला में ठहरे.... और वहाँ कुछ मित्रों ने जुआ खेलने की तैयारी की। आपको मालुम हो गया कि अब यहाँ जुआ खेला जायेगा और मुझे भी ये लोग शामिल करने का प्रयत्न करेंगे। मैं मना करूँगा तो भी वे लोग मुझे छोड़ेंगे नहीं, तो बुद्धिपूर्वक वहाँ से निकल जाना चाहिए।

'मुझे पापों से बचना है,' यह आपका दृढ़ निर्णय होना चाहिए। मन में से पापों का प्रेम निकल जाना चाहिए।

३. पाप-जुगुप्सा का तीसरा उपाय है भविष्यकालीन पापों की योजना नहीं बनायें। 'मैं ऐसा-ऐसा पाप करूँगा।' पापों का प्रेम होता है तो पापाचरण करने

की योजना बनाता रहता है । पापों का प्रेम हृदय में नहीं रहेगा तब वह पापों की योजना नहीं बनायेगा । धर्माचरण की योजना बनायेगा ।

पापाचरणों से होनेवाले कर्मबंध और कर्मग्रंथ के कटु परिणामों का चिंतन करोगे तो पापों से भय लगेगा, पापों के प्रति घृणा जगेगी और पापों का त्याग करने तत्पर बनोगे । फिर, भविष्य में पापों की योजना नहीं बनेगी ।

**निर्मल बोध :**

चौथा लोकोत्तर गुण है निर्मल बोध ।

पापरुचि नष्ट हो जाने पर हृदय में तत्त्वरुचि उत्पन्न होगी, धर्मरुचि उत्पन्न होगी । तत्त्वरुचि और धर्मरुचि प्रगट होने पर तत्त्व श्रवण करने की इच्छा पैदा होगी । तत्त्व श्रवण करने के लिए वह ज्ञानी सद्गुरु की खोज करेगा । उनके पास जायेगा, उनसे विनती करेगा – 'गुरुदेव, मुझे तत्त्व श्रवण करना है । कृपा करके मुझे ऐसे धर्मग्रंथ सुनाइये कि मेरे क्रोधादि कषाय उपशांत हो, मेरी वैषयिक वासनाएँ निर्मूल हो, मेरी मिथ्या कल्पनाएँ नष्ट हो, मेरे दोष–दुर्गुण दूर हो और मेरी मोक्षमार्ग की यात्रा निरंतर चलती रहे ।'

जब गुरुदेव उसको जिनवचन सुनायें उस समय वह एकाग्रता से श्रवण करें। एक–एक अक्षर को तन्मय होकर सुनता रहे । भावविभोर बनकर सुनता रहे । जो कुछ वह सुनता है, उसको याद रखने का प्रयत्न करता है । बाद में चिंतन–मनन करता है । इस प्रकार उसको निर्मल बोध प्राप्त होता है । शास्त्रज्ञान पाते पाते उसको आत्मज्ञान प्राप्त होता है ।

संसार में रहता हुआ, घर–परिवार की जिम्मेदारियों को निभाता हुआ समकित दृष्टि मनुष्य, निर्मल बोध प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहता है । अर्थोपार्जन का प्रयत्न–पुरुषार्थ करता है और अनेक सांसारिक व्यवहारों को निभाता है, साथ–साथ वह निर्मल बोध भी पाता रहता है । एक बात महत्त्वपूर्ण होती है उस व्यक्ति के जीवन में – वह पैसे के पीछे दौड़ता नहीं है ! पैसे उसके साध्य नहीं, मात्र साधन होता है । उसका लक्ष्य होता है आत्मगुणों की प्राप्ति और वृद्धि ! उसका अंतिम ध्येय होता है आत्मा की मुक्ति । आत्मा की परम विशुद्धि ।

जैसे जैसे निर्मल ज्ञान पाता जाता है, वैसे वैसे उसका आंतर–बाह्य विचार–व्यवहार लोकोत्तर बनता जाता है ।

## जनप्रियत्व :

जब मनुष्य का दूसरों के साथ उदारतापूर्ण और दाक्षिण्यता–सभर व्यवहार बनता है तब वह जनप्रिय बनता ही है। वह लोगों के हृदय में बस जाता है। लोग उसकी प्रशंसा करते रहते हैं। परिणाम स्वरूप उसके आलंबन से लोग शुद्ध धर्म के प्रति, धर्मगुरुओं के प्रति और धर्मस्थानों के प्रति आकर्षित होते हैं। शुद्ध धर्म की वे प्रशंसा करते हैं।

जो मनुष्य उदार होगा, परंतु हृदय का निष्ठुर होगा, स्वार्थी और स्वच्छंदी होगा, वह दूसरे जीवों को धर्मप्रेमी नहीं बना सकेगा। लोगों का उसके प्रति प्रेम नहीं होगा। लोग उसकी प्रशंसा नहीं करेंगे।

जनप्रियता एक विशिष्ट गुण है। तीन बातें मनुष्य के जीवन में होती हैं, तो वह जनप्रिय बनता ही है।

– उसमें उदारता चाहिए,

– वह शीलवान होना चाहिए,

– वह विनीत होना चाहिए।

उदारता की बात तो पहले ही आपको कर दी है। दूसरी बात है शील की। शील यानी अच्छा स्वभाव, शील यानी अच्छा चरित्र। उदारता के साथ–साथ आपका स्वभाव अच्छा होना चाहिए। जिसको भी आप दान दें, सहायता करें, उसका तिरस्कार नहीं करें, उसके साथ प्रेम से बात करें। उसको नीचा नहीं दिखाये। उसके गौरव को हानि नहीं पहुँचाये। यह है शील का एक अर्थ।

दूसरा अर्थ है अच्छा चरित्र। निर्मल दृष्टि! निष्पाप दृष्टि! दुनिया देखती है यह बात। 'वह महानुभाव चरित्रशील है, किसी परस्त्री के सामने आँख उठाकर देखता भी नहीं है। कभी दूसरी औरतों के साथ दुर्व्यवहार करता नहीं है! सज्जन पुरुष है। सदाचारी पुरुष है।'

## धर्म–आरोग्य की अवस्था :

ये औदार्यादि ५ गुण जो मनुष्य प्राप्त करता है, वह धर्म–आरोग्य की अवस्था होती है। धर्म–आरोग्य प्राप्त होने पर पापविकार उपशान्त हो जाते हैं। मुख्य रूप से चार पापविकार उपशान्त होते हैं।

१. अति विषयतृष्णा।

२. दृष्टि संमोह।

३. धर्म–अरुचि, और

४. क्रोध की प्रबलता ।

अति विषयतृष्णा बहुत बड़ा पापविकार है । यह विकार जब आत्मा में जाग्रत होता है, मनुष्य गम्य–अगम्य, भोग्य–अभोग्य का विवेक चूक जाता है । शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श के सभी विषयों में वह अतृप्त ही रहता है ।

दूसरा पापविकार है दृष्टि संमोह का । धर्म को अधर्म मानना, अधर्म को धर्म मानना – यह दृष्टि संमोह है । जैसे, यज्ञ–याग में हिंसा होती है, फिर भी उस हिंसा को वह उपादेय मानता है ! मिथ्या धर्मों को सम्यक् मानता है; सम्यक् धर्मों को मिथ्या मानता है !

तीसरा पापविकार है धर्म–अरुचि का । धर्मश्रवण करना उसको पसंद नहीं होता है । तात्त्विक–पारमार्थिक पदार्थों का चिंतन वह करता नहीं । उसकी रसवृत्ति ही नहीं होती है और वह धार्मिक पुरुषों का संपर्क नहीं रखता है । न तो उसको आत्मधर्म की बातें पसंद होती है, न व्यवहार धर्म की बातें उसको आकर्षित करती है ।

चौथा पापविकार है क्रोध की प्रबलता का । बात–बात में जो क्रोध करता है । कुछ भी अप्रिय बनता है, प्रतिकूल बनता है.... वह क्रोध से आगबबुला हो जाता है ।

औदार्यादि ५ लोकोत्तर गुणों की प्राप्ति होने पर, ये चार पापविकार दूर हो जाते हैं । आत्मा धर्म–आरोग्य प्राप्त कर लेता है ।

## सांख्यदर्शन में सम्यग् दर्शन :

सांख्यदर्शन आत्मा को 'पुरुष' कहता है और कर्म को 'प्रकृति' कहता है । पुरुष और प्रकृति–सांख्यदर्शन के मूलभूत तत्त्व हैं । जब तक पुरुष में प्रकृति का प्रतिबिंब गिरता है, तब तक पुरुष–प्रकृति का अभेद–भ्रम बना रहता है । प्रकृति का सर्जन पुरुष अपना सर्जन मान लेता है । इस अभेद–भ्रम के कारण प्रकृति का पुरुष पर अधिकार हो जाता है ।

जब पुरुष का अभेद–भ्रम दूर होता है – "मैं प्रकृति नहीं हूँ, मैं प्रकृति से भिन्न पुरुष हूँ –" ऐसा बोध होता है तब प्रकृति का अधिकार आत्मा पर से उठ जाता है । इस भेदज्ञान से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है, परंतु तत्त्वज्ञान पाने की पाँच प्रकार की भूमिका बतायी गई है । धृति, श्रद्धा, सुखा, विविदिषा और विज्ञप्ति ।

ये पाँच बातें अभय, चक्षु, मार्ग, शरण और बोधि के साथ समानता रखती हैं ।

१. अपन जिसको 'अभय' कहते हैं, अभय यानी चित्तस्वास्थ्य, वही चित्तस्वास्थ्य सांख्यदर्शन की 'धृति' है । भय–अवस्था में अधैर्य था; अभय में धैर्य–धृति आती है ।

२. अपन जिसको 'चक्षु' कहते हैं, चक्षु यानी धर्मरुचि, वही धर्मरुचि सांख्यदर्शन की श्रद्धा है ।

३. अपन जिसको 'मार्ग' कहते हैं, मार्ग यानी तत्त्वजिज्ञासा, वही तत्त्वजिज्ञासा, सांख्यदर्शन की 'सुखा' है ! धर्ममार्ग का आकर्षण होने के बाद चित्त में ऐसा उपशमभाव का आह्लाद होता है कि जो अशान्ति को मिटा देता है । यह उपशम का अर्थ है 'सुखा' ।

४. अपन जिसको 'शरण' कहते हैं, वह शरण तत्त्वजिज्ञासारूप है, उसी को सांख्यदर्शन 'तत्त्व–विविदिषा' कहता है ।

५. अपन जिसको 'बोधि' कहते हैं, सांख्यदर्शन विज्ञप्ति कहता है, यानी सम्यग् दर्शन !

पुरुष पर से प्रकृति का अधिकार हट जाने से धृति आदि पाँच गुण सिद्ध होते हैं । इससे वह समकित दृष्टि बनता है ।

जैनदर्शन में 'कर्म' ही प्रकृति है । ज्ञानावरण आदि कर्मों की प्रकृति है । कर्मों के कार्यों को, आत्मा अपने कार्य समझता है, यह मिथ्यात्व है । जब आत्मा और कर्मों का भेद समझता है, तब सम्यग् दर्शन प्रगट होता है ।

## गुणों की वृद्धि का ध्येय रखें :

ग्रंथकार आचार्यदेव, श्रावक–श्राविकाओं को गुणों की वृद्धि–पुष्टि करने की प्रेरणा देते हैं । सभी गुणों के आधारभूत गुण बताया सम्यग् दर्शन । इसलिए सम्यग् दर्शन गुण के विषय में कुछ विस्तार से बताया है । इस गुण के अंतर्गत दूसरे अनेक गुण बताये हैं, उन सभी गुणों की वृद्धि करने की है । गुणों की रक्षा करनी है । गफलत में नहीं रहे । यदि गफलत में रहे तो ये क्षयोपशमिक भाव के गुणों को जाते देर नहीं लगेगी ! सदा सर्वत्र सावधानी आवश्यक है ।

आप लोग 'गुणवृद्धि' करते रहें और गुणसमृद्ध बने रहें – यही मंगल कामना ।

आज बस, इतना ही ।

★ ★ ★

# प्रवचन : ८४

परम उपकारी, परम कृपानिधि आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में श्रावक जीवन का विशेष धर्म प्रतिपादित किया है। बारह व्रत एवं दैनिक जीवनचर्या बताने के बाद उन्होंने भावधर्म की महत्त्वपूर्ण बातें बतायी हैं। भावश्रावक धर्म की बहुत अच्छी बातें ग्रंथकार ने बतायी हैं। अब तीसरे अध्याय का अंतिम सूत्र बताया जा रहा है।

**सत्त्वादिषु मैत्र्यादियोग इति ।। ९३ ।।**

ग्रंथकार ने 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के प्रारंभ में ही, धर्म का लक्षण बताते हुए कहा है :

**'वचनाद् यदनुष्ठानमविरुद्धाद् यथोदितम् ।**
**मैत्र्यादिभाव संयुक्तं तद्धर्म इति कीर्त्यते ।।'**

धर्मक्रिया जिनोक्त वचन के अनुसार हो, जिस प्रकार करने की हो, उसी प्रकार की जाती हो, परंतु यदि धर्मक्रिया करनेवाले के हृदय में मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ भाव नहीं हो, तो वह अनुष्ठान 'धर्म' नहीं कहलायेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि धर्मानुष्ठान करनेवालों के हृदय में मैत्री वगैरह भावनाएँ अवश्य होनी चाहिए! यदि इन भावनाओं की उपेक्षा कर, कितना भी बड़ा धर्मानुष्ठान किया जायं, ज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में वह धर्म नहीं कहलायेगा। यह बात, यह जिनवचन आप अच्छी तरह समझें और आदर करें। धर्मक्रियाएँ करनेवालों के जीवन में इन भावनाओं से विपरीत प्रवृत्तियाँ देखकर हृदय में भारी दुःख होता है।

## धर्मध्यान में सहायक :

जिस प्रकार भावनाओं के बिना, जिनकथित अनुष्ठान भी 'धर्म' नहीं बनता है, वैसे मैत्र्यादि भावनाओं के बिना धर्मध्यान भी नहीं हो सकता है! धर्मध्यान में मन का अनुसंधान तभी संभव होता है, जब मनुष्य का मन मैत्री वगैरह भावनाओं से आप्लावित हो। 'धर्मध्यान' करने का माध्यम मन है, साधन मन है। मन मैत्री वगैरह भावनाओं से पवित्र होना चाहिए। आर्तध्यान में से मन को निवृत्त कर, धर्मध्यान में लीन करने के लिए, पहले मन को मैत्री वगैरह भावनाओं से शुद्ध करना है।

महासती मदनरेखा का वह दुःखद प्रसंग याद करें। जिस समय मदनरेखा के पति युगबाहु के ऊपर, युगबाहु के बड़े भाई मणिरथ ने तलवार का वार कर दिया था, युगबाहु का गला आधा कट गया था, खून की धारा बह रही थी, वार करके मणिरथ भाग गया था..... उस समय पास में बैठी मदनरेखा ने युगबाहु को..... मरते हुए पति को क्या कहा था ? सर्वप्रथम क्या समझाया था ?

'आप मणिरथ को अपना शत्रु मत मानो। वह तो निमित्त मात्र है। शत्रु तो अपने पापकर्म ही हैं। पापकर्मों के भार से दबे हुए मणिरथ को क्यों शत्रु मानना ? उसने पापकर्मों से प्रेरित होकर यह दुष्कृत्य किया है। वह तो करुणापात्र है....। शत्रु तो अपने पापकर्म ही हैं।'

मरते हुए पति को धर्मध्यान में लीन करना है, इसलिए सर्वप्रथम पति के मन को करुणा भावना से शुद्ध किया ! तलवार का वार करनेवाले बड़े भाई के प्रति वैरभावना नहीं रहनी चाहिए। वैरभावना के रहते हुए 'धर्मध्यान' नहीं हो सकता है। मन धर्मध्यान में निमग्न नहीं बन सकता है। इसलिए विचक्षण महासती ने पति का पारलौकिक हित करने के लिए, उनके मन में से शत्रुता को मिटा दी। बाद में श्री नवकार मंत्र सुनाया, चार शरण अंगीकार करवाये। अरिहंत परमात्मा का ध्यान करवाया। धर्मध्यान में निमग्न हुआ युगबाहु, मरकर सद्गति में चला गया !

मदनरेखा ने भी अपने मन में मैत्री वगैरह भावनाओं को कैसी दृढ़ की होगी कि अपने प्रियतम पति के ऊपर तलवार का वार करनेवाले दुष्ट जेठ के ऊपर रोष-क्रोध नहीं किया, आक्रंद नहीं किया..... अपने आप पर संयम रखा..... और पति के पारलौकिक हित का ही विचार किया ! यदि उस समय मणिरथ को शिक्षा करवाने के लिये मदनरेखा, अपने सैनिकों के पास दौड़कर जाती, कि जो सैनिक उद्यान की चारों तरफ खड़े थे, तो क्या होता ? युगबाहु आर्तध्यान में अथवा रौद्रध्यान में मर जाता और दुर्गति में चला जाता ! मणिरथ को शिक्षा करवा कर मदनरेखा क्या पाती ? वैसे भी, मणिरथ के पापकर्मों ने ही उसको कड़ी शिक्षा दे दी थी। सर्प ने उसको काट खाया था और वह मरकर दुर्गति में चला गया था।

महत्त्व की बात यह है कि धर्मध्यान में मन को जोड़ना है, मन को स्थिर करना है, तो सर्वप्रथम मन को मैत्री वगैरह भावनाओं से शुद्ध करना होगा। मन में किसी भी जीव के प्रति शत्रुता नहीं रहनी चाहिए, कठोरता-क्रूरता नहीं रहनी

चाहिए, ईर्ष्या–असूया नहीं रहनी चाहिए, तिरस्कार या धिक्कार नहीं रहना चाहिए। इसलिए मदनरेखा ने अपने पति को बहुत ही प्रेम से समझा कर, तलवार का प्रहार करनेवाले भाई के प्रति जो रोष पैदा हुआ था, वह रोष दूर किया। तलवार का प्रहार करनेवाला भाई नहीं है, परंतु अपने ही पापकर्म हैं। भाई तो मात्र निमित्त है, वह करुणापात्र है, दयापात्र है, यह बात पति के हृदय में उतार दी और बाद में धर्मध्यान करवाया !

## भावनाओं के बिना धर्मध्यान नहीं :

एक श्रावक ने अपनी समस्या बताते हुए कहा : 'गुरुदेव, धर्मक्रियाएँ होती हैं, ३/४ घंटे धर्मक्रियाओं में लग जाते हैं, परंतु धर्मध्यान नहीं हो पाता है ! दो घड़ी भी मन धर्मध्यान में नहीं रहता है !'

मैंने उस श्रावक की मानसिक स्थिति जानने के लिए कुछ प्रश्न पूछे :

– क्या तुम्हारे मन में किसी व्यक्ति के प्रति द्वेष, शत्रुता, दुर्भाव, रोष आदि है ?

– क्या तुम्हारे मन में दीन–अनाथ–दुःखी जीवों के प्रति कठोरता, तिरस्कार.... दयाहीनता आदि है ?

– क्या तुम्हारे मन में गुणवान् और पुण्यशाली मनुष्यों के प्रति ईर्ष्या–असूया–दोषदृष्टि वगैरह है ?

जो स्नेही–स्वजन–नौकर आदि तुम्हारा कहा नहीं मानते हैं, अविनीत है, कुछ पापाचरण करते हैं, तुम्हारे कहने पर भी पापाचरण नहीं छोड़ते, उनके प्रति धिक्कार, तिरस्कार और अपने मन में चिन्ता, अशान्ति वगैरह रहता है ?

उस श्रावक ने कहा : ये सारी बातें तो प्रतिदिन चलती रहती है। लड़के के विषय में बहुत चिन्ता है। अनेक व्यसनों में फँसा है, आवारा दोस्तों के संग भटकता है..... कितना भी समझाने पर मानता ही नहीं है। बड़ी चिन्ता है पुत्र की।

मैंने कहा : तो फिर धर्मध्यान में मन लगेगा ही नहीं। जब तक तुम्हारा मन चिन्ता से मुक्त नहीं होगा, धर्मध्यान में मन की स्थिरता नहीं बनेगी।

धर्मध्यान में मन का अनुसंधान मैत्री आदि भावनाओं से ही संभव है। 'शान्त–सुधारस' में कहा गया है –

'सद्धर्म ध्यान-संध्यान-हेतवः श्री जिनेश्वरैः ।
मैत्रीप्रभृतयः प्रोक्ताश्च तस्रो भावनाः पराः ।।'

## भावनाएँ – धर्मध्यान का रसायन :

मनुष्य का शरीर निर्बल होता है तो वह रसायन का सेवन कर शरीर को बलवान् बनाता है । रसायन निर्बल को बलवान् बनाता है । वैसे यदि अपना धर्मध्यान निर्बल है तो उसको बलवान् बनाने का रसायन ये भावनाएँ हैं । आपको लगे कि 'मेरा धर्मध्यान अच्छा नहीं होता है । मन पुनः पुनः आर्तध्यान में चला जाता है,' तो आप एक ही उपाय करें – भावनाओं का सहारा ले लें । दिन में एक बार नहीं, बार-बार इन मैत्री वगैरह भावनाओं का चिंतन शुरू कर दें । जैसे जैसे भावनाओं का चिंतन बढ़ता जायेगा, वैसे वैसे आपका धर्मध्यान पुण्य होता जायेगा !

महत्त्व की बात यह है कि आपकी प्रबल इच्छा होनी चाहिए धर्मध्यान को पुष्ट करने की । धर्मध्यान नहीं हो रहा है, इस बात की घोर चिंता होनी चाहिए । शान्ति से सोचें, है मन में ऐसी कोई चिंता ?

**सभा में से** : नहीं है, धर्मध्यान की चिंता है ही नहीं..... ।

**महाराजश्री** : तो फिर मैत्री वगैरह भावनाओं का मूल्य आप नहीं समझ पायेंगे । बिना धर्मध्यान, आप कितनी घोर अशान्ति में जी रहे हो, समझते हो ? अशान्ति का मूल कारण है धर्मध्यान का अभाव । सतत आर्तध्यान में मन रहता है तो शान्ति मिलनेवाली है ही नहीं ।

केवल धर्मक्रिया करने से भी शक्ति मिलेगी नहीं । शान्ति पाना है तो धर्मक्रिया के साथ-साथ धर्मध्यान में मन स्थिर करना होगा । धर्मध्यान में मन को स्थिर करने के लिए मैत्री आदि चार भावनाओं का चिंतन-मनन करना होगा । धर्मध्यान को पुष्ट करने के लिए भी भावनाओं के रसायन का सेवन करना होगा । भावनाएँ सामान्य रसायन नहीं हैं, सिद्ध रसायन है ।

## चार भावनाओं की परिभाषाएँ :

सिद्ध रसायन-स्वरूप इन चारों भावनाओं की परिभाषाएँ ग्रंथकार आचार्यदेव ने 'षोडशक' नाम के अपने ही ग्रंथ में इस प्रकार की हैं :

'परहितचिन्ता मैत्री, परदुःखविनाशिनी करुणा ।
परसुखतुष्टिर्मुदिता परदोषोपेक्षणमुपेक्षा ।।१४२।।

मैत्रीभावना की परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा : दूसरों के हित की चिंता करते

रहो । सभी जीवों का हित हो ऐसी भावना भाते रहो । यानी किसी भी जीव के अहित का विचार कभी नहीं करना है । 'वह दुःखी हो जायं तो अच्छा, वह मर जायं तो अच्छा..... वह बरबाद हो जाना चाहिए.....' इत्यादि अहितकारी विचार नहीं करने के हैं । हितकारी विचार ही करने के हैं ।

करुणाभावना की परिभाषा करते हुए ग्रंथकार ने बताया : दूसरे जीवों के दुःख दूर करने की भावना भाते रहो । सभी दुःखी जीवों के दुःख दूर हो । मुझे ऐसी शक्ति मिलो, कि मैं सभी जीवों के दुःख दूर कर दूँ । सभी को सुखी कर दूँ ।

प्रमोदभावना की परिभाषा करते हुए ग्रंथकार ने कहा है : दूसरे जीवों का सुख देखकर खुश होते रहो । यह सोचें कि 'पूर्वजन्मों में इन जीवों ने अच्छी धर्मआराधना की होगी, उसी के फलस्वरूप उनको इतना सारा सुख मिला है । सुख देखकर ईर्ष्या नहीं करना है, खुश होना है ।

चौथी उपेक्षाभावना की परिभाषा इस प्रकार बतायी है कि दूसरे जीवों के दोषों की उपेक्षा करें । दोष दूर करने के उपाय करने पर भी जो लोग दोषों का त्याग नहीं करते हैं, उनके प्रति धिक्कार–तिरस्कार नहीं करते हुए, उनकी उपेक्षा करते रहो । मध्यस्थ रहो । उनके प्रति न प्रेम करना, न द्वेष करना । उनकी 'भवितव्यता' के ऊपर छोड़ देना ।

## सभी जीव मेरे मित्र !

इस प्रकार चारों भावनाओं की परिभाषा बताकर, अब सर्वप्रथम 'मैत्रीभावना' का विस्तार से विवेचन करूँगा ।

समग्र जीवसृष्टि में हमें मैत्री का फैलाव करना है ।

– एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक,

– ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक में.....

सर्वत्र..... सभी जीवों के साथ हमें मैत्री का संबंध बाँधना है । वे जीव हमारे साथ मैत्रीसंबंध बांधे या न बांधे, हमें नहीं सोचना है । हमें तो 'सभी जीव मेरे मित्र है,' यही सोचना है, यही चिंतन करना है ।

**सभा में से** : किसी मनुष्य को शत्रु माना हो, तो भी 'सभी जीव मेरे मित्र है,' ऐसा सोचना, दंभ नहीं होगा ?

**महाराजश्री** : पहली बात तो यह है कि हम क्यों किसी जीव को शत्रु मानें ? ऐसा सोचें कि 'जगत में मेरा कोई भी शत्रु नहीं है !' चूँकि वास्तव में जीवात्मा शत्रु

नहीं होता है। शत्रु तो है जीव के अपने बांधे हुए पापकर्म ! कर्मों को शत्रु मानो, जीवों को नहीं !

बाह्य दृष्टि से ऐसा लगता है कि 'उस व्यक्ति ने मुझे दुःखी किया, मेरा सुख छीन लिया..... मेरे साथ अन्याय किया....' वगैरह। परंतु ज्ञानदृष्टि से यह सोचना गलत है। ज्ञानदृष्टि से तो सच्चे शत्रु 'कर्म' ही हैं। कोई जीव शत्रु नहीं है। 'शान्तसुधारस' में कहा है –

'सर्वत्र मैत्रीमुपकल्पयात्मन् ।
चिन्त्यो जगत्यत्र न कोऽपिशत्रु ।'

ऐसा चिंतन करते रहो – 'इस जगत में कोई भी शत्रु नहीं है।' कोई अज्ञानी मनुष्य भले ही आपको शत्रु मानता हो, आप उसको शत्रु नहीं मानें।

## कितने दिनों की यह जिंदगी ?

छोटी–सी यह जिंदगी है। पता नहीं कि कब हंस उड़ जायेगा और माला यही पड़ा रहेगा। अनिश्चित जिंदगी में यों किसी व्यक्ति के साथ शत्रुता करना ? वैर बाँधना ? याद रखना कि जिंदगी स्वप्न की तरह समाप्त हो जायेगी, परंतु वैरभावना समाप्त नहीं होगी ! दूसरी जिंदगी में वैरभावना साथ चलेगी और बढ़ती रहेगी। यदि वैरभावना को नष्ट नहीं किया और मैत्रीभावना को स्थापित नहीं किया तो अनेक भवों में वैरभावना दुःख देती रहेगी ! समरादित्य–महाकथा पढ़ रहे हो न ? नौ–नौ जन्म तक वैर के भयंकर विपाक भोगने पड़े हैं !

परलोक की दृष्टि से सोचना आवश्यक है, वैसे वर्तमान जीवन को लेकर भी सोचना है। शत्रुता की भावना, मनुष्य को संतप्त बनाती है, अशान्त बनाती है, बेचैन करती है। इस दृष्टि से भी किसी भी जीव के साथ शत्रुता नहीं रखना है।

छोटी–सी जिंदगी अशान्तिमय नहीं जीना है। संताप की आग में छोटी–सी जिंदगी को जला नहीं देना है। इस छोटी–सी जिंदगी में तो मैत्री का उपवन सजाना है। जिंदगी समाप्त होने पर भी मैत्री का उपवन हराभरा रहेगा। आत्मसाक्षी से दृढ़ निर्णय कर लो कि 'इस जीवन में मैं किसी से भी वैर की गाँठ नहीं बाँधूंगा ! किसी भी व्यक्ति के साथ वैर–विरोध हो जायेगा तो जल्दी से जल्दी उस वैर–विरोध को मिटा दूँगा। क्षमायाचना के द्वारा मैत्री स्थापित करूँगा।'

एक भाई का पास में रहनेवाले व्यक्ति के साथ झगड़ा हो गया..... ! झगड़े

में तो लोग जोर–जोर से बोलते हैं। उस भाई को झगड़े के बाद तूर्त ही 'हार्ट–एटेक' आया। डोक्टर आये उसके पहले ही मृत्यु हो गई ! वह आत्मा क्या लेकर परलोक में गई होगी ? कैसी–सी गति में गई होगी ? सोचना शान्ति से !

## सभी जीव बंधु हैं :

उपाध्यायश्री विनयविजयजी कहते है :

**'सर्वेऽप्यमी बन्धुतयानुभूताः संहस्रशोऽस्मिन् भवता भवाब्धौ ।**
**जीवास्तबन्धव एव सर्वे, न कोऽपि ते शत्रुरिति प्रतीहि ।।'**

अपनी आत्मा को समझाना है कि 'इस संसार की अनन्तकालीन यात्रा में सभी जीवों के साथ, हजारों बार भाई–भाई के संबंध किये हैं, इस दृष्टि से सभी जीव तेरे बंधु हैं, कोई भी जीव तेरा शत्रु नहीं है।'

यह पूर्ण पुरुषों की एक तत्त्वदृष्टि की बात है। संसार के सभी (व्यवहार राशि के) जीवों के साथ अपनी आत्मा ने सभी प्रकार के संबंध किये हैं !

किसी जन्म में हम किसी के पिता बने हैं, किसी जन्म में माता, तो किसी जन्म में पुत्र अथवा पुत्री बने हैं। किसी जन्म में भाई अथवा बहन बने हैं। किसी जन्म में मित्र बने हैं..... किसी जन्म में शत्रु भी बने हैं। संसार का ऐसा कोई भी संबंध नहीं है कि जो संबंध हमने सभी जीवों के साथ नहीं बांधा हो ! एक बार नहीं, हजारों बार, अनन्त बार !

जब कभी किसी व्यक्ति से शत्रुता हो जाय, तब सोचना कि 'यह व्यक्ति कभी.... किसी जन्म में मेरा भाई बना हुआ है..... हम पिता–पुत्र, पति–पत्नी, भाई–बहन.... बने हुए हैं। अब इस जन्म में इसके साथ क्यों शत्रुता करना ? नहीं करना है शत्रुता !' इस प्रकार सोचना सीख लो ! झगड़ा हो जाने के बाद, जब दिमाग शान्त हो, तब सोचना। अथवा झगड़ा होने से पूर्व इस प्रकार का चिंतन करना। 'मुझे किसी जीव से शत्रुता नहीं बाँधना है, सभी जीवों के साथ मैत्री का ही संबंध बाँधना है। मैत्री का ही चिंतन करना है।' बाह्य संबंध नहीं रखना है, मत रखो, परंतु उनके प्रति हमारी भावना तो मैत्रीपूर्ण ही रखनी है। कोई बाह्य नुकसान होता होगा तो होने देंगे, परंतु मैत्रीभावना नहीं तोड़ेंगे ?

## सभी जीव मुक्त बनो :

संसार के सभी जीवों को मित्र मानने के बाद, सभी के लिए हित की, परम हित की भावना रखने की है।

'हित' दो प्रकार के हैं : इहलौकिक और पारलौकिक । इहलौकिक यानी वर्तमान जीवन के हित और पारलौकिक यानी आनेवाले जन्मों के हित ! हमें इस प्रकार हित की भावना भाने की है – 'सभी जीव वर्तमान जीवन में सुखी हों और आनेवाले जन्मों में भी सुखी हो ।' यह है हित की भावना । वर्तमान जीवन में कोई जीव दुःखी न हो ! परलोक में भी दुःखी न हो ! यह भावना है । प्रत्येक जीवात्मा अपने-अपने कर्मों के उदय से सुखी अथवा दुःखी होते हैं । यह वास्तविकता है, परंतु हमारी भावना तो सुखी होने की ही होनी चाहिए ।

दूसरों के सुख की कामना-भावना करने से पुण्यकर्म का बंध होता है । क्योंकि यह भावना शुभ है ! शुभ विचारों से पुण्यकर्म बंधता है ।

दूसरों के दुःखी होने की भावना करने से पापकर्म बंधता है, क्योंकि यह भावना अशुभ है । अशुभ विचारों से पापकर्म बंधता है ।

दूसरी बात यह है कि दूसरे जीवों की हितचिंता करने से अपना हित तो होता ही है ! दूसरों के सुख-शान्ति की भावना भानेवाले को सहज रूप से सुख-शान्ति की प्राप्ति हो जाती है ।

जिस प्रकार सभी जीवों के हित की भावना भाने की है वैसे परमहित की भी भावना भाने की है !

– सभी जीव राग-द्वेष से मुक्त हो, और

– सभी जीव पंचेन्द्रिय मनुष्य बनकर, आत्मज्ञानी बनकर, सभी कर्मों का क्षय (नाश) कर, सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो !

इस परम हित की भावना की बात करने से पूर्व, एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न आपसे पूछता हूँ कि आप स्वयं राग-द्वेष से मुक्त होने की इच्छा रखते हो ? राग-द्वेष से मुक्त होने की प्रबल इच्छा है आपकी ? दूसरा प्रश्न है : क्या आप स्वयं जल्दी से जल्दी कर्मों के बंधन तोड़कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बनना चाहते हो ?

**सभा में से** : दोनों प्रश्नों के उत्तर क्या दें ? राग-द्वेष करते रहते हैं.. कम करते ही नहीं और कर्म बाँधते रहते हैं.. फिर कैसे कहें कि हम मुक्त बनना चाहते हैं ?

**महाराजश्री** : आपका कहना ठीक है, राग-द्वेष करते रहते हो, परंतु रात में सोने से पूर्व मुझे राग-द्वेष नहीं करने हैं.. मैं कब राग-द्वेष से मुक्त बनूँगा ? हे वीतराग भगवंत, मुझे भी वीतराग बना दो....!' ऐसा कुछ चिंतन कर सकते हो न ? ऐसी भावना भा सकते हो न ? राग-द्वेष करने के बाद पश्चात्ताप करते

रहोगे तो..... कभी न कभी राग–द्वेष से छूटकारा मिल जायेगा !

वैसे ही, मैं राग–द्वेष और मोह से पराभूत होकर कर्मबंध करता रहता हूँ.... यह मेरी बहुत बड़ी भूल है । 'मैं चाहता हूँ कि मेरे कर्म टूटे और मेरी शीघ्र मुक्ति हो !' यदि आप स्वयं मुक्ति चाहते हो तो ही दूसरे जीवों की मुक्ति की भावना कर सकते हो ।

परंतु आप जानते हो कि जो जीव पंचेन्द्रिय संज्ञी मनुष्य होता है, वही मुक्ति पाने का पुरुषार्थ कर सकता है और मुक्ति पा सकता है ! जो जीव एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय होते हैं, वे जीव न तो मुक्ति पाने का पुरुषार्थ कर सकते हैं, न ही मुक्ति पा सकते हैं । मुक्ति पाने का पुरुषार्थ करने के लिए मनुष्य को –

– पाँच इन्द्रियाँ चाहिए,

– मन चाहिए और

– दृढ़ शरीरशक्ति चाहिए !

इसलिए सभी जीवों के लिए मुक्ति की भावना इस प्रकार भायी जाती है कि – 'सभी जीव संज्ञी (मनवाले) पंचेन्द्रिय मनुष्य बनें और मुक्ति प्राप्त करें । पूर्ण सुख प्राप्त करें !'

## सभी जीव आत्मज्ञानी बनो :

मनुष्य को पाँच इन्द्रियाँ मिली हो, मन और दृढ़ शरीरशक्ति भी प्राप्त हो, परंतु जब तक वे उदासीन भाव में नहीं आते, यानी आत्मज्ञानी नहीं बनते तब तक वे मुक्ति नहीं पा सकते हैं ।

उदासीन भाव – आत्मज्ञान तभी प्राप्त होता है जब मनुष्य सुख–दुःखविषयक राग–द्वेष से मुक्त होता है । सुख–दुःख के विचारों से मुक्त होता है । केवल 'मुझे मुक्ति चाहिए' इतना बोलने से या मानने से मुक्ति नहीं मिलती है । मुक्ति पाना है तो उदासीन भाव में लीनता प्राप्त करनी होगी । यह समझदारी आपको होगी तो आप सभी जीवों के लिए –

'सर्वेऽप्युदासीनरसं रसन्तु'

यह भावना, यह कामना कर सकोगे । 'सभी जीव उदासीन भाव के रस में मज्जन करो, उदासीन भाव का रसास्वाद करो ।'

उदासीन भाव का रसास्वाद करने का अभ्यास करना होगा । अपन स्वयं ऐसा रसास्वाद किये बिना, दूसरों के लिए भावना कैसे कर सकते हैं ? उदासीन

भाव का रसास्वाद करने के लिए राग और द्वेष की वासना को कम करनी पड़ेगी। दृढ़ निश्चय के साथ राग–आसक्ति–ममत्व कम करना होगा। वैसे द्वेष–ईर्ष्या–रोष–क्रोध आदि कम करना होगा। छोटी–छोटी बात में राग–द्वेष होने ही नहीं चाहिए। तभी उदासीन भाव का रसास्वाद हो सकेगा।

समग्र जीवसृष्टि के लिए कैसी उत्तम भावना भाने को बताया गया है। सभी जीवों की इन्द्रियसापेक्ष उन्नति की भावना भी कैसी अद्‌भुत भावना है! 'सभी जीव संज्ञी पंचेन्द्रिय बनकर मुक्ति प्राप्त करें!' और, सभी जीवों की आध्यात्मिक उन्नति की भी कैसी श्रेष्ठ भावना बतायी गई है! ऐसी भावना भाते–भाते मनुष्य का कल्याण हो जायं! धर्मध्यान में अवश्य प्रवेश हो जायं! मन की अपूर्व शुद्धि हो जायं।

## सर्वत्र सर्वे सुखिनो भवन्तु :

मैत्रीभावना को आत्मसात् करने के लिए एक मंत्र है – 'सर्वत्र सर्वे सुखिनो भवन्तु!' इस मंत्र का पुनःपुनः जाप करते रहो। मैत्रीभावना सिद्ध हो जायेगी। 'सर्वत्र सभी जीव सुखी हो!'

जिसको मित्र माना, उसके लिए सुख की ही कामना की जाती है। मित्र सुखी होना चाहिए न? यदि वह दुःखी हो तो उसका दुःख दूर हो, जल्दी ही दूर हो, वैसी भावना रहती है न? वह शीघ्रातिशीघ्र सुखी हो, वैसी भावना बनी रहती है। जब सृष्टि के सभी जीवों को मित्र मान लिये, तो सभी के सुख की कामना होना स्वाभाविक है!

यह मैत्रीभावना ज्ञानमूलक है। एकेन्द्रिय जीवसृष्टि तक यह मैत्रीभावना व्यापक है। पृथ्वी–पानी–अग्नि–वायु–वनस्पति के जीवों के प्रति भी मैत्री की भावना फैली हुई हैं। यानी पृथ्वी, पानी वगैरह में जीवत्व–चैतन्य की कल्पना करते रहना है। और अपने मन में –'ये जीव भी कब पंचेन्द्रिय बनें, कब उनको मन मिले, कब उनको आत्मज्ञान मिले और कब ये मुक्ति प्राप्त करें।' ऐसा चिंतन करने का है। अपन पृथ्वी..... पानी वगैरह के संपर्क में तो आते रहते हैं। उस समय मन में ऐसी शुभ भावना कर सकते हैं। उन एकेन्द्रिय जीवों के साथ भी आत्मीयता बन जायेगी।

'सर्वत्र सर्वे सुखिनो भवन्तु!' इस भावना के साथ, आज यह विषय पूर्ण करता हूँ। मैत्रीभावना के विषय में विशेष बातें कल करूँगा।

आज बस, इतना ही।

★ ★ ★

# प्रवचन : ८५

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने, स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में गृहस्थ धर्म की क्रियात्मक व भावात्मक अनेक बातें बतायी हैं। अध्याय के अंत में उन्होंने यह सूत्र दिया है :

**सत्त्वादिषु मैत्र्यादियोगः ॥ ९३ ॥**

* सभी जीवों के प्रति मैत्री।
* गुणवानों के प्रति प्रमोद।
* दुःखी जीवों के प्रति करुणा, और
* अविनीतों के प्रति उपेक्षा।

इस प्रकार जीवसृष्टि के प्रति श्रावकों की मनःस्थिति होनी चाहिए। सम्यग् दृष्टि जीवों का जीवसृष्टि के प्रति यह अभिगम होना चाहिए।

सर्वप्रथम मैत्रीभावना के विषय में विवेचन किया जा रहा है। चारों भावनाओं में सबसे ज्यादा विस्तार इस भावना का है। मैत्री सभी जीवों के प्रति होनी चाहिए। प्रमोद केवल गुणवानों के प्रति रखना है, करुणा दुःखी जीवों के प्रति और उपेक्षा अविनीत जीवों के प्रति रखने की है। इस दृष्टि से मैत्री का महत्त्व बहुत ज्यादा है। मैत्री होगी तो ही प्रमोद, करुणा और उपेक्षाभावना पैदा हो सकेगी और स्थिर रहेगी। मैत्री नहीं होगी तो प्रमोद वगैरह एक भी भावना नहीं हो सकती है।

ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक – तीनों लोक के सभी जीवों के प्रति मैत्रीभावना रखने की है। 'सभी जीव मेरे मित्र हैं, एक भी जीव मेरा शत्रु नहीं है,' इस प्रकार का चिंतन करते रहना है।

## शत्रुता से मन कलुषित होता है :

'मेरा कोई शत्रु नहीं है,' यह विचार, यह चिंतन करना नितान्त आवश्यक है। क्योंकि शत्रुता की भावना से मन की स्थिति बिगड़ती है। मन अस्वस्थ बनता है। 'वह मेरा शत्रु है' इस विचार से मन में उत्तेजना पैदा होती है। कभी मन निराश भी हो जाता है।

किसी एक व्यक्ति के प्रति भी मन में दुर्भावना, द्वेष, शत्रुता पैदा होती है, तो मन में उत्तेजना फैल जाती है। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति को

'इन्डयूस्ड साइकोसिस' रोग होता है अथवा 'शेर्ड पेरानोइड डिसओर्डर' नाम का रोग होता है। शत्रुता – दुश्मनी के विचार मन में शुरू हो जाते हैं कि 'पेरानोइड थिंकिंग' शुरू हो जाता है।

ऐसा भी होता है कि कोई व्यक्ति हमारे प्रति शत्रुता नहीं रखता है, हमारे प्रति दुर्भावना नहीं रखता है, फिर भी हम उसको हमारे दुश्मन मान लेते हैं। उसके सद्व्यवहार को भी हम शंका की दृष्टि से देखते हैं और दुर्व्यवहार की कल्पना बांध लेते हैं। इससे मन शीघ्र रोगी बन जाता है। और मन के रोगों को दूर करना बड़ा मुश्किल काम होता है। इसलिए मन में किसी भी जीव के प्रति दुर्भावना पैदा ही मत होने दो।

**सभा में से :** परंतु हमारे घर में ही कोई व्यक्ति हमारे प्रति शत्रुतापूर्ण कार्य करता हुआ दिखाई देता हो तो ?

**महाराजश्री :** तो भी उसको दुश्मन नहीं मानना है, शत्रु नहीं मानना है। उसको शत्रु मानने से नुकसान आपको होता है, उस व्यक्ति को नहीं ! शत्रुता की भावना से आपके सुकृतों का नाश हो जाता है। जो भी आपके सुकृतों का संचय होगा, जलकर राख हो जायेगा ! यह बहुत बड़ा नुकसान है। आपके साथ शत्रुतापूर्ण व्यवहार करनेवाले स्वजन के प्रति भी आपको द्वेष नहीं करना है, दुश्मन नहीं मानना है !

## पवनंजय के प्रति अंजना की दृष्टि :

रामायण का एक प्रसंग आपको बताता हूँ। आपके प्रश्न का समाधान मिल जायेगा।

हनुमानजी के पिता का नाम पवनंजय था और माता का नाम अंजना था। पवनंजय, प्रह्लादपुर–राज्य का युवराज था और अंजना महेन्द्रपुर नगर के राजा महेन्द्र की राजकुमारी थी। अंजना और पवनंजय की सगाई होती है। शादी के पूर्व पवनंजय अपने एक मित्र प्रहसित के साथ अंजना को देखने, अंजना के महल में जाता है। वहाँ अपनी सखियों के साथ अंजना का वार्ताविनोद चल रहा है। पवनंजय उस वार्ताविनोद की बात को गलत ढंग से समझता है। 'अंजना का मेरे प्रति प्रेम नहीं है, दूसरे राजकुमार से प्रेम है,' ऐसी दृढ़ धारणा बना लेता है। अंजना के प्रति द्वेष हो जाता है। मित्र के साथ वापस अपने महल में आता है। अंजना के साथ शादी नहीं करने की बात करता है। परंतु मित्र के आग्रह से और समझाने

से अंजना के साथ शादी कर लेता है, परंतु शादी के बाद वह अंजना को महल में छोड़ देता है । पहली रात में भी वह अंजना के पास नहीं जाता है । वैसे २२ वर्ष तक उसने अंजना का मुँह तक नहीं देखा, स्पर्श करने की तो बात ही कहाँ ?

– पवनंजय के मन में अंजना के प्रति न प्रेम है, न मैत्री है, न स्नेह है ! है मात्र द्वेषभाव, रोष और रीस !

– अंजना के हृदय में पवनंजय के प्रति मैत्रीभाव है, स्नेह है और पूज्यभाव है । नहीं है द्वेष, नहीं है रोष, नहीं है रीस ! यह कैसे ? आपके मन में प्रश्न उठता है न ? '२२/२२ वर्ष तक जिस पति ने त्याग कर दिया है, मुँह तक नहीं देखा है, एक शब्द भी नहीं बोला है..... उस पति के प्रति मैत्रीभाव कैसे रह सकता है ? पूज्यभाव कैसे रह सकता है ?' इसका उत्तर है, समाधान है, सुनो शान्ति से !

अंजना की मैत्रीभावना को अखंड रखनेवाली थी उसकी विशिष्ट विचारधारा ! सद्विचारों की भिन्न–भिन्न धाराओं को बताता हूँ –

१. पहली विचारधारा यह थी – कारण के बिना कोई कार्य नहीं होता है । पवनंजय का मेरे प्रति स्नेह नहीं होने का, मेरे प्रति द्वेष होने का कोई कारण होना चाहिए । इस वर्तमान जीवन में मुझे मेरी ऐसी कोई भूल नहीं मालुम होती है, जिस भूल के कारण उन्होंने मेरा त्याग किया है । अवश्य, पूर्वजन्म में मैंने ऐसा कोई पाप किया होगा, उस पाप के उदय के कारण, मुझे उनके वियोग का दुःख भोगना पड़ रहा है ।

२. वे तो गुणवान् हैं, सज्जन हैं, परंतु मेरे ही पापकर्मों का उदय, मेरे लिए उनके मन में गलतफहमी पैदा कर रहा है । दोष मेरे ही पापकर्मों का है ।

३. पापकर्मों के उदय को यदि मैं समताभाव से सहन कर लेती हूँ तो वे पापकर्म जल्दी नष्ट हो जायेंगे । मुझे मेरे मन में सद्विचार ही करने चाहिए ।

४. मैं मेरी विषयवासना के ऊपर संयम रख सकूँ इसलिए मुझे नीरस भोजन लेना चाहिए, शृंगार नहीं करना चाहिए, स्नान–विलेपनादि नहीं करना चाहिए । ज्यादा से ज्यादा समय मुझे परमात्मभक्ति में निर्गमन करना चाहिए ।

५. पापकर्म नष्ट होने पर, पुण्यकर्म का उदय आनेवाला ही है । सुख माँगने से, चाहने से नहीं मिलता है, पुण्यकर्म के उदय से मिलता है । मुझे धैर्य धारण

करना चाहिए। सुख पाने के विचार करने के बजाय कर्मक्षय करने का चिंतन करना चाहिए।

६. पवनंजय ने मेरा त्याग नहीं किया है, मेरे पापकर्मों ने उनसे मेरा त्याग करवाया है। उनका क्या दोष ? वे निर्दोष हैं। शत्रु तो मेरे पापकर्म ही हैं।

यह थी अंजना की ज्ञानसभर विचारधारा। इस विचारधारा ने अंजना के मन को स्वस्थ, सुंदर और पवित्र रखा ! मन को रोगी नहीं होने दिया !

२२ वर्ष के बाद, पवनंजय का मन स्वस्थ बना, अंजना के प्रति स्नेहार्द्र बना, अंजना का मिलन हुआ। परंतु दुर्भाग्य ने अंजना का पीछा नहीं छोड़ा। पवनंजय का स्थान उसकी माता केतुमती ने लिया। २२ वर्ष तक केतुमती के मन में अंजना के प्रति स्नेह था, सहानुभूति थी। २२ वर्ष के बाद, जब पवनंजय का हृदयपरिवर्तन हुआ, केतुमती शत्रु बन गई। अंजना के मैत्रीभाव की परीक्षा हो रही थी। केतुमती ने अंजना को उसके पितृगृह भेज दिया। अंजना का घोर तिरस्कार किया। फिर भी अंजना की विशुद्ध विचारधारा ने, केतुमती के प्रति द्वेष–रोष या रीस पैदा नहीं होने दिया। 'दोष केतुमती का नहीं है, मेरे ही पापकर्मों का है।'

केतुमती ने अंजना का चरित्र हनन किया था। अंजना को कलंकित की थी। अंजना, एकमात्र सखी वसंततिलका के साथ महेन्द्रपुर गई। वहाँ माता–पिता और भाई – सभी ने अंजना का अनादर, अपमान और तिरस्कार किया। महल में प्रवेश ही नहीं दिया। ऐसी दुःखमय–त्रासमय स्थिति में भी अंजना की ज्ञानदृष्टि ने, उसके हृदय में मैत्रीभाव को स्थिर रखा था। उसने माता–पिता और भाई के प्रति कोई द्वेष नहीं किया, रोष या क्रोध नहीं किया। वहाँ भी अपने ही कर्मों को दोष दिया।

अंजना एक मानव–स्त्री थी। अंजना के जीवनचरित्र में ऐसा पढ़ने को नहीं मिलता कि वह कोई साधु–साध्वी के परिचय में थी। कोई विशिष्ट धर्मआराधना भी उसके जीवन में शायद नहीं थी। फिर भी उसका महासतीत्व और मैत्रीभाव श्रेष्ठ कोटि का था, यह निश्चित है। यह प्रभाव उसकी ज्ञानदृष्टि का था। आत्मा की सहज उच्चतम स्थिति थी।

## अच्छा मनुष्य कौन ?

'शान्तसुधारस' में कहा गया है कि जो अच्छा मनुष्य होता है वह क्रोधी के प्रति भी क्रोध नहीं करता है। अच्छे मनुष्य का मन क्लेशरहित होता है। अच्छा मनुष्य समतारस में लीन रहता है और वह गुणों से परिपुष्ट होता है।

अच्छे मनुष्य की ये चार विशेषताएँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। इन चार विशेषताओं के ऊपर गंभीरता से सोचना होगा। भले आप महात्मा..... मुनि..... साधु नहीं बन सकते, परंतु अच्छा मनुष्य तो बन सकते हो न ? आप श्रावक हो न ? जो श्रावक होता है वह अच्छा मनुष्य तो होता ही है। सभी अच्छे मनुष्य श्रावक हो – ऐसा आवश्यक नहीं होता है।

पहली बात है – अच्छा मनुष्य क्रोधी के प्रति क्रोध नहीं करता है। क्रोध करनेवाले के प्रति जो क्रोध करता है वह अच्छा मनुष्य नहीं कहा जाता है। क्रोधी के प्रति क्षमाभाव रखनेवाले संत–साधु और महात्मा लोग तो अनेक हो गए हैं और वर्तमान में भी हैं, परंतु जो गृहस्थ हैं, संसारी हैं, वे भी क्रोधी के प्रति क्षमाभाव रखनेवाले होते हैं। भूतकाल में हो गये हैं और वर्तमान में भी हैं! भले, वे प्रसिद्धि में नहीं हैं, परंतु हैं ! हमने ऐसे स्त्री–पुरुषों को देखे हैं.... हम उनको जानते हैं।

अच्छे मनुष्य का मन क्लेशरहित होता है। वे अपने मन को क्षमाभाव में रखते हैं, वे स्वस्थ होते हैं। घर में, समाज में, सर्वत्र वे स्वस्थ रह सकते हैं। घर में क्रोध करनेवाले लोग होते हैं, स्वजन ही क्रोधी होते हैं, फिर भी अच्छा मनुष्य क्रोध नहीं करता है..... मन में क्लेश नहीं होता है।

इसका कारण जानते हो ? अच्छे मनुष्य का मन समतारस में लीन रहता है, यह कारण है। समतारस में जिस मनुष्य का मन लीन रहता है, वह क्रोध कर ही नहीं सकता है और उसका मन क्लेशरहित रहता है।

चौथी बात सबसे ज्यादा महत्त्व की है। अच्छा मनुष्य गुणों से पुष्ट होता है।

* जो मनुष्य शरीर से पुष्ट होता है, परंतु गुणों से पुष्ट नहीं होता है, उसकी शरीरपुष्टता स्व–पर के लिए अहितकारी होती है।

* जो मनुष्य धन से पुष्ट होता है, परंतु गुणों से पुष्ट नहीं होता है, उसकी धनपुष्टता स्व–पर के लिए अहितकारी होती है।

* जो मनुष्य प्रसिद्धि से पुष्ट होता है, परंतु गुणों से पुष्ट नहीं होता है, उसकी प्रसिद्धि की पुष्टता स्व–पर के लिए अहितकारी होती है।

* जो मनुष्य बुद्धि से पुष्ट होता है, परंतु गुणों से पुष्ट नहीं होता है, तो उसकी बुद्धि की पुष्टता स्व–पर के लिए अहितकारी होती है।

परंतु जो मनुष्य गुणों से पुष्ट होता है, वह भले ही शरीर से, धन से, प्रसिद्धि

से या बुद्धि से पुष्ट नहीं हो, फिर भी वह स्व–पर के लिए अहितकारी नहीं बनता है । वह सभी के लिए हितकारी बन सकता है ।

अच्छा मनुष्य गुणों से पुष्ट होता है – इस बात का अर्थ यह है कि उसमें दो–चार ही गुण नहीं, ज्यादा गुण होते हैं ! ज्यादा गुण होने पर ही 'पुष्ट' कहा जा सकता है । उसमें क्षमा, नम्रता, सरलता और निर्लोभता के गुण होते हैं । उसमें उदारता, गंभीरता, सहनशीलता के गुण होते हैं । उसमें दया, सत्य, अचौर्य और सदाचार के गुण होते हैं । उसमें परमात्मभक्ति, गुरुसेवा और साधर्मिक प्रेम के गुण होते हैं । तभी वह गुणों से पुष्ट कहा जाता है ।

गुणों से पुष्ट होने की भावना रखो ! भले, शरीर से पुष्ट बनो, परंतु गुणों से पुष्ट बने बिना नहीं ! भले धन से पुष्ट बनो, परंतु पहले गुणों से पुष्ट बनो । प्रसिद्धि की पुष्टता भले प्राप्त हो, परंतु गुणों की पुष्टता प्राप्त करनी ही होगी । अच्छा मनुष्य बनने के लिए गुणों की पुष्टि होना अति आवश्यक है । महासती अंजना गुणों से परिपुष्ट थी ! तभी वह 'महासती' कहलायी ।

## शत्रुता का नशा क्यों ?

'मुझे अच्छा मनुष्य बनना है,' जिन लोगों की ऐसी इच्छा नहीं होती है, ऐसी कल्पना भी नहीं होती है, वे लोग 'मैत्रीभावना' का मूल्य नहीं समझते हैं । उनके मन में तो शत्रुता का एक प्रकार का नशा होता है !

– जिसको बीड़ी–सिगरेट का नशा होता है, उसको बार–बार बीड़ी–सिगरेट याद आती है और वह बार–बार बीड़ी–सिगरेट पीता है ।

– जिसको मावा–पानपराग का नशा होता है, वह बार–बार उसका सेवन करता है, उसके बिना उसको चैन नहीं होता ।

– जिसको शराब का, जुआ खेलने का नशा होता है, वह शराब के बिना रह नहीं सकता, जुआ खेले बिना रह नहीं सकता ।

नशा यानी नशा ! शत्रुता..... झगड़ा.... वैर–विरोध.... वगैरह का जिन लोगों को नशा होता है, वे लोग शत्रुता किये बिना, झगड़ा किये बिना, वैर–विरोध किये बिना रह नहीं सकते हैं । उनको यदि पूछा जाय कि 'भाई, तुम क्यों शत्रुता बांधते हो ? क्यों वैर–विरोध करते हो ? इससे तुम्हें क्या लाभ होता है ?' शायद इस प्रश्न का उत्तर उनके पास नहीं होता है ! उत्तर देते हैं तो नशे में देते हैं ।

दो भाई – एक माता के दो पुत्र आपस में लड़ते थे । कोर्ट में केस चलता

था। दोनों भाइयों के ३–३ लाख रुपये खर्च हो गये थे। मैंने दोनों को समझाने का प्रयत्न किया। मैंने दोनों को कहा : 'तुम आपस में समाधान कर लो। घर.... जमीन.... वगैरह कुछ भी परलोक में साथ आनेवाला नहीं है। ३–३ लाख रुपये तुम्हारे बरबाद हो गये हैं....'

तो दोनों भाइयों का एक ही उत्तर था : 'भले, हमारे सारे रुपये बरबाद हो जायं.... हम लड़ेंगे..... सुप्रिम कोर्ट तक लड़ेंगे।' इसको कहते हैं नशा ! नशा मनुष्य को बरबाद करता है। सर्वनाश करता है। फिर क्यों शत्रुता का नशा करना ?

## शत्रुता के नशे से तीव्र पापबंध :

शत्रुता–वैरभावना रखने से लाभ तो कुछ भी नहीं है, नुकसान ज्यादा है। वर्तमान जीवन के नुकसान तो होते ही हैं, पारलौकिक नुकसान बहुत ज्यादा होते हैं। जिस समय तीव्र क्रोध करता है, वैरभावना को दृढ़ करता है, वह तीव्र पापकर्म बांधता है। और, यदि उस समय आयुष्य कर्म बांध लेता है तो दुर्गति का आयुष्य बांध लेता है।

कौशिक तापस महाक्रोधी था। मंदिर के पास उसका खेत था। खेत में विविध प्रकार के फल–फूल भी पैदा होते थे। कौशिक हाथ में शस्त्र लेकर खेत की रक्षा करता था। 'मेरी इजाजत के बिना यदि कोई भी मनुष्य मेरे खेत में घूस जायेगा, मैं उसका सर फोड़ दूँगा।'

मनुष्य के मन में इस प्रकार स्थावर–जंगम संपत्ति के ऊपर ममत्व हो जाता है तब आर्तध्यान और रौद्रध्यान आ ही जाता है। इसलिए संपत्ति के ऊपर ममत्व नहीं करना। हो गया हो ममत्व तो तोड़ देना।

कौशिक तापस तीव्र क्रोधी था, इसलिए लोगों ने उसका नाम चंडकौशिक रखा था। 'चंड' शब्द क्रोध के अर्थ में है ! लोगों में वह अप्रिय बन गया था। एक दिन उसके खेत में राजकुमार चले गये। चंडकौशिक की इजाजत के बिना घूस गये थे। चंडकौशिक ने उनको देख लिये। राजकुमार फल तोड़–तोड़कर खा रहे थे। चंडकौशिक चिल्लाया। राजकुमारों की ओर दौड़ा.... राजकुमार भी दौड़े। चंडकौशिक के हाथ में शस्त्र था। उसने तीव्र क्रोध में आकर राजकुमारों के ऊपर दूर से शस्त्र फेंका। परंतु दुर्भाग्य से शस्त्र आकाश में उछला..... तापस दौड़ रहा था, बीच में खड्डा आया, खड्डे में गिर गया.... और वह शस्त्र

उसी के सर पर गिरा.... सर फट गया..... तापस मर गया। तीव्र क्रोध में उसने सर्प की योनी का आयुष्यकर्म बांध लिया था। मरकर वह साँप बना। वही चंडकौशिक साँप, कि भगवान महावीर स्वामी के चरण पर जिसने डंक मारा था। भगवान के अंगूठे में से दूध जैसे खून की धारा बह निकली थी।

चंडकौशिक सर्प का कोई पुण्यकर्म उदय में आया होगा कि उसको भगवान महावीर का संयोग मिला, भगवान ने उसको प्रतिबोध दिया और उसको अपने पूर्वभव याद आ गये! और वह प्रतिबुद्ध हुआ, अनशन किया, मरकर आठवे देवलोक में गया! अन्यथा, सर्प मरकर नरक में ही प्रायः जाता है।

मरकर दुर्गति में नहीं जाना हो तो वैर का नशा करना छोड़ो। किसी भी जीव के साथ शत्रुता मत बांधो।

**सभा में से :** कभी-कभी शत्रुता हो जाती है....जानते हैं कि शत्रुता नहीं करनी है फिर भी.....

**महाराजश्री :** इसका एक ही उपाय है : प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक जिनवचनों का श्रवण करें। सद्गुरु के मुख से जिनवचनों का श्रवण करते रहने से हृदय में मैत्रीभाव, समताभाव बना रहता है।

## जिनवचनों का श्रवण करते रहो :

जो वीतराग सर्वज्ञ भगवंत के वचन होंगे, जिनागमों के जो वचन होंगे, जिनवचनों के अनुरूप जो भी उपदेश होंगे, वे मनुष्य को उपशान्त करनेवाले ही होंगे। शत्रुता की भावना को मिटानेवाले ही होंगे। द्वेष.... रोष.... शत्रुता को जगानेवाले उपदेश, पाप-उपदेश होते हैं। ऐसे उपदेश नहीं सुनना। किसी भी, कैसे भी जीवों के प्रति अपने हृदय में द्वेष... रोष, शत्रुता पैदा करनेवाले उपदेश कभी नहीं सुनना। भले ही उपदेश देनेवाले साधु के वेश में हो! संन्यासी के वेश में हो।

कुछ वर्षों से धर्म के उपदेश की पद्धति में परिवर्तन आया है। जिनवचनों के उपदेश की जगह, अपने ही विकृत विचारों का उपदेश देने लगे हैं ज्यादातर उपदेशक। ऐसे उपदेशकों का उपदेश सुनकर श्रोताजन अन्तर्मुख नहीं बनते हैं, बहिर्मुख बनते हैं। अपने दोष और दुर्गुण नहीं देखते, दूसरों के ही दोष और दुर्गुण देखते हैं। परिणामस्वरूप वे राग-द्वेष से पापकर्मों का ही उपार्जन करते हैं। इसलिए आप लोग सावधान रहना। जहाँ उपदेश सुनने पर आत्मा में शान्ति,

समता और प्रसन्नता का अनुभव नहीं हो, वहाँ जाना ही नहीं, उपदेश सुनना ही नहीं ।

डॉक्टर कितना भी प्रसिद्ध हो, परंतु उसकी दवा से अपना रोग मिटता नहीं हो, ऊपर से रोग बढ़ता हो, तो उसकी दवा क्यों लेना ? दवा लेना बंद करते हो न ? वैसे, उपदेशक, धर्म का उपदेशक, कितना भी प्रसिद्ध हो, परंतु उसके उपदेश से अपने राग–द्वेष दूर नहीं होते हों; शत्रुता, वैरभावना....क्रोध.... रोष..... इत्यादि दोष दूर नहीं होते हों, तो वैसा उपदेश नहीं सुनना चाहिए । उपदेश सुनने पर जीवों के प्रति शत्रुता की भावना पैदा होती हो, तो वैसा उपदेश नहीं सुनना चाहिए ।

जो धर्मग्रंथ होते हैं, योगग्रंथ होते हैं, अध्यात्मग्रंथ होते हैं, उन्ही ग्रंथों का उपदेश मिलता है, किसी प्रकार की मिलावट के बिना, तो ही उपदेश सुनना । धर्मोपदेश सुनने से मैत्रीभाव बढ़ता है, उपशमभाव बढ़ता है । किसी जीव के साथ शत्रुता बंध गई हो तो, शत्रुता मिट जाती है, क्षमाभाव पैदा होता है ।

अथवा दूसरा उपाय है धर्मग्रंथों का स्वाध्याय करना । ज्ञानी पुरुष के पास बैठकर, विनय से एक–एक धर्मग्रंथ का अध्ययन करना । शान्तसुधारस, ज्ञानसार, अध्यात्मसार, अध्यात्म कल्पद्रुम, योगशास्त्र, योगसार, योगबिंदु, योगदृष्टि, योगशतक, वैराग्यशतक, इन्द्रियपराजयशतक, धर्मबिंदु, षोडशक, पंचाशक, प्रशमरति, उत्तराध्ययन सूत्र.... वगैरह धर्मग्रंथों का अध्ययन, स्वाध्याय करने से शान्ति, समता, समाधि और प्रसन्नता की प्राप्ति होती है । जिनवचनों का यह विशिष्ट प्रभाव है । इसलिए जिनवचनों का श्रवण, स्वाध्याय, चिंतन करने को कहा गया है ।

## मैत्रीभावना का चिंतन :

जैसे जैसे जिनवचन आत्मसात् होते जायेंगे, वैसे वैसे अपने मन में संसार के सभी जीवों के प्रति अपना चिंतन मैत्रीमूलक बनता जायेगा ।

* जो जीव, दूसरे जीवों के प्रति शत्रुता रखते हैं, उनकी शत्रुता दूर हो, उनके हृदय में से शत्रुता की वासना नष्ट हो । कोई जीव की किसी के प्रति भी शत्रुता नहीं हो ।

* सभी जीव अपने मन को शान्त रखें । सभी के हृदय में शम–उपशम भाव उल्लसित हो । समताभाव के क्षीरसरोवर में सभी जीव–हंस तैरते रहो ।

* सभी जीव सुखी हो । तन–मन का एक भी दुःख न हो, अशान्ति न हो, क्लेश–संताप न हो ।

* सभी जीवों में मुक्ति–मोक्ष पाने की भावना पैदा हो । किसी भी जीव में मोक्ष के प्रति द्वेष न हो, अभाव न हो !

* संसार के सभी निर्मल आत्मभाववाले जीव, परमात्मभाव को प्राप्त करनेवाले हों ।

* सभी बुद्धिशाली.... मतिमंत मनुष्य शान्त–सुधा का अमृतपान करनेवाले हों !

इस प्रकार सदैव–प्रतिदिन चिंतन करना है । करोगे न ? इस प्रकार के चिंतन से आपका मन स्वस्थ रहेगा, प्रसन्न रहेगा ! तनाव से मुक्त रहेगा । प्रायः मानसिक रोगों से आप बच जाओगे और, मैत्रीभावना हृदय में स्थिर होने पर, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य भावनाएँ सहजता से हृदय में आ जायेंगी ।

एक बार समतारस का आस्वाद कर लो । बाद में बार–बार समतारस का आस्वाद करने की स्पृहा होती रहेगी । क्रोध, रोष आदि में मन चला भी जायेगा, पुनः समतारस का आस्वाद पाने को वापस लौटेगा ।

आज बस, इतना ही ।

★ ★ ★

# प्रवचन : ८६

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी, स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय के अंत में अंतिम सूत्र बताते हैं :

'सत्वादिषु मैत्र्यादियोगः ।'

– सभी जीवों के प्रति मैत्री ।

– गुणवान् और सुखी जीवों के प्रति प्रमोद ।

– दुःखी जीवों के प्रति करुणा, और

– अविनीत जीवों के प्रति उपेक्षा–माध्यस्थ्य ।

पहली मैत्रीभावना का विवेचन पूर्ण हुआ है । आज प्रमोदभावना के विषय में विवेचन करना है । प्रमोदभावना की परिभाषा करते हुए ग्रंथकार ने कहा है :

'परसुखतुष्टिर्मुदिता ।'

'प्रमोद' कहें या 'मुदिता' कहें, समानार्थक हैं । दूसरों का सुख देखकर खुश होना, अनुमोदना करना प्रमोदभावना है ।

'शान्तसुधारस' में उपाध्यायश्री विनयविजयजी ने कहा है :

'भवेत्प्रमोदो गुणपक्षपातः ।'

दूसरे जीवों के गुणों के प्रति आदर, अनुमोदना, पक्षपात – यह प्रमोदभावना है । इसका अर्थ यह होता है –

– दूसरों के गुण देखकर, गुणानुराग व गुणानुवाद करना है ।

– दूसरों का सुख देखकर, प्रशंसा करना है, निंदा–ईर्ष्या नहीं करना है ।

निर्मल मन से, जीभ को पवित्र करने का यह श्रेष्ठ मार्ग है । हार्दिक प्रशंसा करते रहो गुणवानों की और पुण्यशालियों की !

## तीर्थंकरों के प्रति प्रमोदभावना :

सर्वप्रथम सारे विश्व के परम उपकारी तीर्थंकर परमात्मा के गुणों का, उनके उत्कृष्ट पुण्य का संकीर्तन करेंगे ।

'वे वीतराग परमात्मा धन्य हैं, जिन्होंने क्षपकश्रेणी के ऊपर आरोहण कर, कर्ममल को धो डाला है । जो तीन लोक में उत्तम है, श्रेष्ठ है, तीन लोक के

हितकारी है । जो ज्ञान और वैराग्य से परिपूर्ण है । घातीकर्मों के क्षय से जिनमें अनन्त गुण प्रगट हुए हैं । जो देव–देवेन्द्रों से पूजित हैं ।

निर्मल आत्मस्वभाव के माध्यम से, परमात्मा वीतराग भगवंत के अनंत गुणों का संकीर्तन कर, पुनः पुनः गुणगान कर अपनी जिह्वा को पवित्र करना है ! परमात्मभक्ति के स्तोत्रों के कवन–पठन से जो आन्तर आनन्द की अनुभूति होती है, वह अद्‌भुत होती है ।

## आत्मसाधकों के प्रति प्रमोदभावना :

जो योगी पुरुष पहाड़ों के शिखर के ऊपर, एकान्त वनप्रदेश में, गुहाओं के गूढ–गुप्त प्रदेश में धर्मध्यान में लीन बनते हैं, समतारस में तृप्त होते हैं और घोर एवं उग्र तपश्चर्या करते हैं, ऐसे साधुपुरुषों को धन्य हैं ! इनकी इस साधना की हम भरपूर अनुमोदना करते हैं ।

जो मुनिवर ज्ञानवान् हैं, श्रुतप्रज्ञायुक्त हैं, विशुद्ध मोक्षमार्ग के जो उपदेशक हैं, उपशान्त चित्तवाले हैं, इन्द्रियविजेता हैं और विश्व में जिनशासन की शान बढ़ानेवाले हैं, वैसे साधुपुरुषों को भी धन्य हैं ।

इस प्रकार आचार्य, उपाध्याय और साधुपुरुषों के गुणों की अनुमोदना, प्रशंसा, संकीर्तन करने से अपना आत्मभाव निर्मल होता है । आत्मगुण प्रगट होते हैं । चित्त में प्रसन्नता बनी रहती है । इसलिए आचार्य के ३६ गुणों का, उपाध्याय के २५ गुणों का और साधु के २७ गुणों का संकीर्तन करते रहो !

## साध्वी–श्राविका और श्रावकों के प्रति प्रमोदभावना :

जो साध्वीवृंद और श्राविका–गण निर्मल ज्ञानयुक्त शील की शोभा धारण करता है, वे अनुमोदना के पात्र है, प्रशंसा के पात्र है । जो गृहस्थ दान देते हैं, शीलव्रत का पालन करते हैं, तप करते हैं और शुभ भावना भाते हैं, वे भी धन्य हैं ।

साधु–साध्वी–श्रावक और श्राविकाओं में गुणदर्शन करना है और गुणानुवाद करते रहना है । यह तभी संभव होगा जब आप 'मुक्तगर्वाः' बनेंगे, विनम्र बनेंगे । अभिमानी मनुष्य गुणानुवाद नहीं कर सकता है ।

चतुर्विध संघ की अनुमोदना करने के बाद जो मार्गानुसारी मनुष्य हैं, भले ही वे अन्य धर्म–दर्शनों में रहे हुए हों, उनके गुणों की भी अनुमोदना करनी चाहिए ।

## अन्य–धार्मिक लोगों के गुणों के प्रति प्रमोदभावना :

जो लोग जिनशासन में नहीं हैं, अन्य दर्शनों में रहे हुए हैं, उनमें भी जो सत्य, संतोष, विनय, उदारता आदि गुण हों, उन गुणों की अनुमोदना करना है। 'ये तो मिथ्यादृष्टि जीव हैं...' ऐसा मानकर उनकी निंदा नहीं करना है। उनमें भी जो गुण हों..... उन गुणों को देखो और गुणों की प्रशंसा करते रहो! प्रमोदभावना का क्षेत्र कितना विशाल है! व्यापक है!

– दूसरों के गुणों की प्रशंसा सुनकर कान पवित्र करें।
– दूसरों के गुणों की प्रशंसा कर जिह्वा को पवित्र करें।
– दूसरों के सुख–वैभवों को देखकर नेत्रों को पवित्र करें!

जीवन की सार्थकता इसी प्रकार शुभ भावों में रमणता करने में है! दूसरे जीवों के दोष सुनने से, दोषानुवाद करने से और दूसरों का सुख–वैभव देखकर ईर्ष्या करने से, जीवन की और इन्द्रियों की बरबादी ही है। मन भी बिगड़ता है। इसलिए इस प्रमोदभावना को आत्मसात् करना है। वैसे भी सम्यग् दृष्टि आत्मा पर गुणप्रशंसक ही होना चाहिए।

## इन्द्र ने सुलसा श्राविका की प्रशंसा की थी :

शास्त्रों में ऐसा सुना है कि सभी इन्द्र सम्यग् दृष्टि होते हैं। एक बार, भगवान महावीर स्वामी के समय में, पहले देवलोक में सौधर्मेन्द्र ने, देवसभा में सुलसा श्राविका की प्रशंसा करते हुए कहा : 'वर्तमान में भरतक्षेत्र में सुलसा श्रेष्ठ श्राविका है।' इन्द्र के मुँह से सुलसा की प्रशंसा सुनकर एक देव विस्मित हुआ। उसने सुलसा के श्राविकापन की परीक्षा लेने का सोचा।

शायद आप लोग सुलसा का चरित्र जानते होंगे ?

**सभा में से :** ज्यादातर हम लोग नहीं जानते!

**महाराजश्री :** संक्षेप में उस महाश्राविका का चरित्र सुनाता हूँ। राजगृही में 'नाग' नाम का रथिक रहता था। राजा प्रसेनजित का प्रिय नागरिक था। नाग दानवीर था, दयावान् था, शीलवान् था। धीर और वीर था। नगर में 'नाग' गुणसंपन्न और न्यायसंपन्न श्रेष्ठि कहा जाता था। उसकी पत्नी का नाम था सुलसा। सुलसा साक्षात् पुण्यलक्ष्मी थी। पतिव्रता थी, सम्यक्त्वधारी थी। अनेक गुणों का वैभव था उसके पास! परंतु शादी के बाद कुछ वर्ष तक वह निःसंतान थी। नाग इस बात को लेकर दुःखी था। कभी–कभी चिंतासागर में डूब जाता।

एक दिन वैसे ही नाग चिंतामग्न बैठा था, सुलसा ने पूछा : नाथ, आप किस चिंता से व्यथित हो ? मुझे भी आपकी चिंता का आधा भाग दीजिए ।' नाग ने कहा : 'देवी, मैं निःसंतान हूँ, पुत्रप्राप्ति की अथवा पुत्रीप्राप्ति की तीव्र इच्छा होने पर भी मेरी इच्छा पूर्ण नहीं हो रही है ! बस, यह एक ही चिंता है ।'

सुलसा ने कहा : 'नाथ, आप दूसरी शादी कर लें । अनेक कन्याओं के साथ शादी करें । क्या एक भी कन्या संतान देनेवाली नहीं होगी ? अवश्य संतान की प्राप्ति होगी ।

नाग ने कहा : 'प्रिये, इस जन्म में, इस जीवन में तूँ ही मेरी पत्नी है और रहेगी ! मैं दूसरी पत्नी करनेवाला नहीं हूँ । हे प्रियदर्शना, मैं तेरे से ही पुत्र की कामना करता हूँ । वह पुत्र अपने लिए प्रीति का भाजन बना रहेगा । हे प्रिये, तूँ ही मेरा प्राण हो, मेरा तन हो, मेरा मित्र हो, मेरा सर्वस्व हो । देवी, कुछ देव-अर्चना..... देव-मान्यता वगैरह उपाय करती रहो ।'

सुलसा ने कहा : 'मेरे नाथ, मैं दूसरे देवों की पूजा-अर्चना क्यों करूँगी ? मैं तो श्री अरिहंत परमात्मा की ही आराधना करूँगी । उनकी आराधना से सभी कार्यों में सफलता प्राप्त होती हैं । अरिहंत ही कल्पवृक्ष हैं, कामघट और कामधेनु हैं ।'

सुलसा ने आयंबिल.... उपवास वगैरह तपश्चर्या शुरू की । वैसे भी सुलसा जन्म से ही पवित्र सन्नारी थी, तप से वह विशेषरूप से पवित्र होने लगी । वह सच्चे मोती के आभूषण पहनने लगी । वीतराग परमात्मा की पूजा-सेवा-भक्ति-स्तवना करने लगी । ब्रह्मचर्य का पालन करने लगी । हालाँकि नाग की व्यथा से वह भी व्यथित थी, फिर भी अपने मन को समाधि में रखती थी ।

उस समय, वह सौधर्म देवलोक का देव, साधु का रूप धारण कर सुलसा के श्राविकापन की परीक्षा लेने, सुलसा के वहाँ आया । सुलसा उस समय अपने गृहमंदिर में देवपूजा कर रही थी । देव 'निसीही' बोलता हुआ गृहमंदिर में प्रवेश करता है । सुलसा ने साधु-मुनिराज को वंदना की । गृहमंदिर से बाहर आकर सुलसा ने विनय से साधु को आगमन का प्रयोजन पूछा । साधु ने कहा : 'हमारा एक साधु ग्लान है । उसके लिए लक्षपाक तेल चाहिए । एक वैद्य ने कहा कि तुम्हारे पास लक्षपाक तेल है, वह लेने मैं यहाँ तेरे घर आया हूँ ।'

सुलसा हर्षविभोर हो गई । 'मेरा लक्षपाक तेल ग्लान मुनि के काम आयेगा ! मैं धन्य बन गई ।' उसने साधु को कहा : 'आप यहाँ बिराजे, मैं तेल लेकर आती

हूँ।' सुलसा घर में जहाँ तेल का कुंभ पड़ा था वहाँ गई। मिट्टी के कुंभ में तेल था। कुंभ लेकर वह बाहर के खंड में आयी, कि जहाँ मुनिराज खड़े थे। परंतु देव ने अपनी अदृश्य शक्ति से उस तेलकुंभ को सुलसा के हाथों से गिरा दिया। जमीन पर गिरते ही कुंभ के टुकड़े हो गये, तेल ढुल गया। सुलसा वहाँ क्षणभर खड़ी रही, परंतु खिन्न नहीं हुई। उसने मुनिराज को कहा : 'मैं दूसरा कुंभ लेकर आती हूँ। आप चिन्ता नहीं करें।'

सुलसा दूसरा कुंभ लेकर आयी। परंतु देव ने पुनः अपनी शक्ति से कुंभ को जमीन पर गिरा दिया। कुंभ टूट गया। तेल जमीन पर फैल गया। सुलसा को आश्चर्य हुआ। 'आज क्यों मेरे हाथ में से कुंभ जमीन पर गिर जाता है ?' उसने मुनिराज को कहा : 'महात्मन्, आप चिंता नहीं करें, मेरे पास अभी एक कुंभ बचा है। मैं वह लाकर आपको देती हूँ।'

सुलसा तीसरा कुंभ लेकर आती है। देव ने उसको भी अपनी दिव्य शक्ति से गिरा दिया.... कुंभ टूट गया। सुलसा का मन अब व्यथित हो गया। वह बोलने लगी : 'मैं कैसी भाग्यहीन हूँ ? मुनिराज की सेवा का मुझे लाभ नहीं मिला.....।' मुनिरूपधारी देव सुलसा के मनोभावों को भाँप रहा था। लाख-लाख रुपये के मूल्य के तीन कुंभ टूटने पर भी सुलसा के मन में वह दुःख नहीं था कि 'मेरे तीन लाख रुपये के तीन तेलकुंभ टूट गये....।' उसको दुःख था साधुसेवा का लाभ नहीं मिलने का ! देव सुलसा पर प्रसन्न हो गया। उसने अपना देवरूप प्रगट किया और सुलसा को कहा : 'हे भद्रे, सौधर्म देवलोक की देवसभा में इन्द्र ने तेरी प्रशंसा की थी, तेरे गुणों की अनुमोदना की थी, वह सुनकर मैं तेरी परीक्षा लेने आया था ! तूँ परीक्षा में उत्तीर्ण हुई है। मैं संतुष्ट हुआ हूँ। हे भद्रे, तूँ मेरे से कुछ मांग ! देव का दर्शन निष्फल नहीं जाना चाहिए।'

सुलसा ने कहा : 'हे देव, यदि आप संतुष्ट हुए हो तो, मुझे पुत्रप्राप्ति चाहिए, चूँकि मैं निःसंतान हूँ। और कुछ भी मुझे नहीं चाहिए।'

देव ने उसी समय सुलसा को ३२ गुटिका दी और कहा : 'भद्रे, तूँ एक-एक गुटिका खाती रहना। तुझे ३२ पुत्रों की प्राप्ति होगी। और, जब भी तुझे कोई प्रयोजन उपस्थित हो तब मुझे याद करना, मैं तेरे पास आऊँगा।' इतना कह कर देव अदृश्य हो गया।

बाद में सुलसा को ३२ पुत्रों की प्राप्ति होती है। कहानी लंबी है। मुझे तो आप लोगों को इतना ही बताना था कि इन्द्र जैसे इन्द्र ने भी एक गुणवान् श्राविका स्त्री के गुणों की प्रशंसा की थी। इन्द्र की यह प्रमोदभावना थी।

## गुणवानों की ईर्ष्या नहीं करें :

हमें दूसरों के गुण ही देखने के हैं और गुणों के प्रति ही प्रेम करना है। किसी के भी प्रति ईर्ष्या नहीं करना है। दूसरों का श्रेष्ठ भाग्योदय देखकर, किसी की प्रशंसा सुनकर, यश–कीर्ति सुनकर ईर्ष्या से जलना नहीं है।

१८वीं शताब्दी का एक पाश्चात्य तत्त्वचिंतक 'जिन जेम्स स्सों' ने कहा था : 'मनुष्य ईर्ष्या से, स्पर्धा से दूसरे मनुष्य को गिराने जाता है तब अति क्रूर और अन्यायी बन जाता है। अपनी महत्त्वाकांक्षा संतुष्ट करने के लिए वह दूसरों का शोषण करता है। इसलिए महत्त्वाकांक्षी–ईर्ष्या से भरे हुए मनुष्य का श्वास भी दूसरे मनुष्य के लिए खतरनाक बन जाता है।'

ईर्ष्या, प्रमोदभावना की दुश्मन है। जिस मनुष्य का मन ईर्ष्या से भरपूर होगा, वह प्रमोदभावना का आनंद नहीं पा सकता है।

## ईर्ष्या के कटु फल :

आपने सुना है कि महासती अंजना को २२ वर्ष तक पति के विरह का दुःख सहना पड़ा था। कोई भी कार्य कारण के बिना नहीं होता है। पतिविरह का दुःख, पापकर्म का फल था। और वह पापकर्म अंजना ने अपने पूर्वजन्म में बांधा था। उस पापकर्म के मूल में ईर्ष्या का तत्त्व रहा हुआ था। वहं प्रसंग संक्षेप में बताता हूँ।

श्वसुरगृह से बहिष्कृत हुई अंजना पितृगृह गई थी। वहाँ भी वह तिरस्कृत हुई थी। वहाँ से अपनी सखी वसंततिलका के साथ वह जंगल में चली गई थी। वहाँ एक पहाड़ की गुफा दिखायी दी। दोनों सखी उस गुफा में प्रवेश करती हैं। वहाँ उन्होंने ध्यानस्थ दशा में खड़े हुए एक मुनिराज के दर्शन किये। मुनिराज के दर्शन से अंजना आश्वस्त हुई। उसके शोकसंतप्त हृदय में हर्ष उत्पन्न हुआ। दोनों सखी, विनय से मुनिराज के सामने बैठ गई। मुनिराज ने अपना ध्यान पूर्ण किया और दक्षिण कर ऊँचा कर 'धर्मलाभ' की आशिष दी।

वे महामुनि 'अमितगति' नाम के चारणमुनि थे। यानी वे आकाशमार्ग से आवागमन करने की लब्धिवाले थे और अवधिज्ञानी थे। वसंततिलका ने वंदना कर, महामुनि को अंजना का पूर्वजन्म पूछा था और पतिविरह का दुःख, व्यभिचारिणी का कलंक.... वगैरह का कारण पूछा था। अंजना के गर्भ में आनेवाले जीव का भूतकाल व भविष्य पूछा था। मुनिराज ने वहाँ पत्थर–शिला पर बैठ

कर इन सभी प्रश्नों के उत्तर दिये थे। उनमें से मैं अभी आपको केवल अंजना का पूर्वजन्म बताऊँगा। चूँकि अपने विषय का संबंध उस पूर्वजन्म से हैं।

कनकपुर नाम का नगर था। वहाँ राजा था कनकरथ। राजा को दो रानी थी – कनकोदरी व लक्ष्मीवती।

लक्ष्मीवती सम्यग् दृष्टि श्राविका थी। उसने अपने महल में गृहमंदिर बनाया था। मंदिर में परमात्मा की रत्नमय प्रतिमा स्थापित की थी। प्रतिदिन सुबह–मध्याह्न और शाम – तीनों संध्या में वह प्रभुपूजन करती थी। परमात्मा के सामने गीत–नृत्य करती थी। नगर की बड़े घरानों की अनेक महिलाएँ लक्ष्मीवती के मंदिर में आती थी और परमात्मा की पूजाभक्ति करती थी। लक्ष्मीवती रानी थी, फिर भी विनम्र थी। सभी श्राविकाओं के साथ सद्व्यवहार करती थी। नगर में सर्वत्र लक्ष्मीवती की प्रशंसा होती थी।

लक्ष्मीवती के महल में प्रतिदिन प्रभुभक्ति का महोत्सव देखकर और लक्ष्मीवती की प्रशंसा सुनकर, कनकोदरी रानी ईर्ष्या से जलने लगी। कनकोदरी, लक्ष्मीवती को यशःकीर्ति और धूमधाम सहन नहीं कर सकती है। उसने सोचा : 'यह सब धूमधाम का मूल है वह रत्नमय मूर्ति। मंदिर में मूर्ति है इसलिए नगर की महिलाएँ उस महल में जाती हैं और लक्ष्मीवती के साथ नाचती हैं...। मैं उस मूर्ति को ही वहाँ से हटा दूँ.... जमीन में गाड़ दूँ या पानी में डूबो दूँ..... मंदिर में मूर्ति ही नहीं रहेगी तो फिर लक्ष्मीवती के वहाँ कौन जायेगा ?'

ईर्ष्या ने कनकोदरी को अति क्रूर बना डाली। आक्रामक बना डाली। लक्ष्मीवती का गुणवैभव वह नहीं देख सकी। ईर्ष्या ने उसको गुणदर्शन नहीं करने दिया। प्रमोदभावना को हृदय में प्रवेश नहीं करने दिया।

युक्ति–प्रयुक्ति से एक दिन कनकोदरी ने, लक्ष्मीवती के मंदिर में से जिनप्रतिमा को चुरा ली और प्रतिमा को छुपाकर वह संध्या के समय नगर के बाहर जहाँ सारे नगर की गंदगी का ढेर पड़ा था वहाँ गई। खड्डा किया और जिनप्रतिमा को उस खड्डे में डाल दी। कनकोदरी यह समझती थी कि 'मुझे कोई देख नहीं रहा है।' परंतु वहाँ से गुजरती हुई एक 'जयश्री' नाम की साध्वी ने कनकोदरी के दुष्कृत्य को देख लिया था। साध्वी के मन मे बड़ा दुःख हुआ – 'यह स्त्री अच्छे खानदान घर की स्त्री दिखती है, फिर भी जिनमूर्ति को गंदी जगह में क्यों डाल दी होगी ? महापाप करती है... मैं उसको इस पाप से बचा लूँ।'

साध्वीजी कनकोदरी के पास आयी, और बोली : 'अरे, भाग्यशालिनी, तूँने यह क्या किया ? जिनप्रतिमा को इस गंदी जगह में गाड़कर तूँने घोर पापकर्म बांध लिया..... तुझे भयानक दुःख सहने पड़ेंगे !'

कनकोदरी साध्वीजी को देखकर और उनके हितवचनों को सुनकर डर गई। उसको लगा कि 'मैंने बड़ी भूल की है।' उसने साध्वीजी को पूछा : 'हे पूज्ये, अब मैं क्या करूँ ?' साध्वीजी ने कहा : 'वत्से, जिनप्रतिमा को बाहर निकाल, घर ले जाकर शुद्ध करना, क्षमायाचना करना और जहाँ यह प्रतिमा थी, वहाँ स्थापित कर देना।'

जैसे साध्वीजी ने कहा वैसे ही कनकोदरी ने किया। बाद में वह साध्वीजी के परिचय से समकित दृष्टि हुई, श्राविका बनी। जिनधर्म का पालन करने लगी। परंतु जिनमूर्ति की आशातना का जो पाप किया था उसका प्रायश्चित्त किये बिना उसकी मृत्यु हो गई। मरकर वह सौधर्म देवलोक में देवी बनी।

देवी का आयुष्य पूर्ण हुआ, वह राजा महेन्द्र की पुत्री अंजना हुई है। कनकोदरी ने भव में जो पापकर्म बांधा था, उसका फल इस जन्म में उसने भोग लिया है। अब, यह यहाँ पुत्र को जन्म देगी, उसका मामा यहाँ आयेगा और तुम सबको वह अपने नगर ले जायेगा। 'अंजना का पुत्र इसी जन्म में कर्मक्षय कर, मोक्ष पायेगा।' इतना कहकर मुनिराज आकाशमार्ग से चले गये !

## ईर्ष्या के अनेक प्रकार :

जिस मनुष्य में मौलिक योग्यता नहीं होती है, वे मनुष्य जहाँ प्रमोद होना चाहिए वहाँ ईर्ष्या करते हैं। आपको मैं आठ प्रश्न पूछता हूँ, आप स्वयं अपने मन में उसके उत्तर खोजना। इससे आप समझ पाओगे कि आपमें ईर्ष्या का तत्त्व है या प्रमोदभावना का तत्त्व है।

पहला प्रश्न : आपसे जो ज्यादा धनवान है, उनके प्रति आपको प्रेम होता है या ईर्ष्या ?

दूसरा प्रश्न : आपसे जो ज्यादा बुद्धिमान् है, उनके प्रति आपको प्रेम होता है या ईर्ष्या ?

तीसरा प्रश्न : आपसे जो ज्यादा यशस्वी है, उनके प्रति आपको प्रेम होता है या ईर्ष्या ?

चौथा प्रश्न : आपसे जो ज्यादा रूपवान है, उनके प्रति आपको प्रेम होता है या ईर्ष्या ?

पाँचवा प्रश्न : आपसे जो ज्यादा बलवान है, उनके प्रति आपको प्रेम होता है या ईर्ष्या ?

छट्ठा प्रश्न : आपसे जो ज्यादा ज्ञानी है, उनके प्रति आपको प्रेम होता है या ईर्ष्या ?

सातवा प्रश्न : आपसे जो ज्यादा लोकप्रिय है, उनके प्रति आपको प्रेम होता है या ईर्ष्या ?

आठवाँ प्रश्न : आपसे जो ज्यादा धार्मिक है, उनके प्रति आपको प्रेम होता है या ईर्ष्या ?

– यदि प्रेम होगा तो उसकी प्रशंसा करोगे और सुनोगे ।

– यदि प्रेम होगा तो उसके दोष देखोगे नहीं, देखोगे तो भी महत्त्व नहीं दोगे, दूसरों के आगे दोषानुवाद नहीं करोगे ।

यदि ईर्ष्या होगी तो उस व्यक्ति की आप प्रशंसा नहीं करोगे, नहीं सुनोगे ! उसकी निंदा करोगे । उसके प्रति आपके हृदय में द्वेष रहेगा । उसको गिराने का प्रयत्न करोगे ।

## ईर्ष्या से सिंहगुफावासी मुनि का पतन :

आपने पर्युषणापर्व के दिनों में यदि 'स्थविरावली' का व्याख्यान सुना होगा तो सिंहगुफावासी मुनि की कहानी सुनी होगी । ईर्ष्या से उस महातपस्वी मुनि का कैसा पतन हुआ था, वह प्रसंग संक्षेप में बताता हूँ ।

गुरुदेव श्री संभूतिविजयजी की आज्ञा लेकर कुछ विशिष्ट साधक मुनि अलग–अलग जगह चातुर्मास करने गये थे ।

– स्थूलभद्रजी कोशा वेश्या के वहाँ चातुर्मास करने गये थे ।

– दूसरे मुनि सिंह की गुफा के द्वार पर चातुर्मास करने गये थे ।

– तीसरे मुनि कुए के किनारे पर चातुर्मास करने गये थे ।

वैसे अलग–अलग स्थानों पर चातुर्मास करने मुनि गये थे । जब वे चातुर्मास पूर्ण करके गुरुदेव के पास आये तो, सिंहगुफावासी मुनि को गुरु ने कहा : 'वत्स ! तुमने दुष्कर साधना की ! चार–चार महीने के उपवास कर, सिंह की गुफा के द्वार पर निर्भय होकर ध्यानस्थ रहे !'

वैसे कुए के किनारे पर चातुर्मास करके आये हुए मुनि को भी गुरु ने कहा : तुमने भी दुष्कर साधना की !

बाद में स्थूलभद्रजी आये । गुरुदेव ने खड़े होकर उनको दुलारते हुए कहा : 'वत्स, तूने दुष्कर.... दुष्कर.... दुष्कर साधना की । काजल की कोटड़ी में रहने पर भी अपने अंग पर एक दाग भी नहीं लगने दिया !' गुरुदेव ने स्थूलभद्रजी की बहुत प्रशंसा की । सिंहगुफावासी मुनि अपने मन में जलने लगे । स्थूलभद्रजी के प्रति ईर्ष्याभाव पैदा हुआ । वे सोचने लगे :

'स्थूलभद्र महामंत्री का पुत्र है इसलिए वैसे भी गुरुदेव को उसके प्रति पक्षपात होना स्वाभाविक है । दूसरी बात, वह कोशा के वहाँ रोजाना षड्रस का भोजन करता था, उसने कोई तप नहीं किया था.... फिर भी गुरुदेव ने हमसे भी ज्यादा उसकी प्रशंसा की ! कौन-सी बड़ी साधना की ? कौन-सी बड़ी सिद्धि पायी उसने ? कोशा के वहाँ तो मैं भी चातुर्मास कर सकता हूँ.... । अगला चातुर्मास मैं कोशा के वहाँ करूँगा ।'

जब दूसरा चातुर्मास करने का समय आया, तब सिंहगुफावासी मुनि ने गुरुदेव को कहा : 'मैं कोशा के वहाँ चातुर्मास करूँगा ।' गुरुदेव समझ गये – 'यह स्थूलभद्र की स्पर्धा करना चाहता है ।' गुरुदेव ने कहा :

'वत्स, कोशा के वहाँ चातुर्मास क्या, एक दिन भी रहना और नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करना, एकमात्र स्थूलभद्र कर सकता है, तेरा काम नहीं है । मेरा भी काम नहीं है । कामदेव के घर में रहकर कामविजेता बनना, अति दुष्कर कार्य है ।'

गुरुदेव ने समझाया, परंतु वे मुनि नहीं समझे । गुरुदेव ने कह दिया – 'जहा **सुक्खं देवाणुप्पिया !**' 'तुझे सुख हो वैसे कर.... ।' सिंहगुफावासी मुनि गये कोशा के घर !

घर के द्वार पर जाकर 'धर्मलाभ' की आवाज लगायी ! कोशा श्राविका बनी थी । श्राविका की संयमी वेश-भूषा में वह रहती थी । 'धर्मलाभ' की आवाज सुनकर वह द्वार पर आयी । मुनिराज को देखा । मुनिराज ने कोशा को देखा ।

कोशा ने पूछा : 'मुनिराज, आज्ञा करें, आपकी क्या सेवा करूँ ?'

मुनिराज ने कहा : 'मुझे तेरे वहाँ चातुर्मास करना है !'

कोशा मुनिराज की बात सुनकर तूर्त ही समझ गई कि 'ये मुनि, स्थूलभद्रजी की ईर्ष्या से प्रेरित होकर, उनका अनुकरण करने आये हैं । वैसे भी, वे जिस तरह मुझे देख रहे हैं, वे कामविकार से परवश बन गये हैं । इनको बुद्धिपूर्वक

समझाना होगा !' कोशा ने मुख पर स्मित लाकर कहा : 'महाराज, यह तो वेश्या का घर है । यहाँ रहने के लिए रुपये चाहिए ! हैं आपके पास रुपये ?'

'नहीं, मेरे पास रुपये तो नहीं हैं.....'

'तो फिर आप नेपाल जाइये । नेपाल का राजा साधुओं को रत्नकंबल भेंट देता है । वह लेकर आइये । तो फिर मेरे वहाँ आप रह सकोगे !'

सिंहगुफावासी मुनि कामवश बन गये थे । कोशा के रूप में मुग्ध बन गये थे ! कोशा का संग पाने की तीव्र इच्छा से प्रेरित होकर वे नेपाल गये । पैदल विहार करके गये । रत्नकंबल लेकर आये ! कोशा के आवास पर पहुँचे । कोशा को कहा : 'ले, मैं रत्नकंबल लेकर आया हूँ । अब तो मुझे तेरे आवास में रहने देगी ?'

कोशा ने कहा : 'लाइये रत्नकंबल !' रत्नकंबल लेकर कोशा ने दो टुकड़े कर डाले और दोनों पाँव पोंछकर गटर में डाल दी ।

मुनि चिल्लाये – 'अरे.... तूँने यह क्या कर दिया ? लाख रुपये की रत्नकंबल गटर में डाल दी ?'

कोशा ने कहा : 'मुनिराज, आप क्या कर रहे हो ? आपके गुरुदेव ने दिये हुए तीन रत्न – दर्शन, ज्ञान और चारित्र गटर में डाल रहे हो ? चातुर्मास में आप नेपाल जाकर आये.... अब मेरे संग आपको रंगराग खेलना है ? मुनिराज, यह नरक में जाने का रास्ता है । आप वापस जाइये गुरुदेव के पास । यहाँ आपका काम नहीं है, वे तो एक ही स्थूलभद्रजी हैं, जो कामदेव के घर में रहकर निर्विकार रहे ! कामविजेता बने !'

सिंहगुफावासी मुनि लज्जित हो गये ! होश में आये, स्वस्थ बने । मन में से ईर्ष्या चली गई । कोशा का उपकार मानकर वे वापस लौट गये ।

ईर्ष्या का त्याग करें । प्रमोदभावना तभी हृदय में उभरेगी !

आज बस, इतना ही ।

★ ★ ★

# प्रवचन : ८७

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में श्रावक जीवन के बाह्य और आंतरिक आचार-विचारों की विस्तृत संहिता प्रस्तुत की है। अध्याय का अंतिम सूत्र है :

'सत्वादिषु मैत्र्यादियोगः।'

जीवसृष्टि के प्रति मैत्री, प्रमोद, करुणा और उपेक्षा – ये चार भावना, चार प्रकार के विचार ही करने का उपदेश दिया है। अपन मैत्रीभावना का विवेचन करने के बाद 'प्रमोदभावना' का विवेचन कर रहे हैं। कल तो विशेष रूप से प्रमोदभावना की दुश्मन 'ईर्ष्या' के कटु फल बताये थे। ईर्ष्या प्रमोदभावना की अवरोधक है। ठीक है, हम पंच परमेष्ठि भगवंतों के गुण और पुण्य की तो स्तवना कर लेते हैं, वैसे भूतकालीन महापुरुषों के एवं महासतियों के गुण और पुण्य की भी अनुमोदना, स्तवना और स्मरण कर लेंगे। परंतु जो लोग हमारे आसपास हैं, जिनके साथ हम रहते हैं, जिनको हम पहचानते हैं, उन लोगों में जो हमसे ज्यादा गुणवान् हैं, जो हमसे ज्यादा पुण्यशाली-सुखी हैं, उनकी प्रशंसा, उनकी अनुमोदना करना सरल नहीं है, मुश्किल काम है। और हमें यह मुश्किल काम ही सरल बनाना है।

आंतरिक निर्णय कर लो, आत्मसाक्षी से निर्णय कर लो कि मुझे, जो मेरे से अधिक गुणवान् लोग हैं, अधिक सुखी लोग हैं, उनकी ईर्ष्या तो करना ही नहीं है, मैं उनके गुणों की प्रशंसा ही करूँगा। उनका सुख देखकर आनंदित होऊँगा।

मैं यहाँ आपको ११ बातें बताता हूँ। इन बातों को लेकर आपको दूसरों के प्रति प्रमोदभाव प्रदर्शित करना है। बाद में इन्हीं ११ बातों के विषय में भूतकालीन कुछ विभूतियों की विशिष्ट घटनाएँ भी बताऊँगा।

१. पहली बात है **उत्कृष्ट भाग्य** की! आपसे जो ज्यादा भाग्यशाली हों, आप उनकी प्रशंसा करें।

२. दूसरी बात है **यश और कीर्ति** की। आपसे जिसका ज्यादा यश हो, ज्यादा कीर्ति हो, आप उसकी प्रशंसा करें।

३. तीसरी बात है **भोग-उपभोग** की। आपसे जिसके पास ज्यादा भोग-उपभोग के साधन हो, आप वह देखकर आनंदित हों।

४. चौथी बात है **दान की, उदारता** की । आपसे जो ज्यादा दान देते हैं, जो ज्यादा उदार हैं, उनकी आप प्रशंसा–अनुमोदना करें ।

५. पाँचवी बात है **निर्विकारिता** की । जो स्त्री–पुरुष ब्रह्मचर्य–व्रत का पालन करते हैं, उनकी प्रशंसा–अनुमोदना करें ।

६. छट्ठी बात है **परोपकार** की । जो लोग परोपकार–परायण होते हैं, उनकी आप प्रशंसा–अनुमोदना करें ।

७. सातवीं बात है **औचित्यपालन** की । जो लोग स्वार्थ को त्यागकर, औचित्यपालन करने में तत्पर होते हैं, आप उनकी प्रशंसा करें ।

८. आठवीं बात है **सहनशीलता** की । जो लोग आपसे ज्यादा सहनशील हैं, आप उनकी प्रशंसा करें, अनुमोदना करें ।

९. नौवीं बात है **शील–सदाचार** की । जो लोग शीलवान हैं, सदाचारी हैं, आप उनकी प्रशंसा करें, अनुमोदना करें ।

१०. दसवीं बात है **ज्ञान** की । जो लोग आपसे ज्यादा ज्ञानी हैं, आप उनकी प्रशंसा करें, अनुमोदना करें ।

११. ग्यारहवी बात है **योग** की । जो महापुरुष योगी हैं, उन योगीपुरुषों के गुणों की स्तवना करते रहें ।

अब आप सोचना कि आपके परिवार में, मित्रों में, स्नेही–स्वजनों में, समाज में, नगर में ऐसे स्त्री–पुरुष कौन–कौन हैं ।

## श्रीपाल का उत्कृष्ट भाग्य :

सर्वप्रथम अपन उत्कृष्ट भाग्यवाले महानुभाव को याद कर, उसकी अनुमोदना करते हैं । 'उत्कृष्ट भाग्य' का अर्थ है पुण्यानुबंधी पुण्य का उदय । 'श्रीपाल–मयणासुंदरी चरित्र' में जो श्रीपाल का चरित्र पढ़ने को मिलता है, वह उत्कृष्ट भाग्य का श्रेष्ठ उदाहरण है ।

उसका भाग्योदय सर्वप्रथम उज्जयिनी नगरी में हुआ । उसकी शादी मयणासुंदरी जैसी गुणवती–रूपवती और शीलवती राजकुमारी के साथ हुई । जबकि श्रीपाल कुष्ठरोगी था ! कुष्ठरोग ने उसके रूप–लावण्य को ग्रसित कर लिया था । अकस्मात् ही उसका भाग्योदय हुआ, राजकुमारी से शादी हो गई !

दूसरा भाग्योदय था, मयणासुंदरी के द्वारा महान् सद्गुरु मुनिचन्द्रसूरिजी का संयोग मिलना ! गुरुदेव की महती कृपा हुई, श्रीपाल का कुष्ठरोग दूर करने का

उपाय मिल गया ! श्री सिद्धचक्रजी की आराधना–उपासना मिली । मयणा और श्रीपाल ने सिद्धचक्र की विधिपूर्वक, भावपूर्वक, श्रद्धापूर्वक आराधना की । आराधना के फलस्वरूप श्रीपाल का कुष्ठरोग मिट गया ! श्रीपाल निरोगी बन गया । श्रेष्ठ रूप प्रगट हुआ, श्रेष्ठ लावण्य प्राप्त हुआ ।

तीसरा भाग्योदय था वर्षों के बाद माता के मिलन का । उज्जयिनी में ही माता कमलप्रभा मिल गई ! प्रिय स्वजनों का मिलन भाग्योदय से ही होता है ।

श्रीपाल जब विदेशयात्रा के लिए माता का आशीर्वाद और मयणासुंदरी की शुभ कामनाएँ लेकर निकला, तब चौथा भाग्योदय हुआ । जंगल में एक विद्यासाधक मिला । श्रीपाल की सहायता से उसकी विद्या सिद्ध हो गई ! विद्यासाधक ने श्रीपाल के प्रति कृतज्ञता प्रगट की और उसको दो दिव्य औषधि प्रदान की – १. जलतारिणी और २. शस्त्रवारिणी ।

पाँचवा भाग्योदय भी तूर्त ही हुआ । एक पहाड़ की निकुंज में कुछ धातुसाधक लोग, स्वर्णसिद्ध का उपाय करते थे । उनको सिद्धि प्राप्त नहीं हो रही थी । उन्होंने श्रीपाल को प्रार्थना की सहाय करने की । श्रीपाल के सामने उन लोगों को स्वर्णसिद्धि प्राप्त हो गई ! उन्होंने श्रीपाल को स्वर्ण दिया ! श्रीपाल को सोने की प्राप्ति हुई ।

छट्ठा भाग्योदय भृगुकच्छपुर (भरूच) में हुआ । विदेशयात्रा के लिए धवल शेठ का साथ मिला और एक लाख स्वर्णमुद्राएँ मिली ।

सातवा भाग्योदय बब्बरकुल में हुआ । बब्बरकुल के राजा की पुत्री मदनसेना के साथ श्रीपाल की शादी हुई । राजा ने विपुल वैभव दिया, एक विराट जहाज दिया । धवल शेठ ने भी २५० जलयान दिये ।

आठवा भाग्योदय रत्नद्वीप के ऊपर हुआ । 'रत्नसानु' पर्वत के ऊपर 'रत्नसंचया' नगरी थी । वहाँ राजा था कनककेतु । उसकी पुत्री थी मदनमंजूषा । श्रीपाल की मदनमंजूषा के साथ शादी हुई । राजा ने विपुल वैभव दिया ।

नौवा भाग्योदय कोंकणदेश में हुआ । वहाँ के राजा वसुपाल ने अपनी राजकुमारी मदनमंजरी की शादी श्रीपाल के साथ कर दी !

दसवा भाग्योदय कंबूद्वीप के ऊपर कुंडलपुर में हुआ । कुंडलपुर जाने से पूर्व, सिद्धचक्र के अधिष्ठायक विमलेश्वरदेव ने श्रीपाल को चार दिव्य शक्तियाँ दी – १. चाहे वैसा रूप कर सके वैसा मणिहार दिया । २. आकाशमार्ग से गति कर सकने की शक्ति दी । ३. जिस कला में पारंगत होना चाहे उस कला में

पारंगत हो सके, वैसी शक्ति दी। ४. ज़हर उतारनेवाला हार दिया, हार को पानी से धोकर, उस पानी को सर्प के डंक पर डालने से जहर उतर जायं।

कुंडलपुर में राजा मकरकेतु की पुत्री गुणमंजरी के साथ श्रीपाल की शादी हुई।

ग्यारहवाँ भाग्योदय कंचनपुर में हुआ। वहाँ के राजा वज्रसेन की पुत्री त्रैलोक्यसुंदरी ने स्वयंवर में श्रीपाल का वरण किया।

बारहवाँ भाग्योदय 'दलफत्तन' नगर में हुआ! राजा धरापाल की पटरानी गुणमाला की पुत्री शृंगारसुंदरी के साथ श्रीपाल की शादी हुई।

तेरहवाँ भाग्योदय कोल्लागपुर में हुआ। राजा पुरंदर की पुत्री जयसुंदरी के साथ श्रीपाल की शादी हुई।

चौदहवाँ भाग्योदय सोपारकनगर में हुआ। वहाँ के राजा महसेन ने अपनी पुत्री तिलकसुंदरी की शादी श्रीपाल से कर दी। श्रीपाल ने तिलकसुंदरी का सर्पविष उतार दिया था।

पंद्रहवाँ भाग्योदय तब हुआ जब श्रीपाल अपनी आठ पत्नियों के साथ, विशाल सेना को लेकर उज्जयिनी पहुँचा। माता ने और मयणासुंदरी ने बहुत प्रेम से श्रीपाल और आठ पत्नियों का स्वागत किया। मयणासुंदरी ने उन आठों राजकुमारियों को अपनी प्रिय बहनों के रूप में स्वीकार किया – यह श्रीपाल का श्रेष्ठ भाग्योदय था।

बाद में श्रीपाल अपना पितृराज्य भी प्राप्त कर लेता है। वह अनेक प्रकार के भाग्योदय पाता है।

## श्रेष्ठ भोगसुख :

९/९ समर्पित भाववाली पत्नियों के साथ श्रीपाल, देवलोक के इन्द्र के समान दिव्य भोगसुख भोगता था।

– उसकी शारीरिक शक्ति अपूर्व थी।
– सभी पत्नियों का एक समान प्रेम था।
– पत्नियों में परस्पर स्नेह और मैत्री थी।
– श्रीपाल और सभी पत्नियाँ निश्चिंत और निराकुल थी।

संसार के श्रेष्ठ भोगसुख, मनुष्य तभी भोग सकता है, जब ये चार बातें होती हैं। यदि ये चार बातें नहीं होती हैं, तो सुख के साधन पास होते हुए भी मनुष्य भोगसुख नहीं पा सकता है।

१. शरीर अशक्त और रोगी होने पर, मनुष्य भोगसुख नहीं पा सकता है ।

२. पत्नी का प्रेम नहीं हो, समर्पण नहीं हो, तो भी मनुष्य भोगसुख नहीं पा सकता है ।

३. पत्नी का घर में दूसरों के साथ प्रेम और मैत्री नहीं हो; मनमुटाव, झगड़े, क्लेश चलता रहता हो; तो भी मनुष्य श्रेष्ठ भोगसुख नहीं पा सकता है ।

४. पुरुष और स्त्री के मन में व्याकुलता हो, व्यग्रता हो, चिंताएँ हो, तो भी मनुष्य भोगसुख नहीं पा सकता है ।

श्रीपाल का उत्कृष्ट भोगसुख, उसकी पूर्वजन्म की उत्कृष्ट धर्मआराधना के फलस्वरूप था ।

## श्रीपाल की उत्कृष्ट यशःकीर्ति :

जिस प्रकार श्रीपाल का भाग्योदय उत्कृष्ट था, उसके भोगसुख उत्कृष्ट थे, वैसे उसका यश भी अकलंक और उत्कृष्ट था । उज्जयिनी में शादी के बाद जब वह कुष्ठरोग से मुक्त हुआ था और श्री सिद्धचक्र की आराधना उसके जीवन में अभिन्न हो गई थी, तभी से उसका यश फैलने लगा था । विदेशयात्रा में जहाँ–जहाँ भी श्रीपाल गया, वहाँ उसको यश मिला, उसकी कीर्ति फैली । उसके मुख्य कारण ये थे –

१. वह पराक्रमी था, युद्ध में सर्वत्र वह विजयी रहा ।

२. उसके पास कलाएँ थी, कलाओं में वह पारंगत था ।

३. वह परोपकारी था, शत्रु के ऊपर भी उसने उपकार किये थे ।

ये तीन बातें जिस पुरुष में होती हैं, वह यशस्वी बनता ही है । उसकी कीर्ति चारों ओर फैलती है ।

## श्रीपाल का उत्कृष्ट परोपकार :

श्रीपाल ने अपने उपकारी के प्रति तो प्रत्युपकार किया था, इतना ही नहीं, जिन्होंने श्रीपाल के साथ शत्रुतापूर्ण व्यवहार किया था, दुर्व्यवहार किया था, उनके ऊपर भी श्रीपाल ने उपकार किये थे । आज तो मैं यहाँ केवल दो प्रसंग ही बताता हूँ ।

श्री सिद्धचक्र की आराधना से जब श्रीपाल का कुष्ठरोग मिट गया था, तब श्रीपाल ने मयणासुंदरी को कहा था : 'देवी, जिस सिद्धचक्र के स्नात्रजल से मेरा कुष्ठरोग मिट गया, क्या उस स्नात्रजल से, मेरी प्राणरक्षा करनेवाले, मेरे उपकारी

ऐसे ७०० कुष्ठरोगी, जो नगर के बाहर रहे हुए हैं, उनका कुष्ठरोग नहीं मिट सकता ? यदि उनका कुष्ठरोग मिट जायं, तो मुझे बहुत आनंद होगा।' मयणा, श्रीपाल की यह बात सुनकर हर्ष से गद्‌गद् हो गई और दोनों ने उन ७०० कुष्ठरोगियों के ऊपर स्नात्रजल छिड़क कर, उनका कुष्ठरोग भी मिटा दिया।

यह तो प्रत्युपकार था। कृतज्ञता थी। परंतु जिस धवल शेठ के साथ श्रीपाल ने विदेशयात्रा की थी, उस धवल शेठ ने श्रीपाल के साथ कितना शत्रुतापूर्ण दुष्ट व्यवहार किया था ? उसके ऊपर भी श्रीपाल ने एक बार ही नहीं, अनेक बार उपकार किया था ! अपकारी के ऊपर उपकार करना – उत्कृष्ट परोपकार कहा जाता है।

धवल शेठ ने, श्रीपाल की संपत्ति और पत्नियों को छीन लेने के लिए श्रीपाल को समुद्र में धक्का दे दिया था! हालाँकि सिद्धचक्र के प्रभाव से और 'जलतारिणी' औषधि के प्रभाव से श्रीपाल बचकर समुद्र के किनारे पहुँच गया था। धवल शेठ न तो श्रीपाल की संपत्ति पा सका था, न पत्नियों को छू सका था ! बाद में, श्रीपाल ने ही धवल को राजदंड से बचाया था! अनेक बार धवल की प्राणरक्षा की थी। इस प्रकार अनेक परोपकारों से श्रीपाल ने अपने जीवन को धन्य बनाया था।

## श्रेष्ठ दान : श्रेष्ठ उदारता :

चार विशेषताओं के माध्यम से श्रीपाल की प्रमोदपात्रता बताने के बाद, अब श्रेष्ठ दान देनेवाले उदारचरित्र दो महानुभावों को आज याद करेंगे ! एक हैं भामाशाह और दूसरे हैं जगडूशाह।

जिस समय मेवाड़ का महाराणा प्रताप, देश की स्वतंत्रता के लिए, मुगल बादशाह के सामने लड़ते–लड़ते हार गया था और बीहड़ जंगल में आश्रय लिया था, उस समय भामाशाह महाराणा के पास गये थे। निराश–हताश बने हुए महाराणा को पुनः युद्ध कर, मेवाड़ को स्वतंत्र कराने की प्रार्थना की थी। 'मेरी सारी संपत्ति मैं आपके चरणों में समर्पित करता हूँ। आप सैन्य तैयार करें और शस्त्र, अश्व वगैरह प्राप्त करें।' राणा प्रताप उत्साहित हुए, प्रेम से वे भामाशाह को भेंटे। बाद में हजारों सैनिक तैयार किये, विशाल सेना के साथ मुगल राजा से टकराये थे। भामाशाह की यह उदारता, सामान्य नहीं थी! निःस्वार्थ भाव का श्रेष्ठ समर्पण था।

वैसे ही कच्छप्रदेश के शाह सौदागर जगडूशाह ने जब देश में दुष्काल पड़ा था तब संग्रहित अनेक धान्यभंडारों में से अविरत दान का प्रवाह बहाया था। दिल्ली के बादशाह को भी जितना चाहिए उतना धान्य दिया था। देश की प्रजा के प्रति उत्कृष्ट करुणा से प्रेरित होकर उन्होंने जो दान दिया था, वह ऐतिहासिक भव्य घटना बन गई थी! उनके जीवन की अनेक घटनाएँ प्रमोद-पात्र हैं, स्तवना-योग्य हैं, अनुमोदना करने योग्य हैं।

ऐसे महापुरुषों के जीवनचरित्र पढ़ने चाहिए। इससे प्रमोदभावना वृद्धि पाती है और ऐसे चरित्रों में से अच्छी प्रेरणाएँ प्राप्त होती हैं।

## निर्विकारी दंपती – विजय और विजया :

जिस प्रकार दानवीर उदार महापुरुषों की स्तुति करनी चाहिए वैसे जो स्त्री-पुरुष संसार में रहते हुए भी निर्विकारी रहे, उन महामानवों को याद कर, उनकी स्तवना करनी चाहिए। आज वैसे पति-पत्नी विजय शेठ और विजया शेठानी को याद करते हैं। कई हजारों वर्ष पूर्व यह दंपती कच्छ देश में हो गये।

शादी के पूर्व विजय ने एक पक्ष का ब्रह्मचर्य-व्रत ले लिया था, विजया ने दूसरे पक्ष का ब्रह्मचर्य-व्रत ले लिया था। शादी के बाद दोनों को मालुम हुआ। विजया ने उदारता से विजय को कहा : 'मैंने जो व्रत लिया है उसका पालन तो मुझे करना ही है, परंतु आपके भोगसुख में मैं अंतराय करना नहीं चाहती। आप दूसरी शादी कर लें। मैं जीवनपर्यंत आपकी सेवा करती रहूँगी।' विजय शेठ ने कहा : 'यदि तूँ संपूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर सकती है तो मैं भी संपूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा। मैं दूसरी शादी नहीं करूँगा। अपन दोनों ब्रह्मचर्य का पालन करेंगे, परंतु मेरे माता-पिता को मालूम नहीं होना चाहिए! इसलिए अपन शयन एक ही शय्या में करेंगे। जब माता-पिता को अपने व्रत की बात मालुम होगी तब अपन दोनों संसार त्याग कर, दीक्षा ले लेंगे। साधु-साध्वी बन जायेंगे!'

एक ही शय्या में शयन करने पर भी विजय और विजया निर्विकारी रहे! मन में भी विषयवासना पैदा नहीं हुई! कुछ वर्षों के बाद, 'विमल' नाम के केवलज्ञानी के बताने पर एक श्रावक भक्ति करने जब विजय-विजया को खोजता हुआ, उनके पास पहुँचा, तब बात जाहिर हो गई। प्रतिज्ञा के अनुसार विजय-विजया ने चारित्रधर्म स्वीकार लिया और आत्मकल्याण कर लिया।

## श्रेष्ठ औचित्यपालक श्रीराम :

जिस प्रकार निर्विकारी विजय शेठ और विजया शेठानी को याद कर उनका गुणोत्कीर्तन किया, वैसे औचित्यपालन करने में श्रेष्ठ विभूति श्री रामचन्द्रजी को याद करते हैं ।

जब कैकयी ने महाराजा दशरथ से वरदान के रूप में भरत के लिए राज्य मांग लिया और दशरथ ने भरत को राज्य देने की स्वीकृति दे दी, तब भरत ने राज्य लेने से इन्कार कर दिया था ! दशरथ के और श्रीराम के समझाने पर भी भरत राज्य लेने को, राजसिंहासन पर बैठने को तैयार नहीं हुआ ।

महाराजा दशरथ को संसार त्यागकर, चारित्रधर्म का स्वीकार करना था । भरत का राज्याभिषेक किये बिना वे साधु बन नहीं सकते थे । भरत का एक ही आग्रह था – 'पिताजी, मैं भी आपके साथ ही संसार त्यागकर चारित्रधर्म अंगीकार करूँगा !' जटिल समस्या पैदा हो गई थी ।

उस समय श्रीराम ने अपना उचित कर्तव्य सोचा : 'जब तक मैं अयोध्या में रहूँगा, तब तक भरत राज्य का स्वीकार नहीं करेगा । जब तक भरत का राज्याभिषेक नहीं होगा, पिताजी दीक्षा नहीं ले पायेंगे । उनकी आत्मा दुःख पायेगी । इसलिए मैं ही वन में चला जाऊँ ! मेरे नहीं रहने पर भरत को राज्य संभालना ही पड़ेगा !'

श्रीराम ने अयोध्या का त्याग किया । उनके पीछे सीताजी ने चल दिया । बाद में लक्ष्मणजी भी श्रीराम के साथ चले गये । भरत का राज्याभिषेक हुआ, महाराजा दशरथ ने दीक्षा ले ली ।

उचित कर्तव्य का पालन करना, एक श्रेष्ठ कोटि का गुण है । श्रीराम–लक्ष्मण और सीताजी को इस गुण के माध्यम से याद कर, उनके प्रति प्रमोदभाव व्यक्त किया !

## सहनशीलता और चंदनबालाजी :

उचित कर्तव्यों का पालन जैसा ही एक महत्त्वपूर्ण गुण है सहनशीलता ! 'कर्मनिर्जरा' की दृष्टि से यह गुण श्रेष्ठ है । जिसमें यह श्रेष्ठ गुण था ऐसी एक सन्नारी–महासती को आज याद करके उनके प्रति प्रमोदभाव व्यक्त करते हैं ।

भगवान महावीर स्वामी के समय की यह बात है । चंपापति राजा दधिवाहन की पुत्री थी वसुमति ! राजा शतानिक ने चंपा में लूट चलायी । राजा दधिवाहन

भाग गया। राणी धारिणी और राजकुमारी वसुमती का अपहरण हुआ। अपहरण करनेवाले सुभट ने कहा : 'इस रानी को मैं मेरी पत्नी बनाऊँगा और इस लड़की को कौशाम्बी के बाजार में बेच दूँगा !' यह सुनकर धारिणी ने आत्महत्या कर ली ! सुभट ने वसुमती को कौशाम्बी के बाजार में बेच दी। श्रेष्ठि धनावह ने करुणा से वसुमती को खरीद ली। शेठ उसको अपने घर ले आये। अपनी पत्नी मूला को कहा : 'इसको पुत्रीवत् रखना है !' वसुमती के चंदन जैसे शीतल वचन और शील से प्रसन्न होकर शेठ ने वसुमती का नाम 'चंदना' रखा। जब चंदना यौवन में आयी, मूला सेठानी शंकाशील बनी। शायद यह मेरी शोक्य बन जायेगी।' शेठ बाहरगाँव गये तब सेठानी ने, नाई को बुलाकर चंदना के बाल कटवा दिये, बाद में उसके हाथों में व पाँव में बेड़ी डाल दी। बाद में उसका बहुत ताड़न किया और एक कमरे में बंद कर दी ! तीन दिन – तीन रात तक वह कमरे में बंद रही ! बाद में सेठ ने उसको बाहर निकाली ! खाने को बाकुलें देकर वे बेड़ियाँ तोड़ने लुहार को बुलाने गये। उधर स्वयं भगवान महावीर भिक्षा लेने चंदना के पास गये। चंदना ने बाकुलें दिये। देवों ने उसकी बेड़ियाँ तोड़ दी। सर पर सुनहरे बाल आ गये। चंदना हर्षित हुई।

बाद में, यही चंदना भगवान महावीर स्वामी की प्रथम शिष्या साध्वी बनी थी। एक राजकुमारी ने कितने कष्ट सहे थे ?

## श्रेष्ठ शीलवान् श्रावक सुदर्शन :

जिस प्रकार सहनशीलता एक श्रेष्ठ गुण है, वैसे 'शील' भी तीनों भुवन में प्रशंसनीय श्रेष्ठ गुण है। सभी व्रतों में शीलव्रत श्रेष्ठ व्रत बताया गया है।

शीलव्रत के विषय में 'सेठ सुदर्शन' धर्मशास्त्र में प्रसिद्ध महापुरुष हैं। उनकी धर्मपत्नी 'मनोरमा' महासती के रूप में प्रशंसित है।

सेठ सुदर्शन जब निर्जन गृह में कायोत्सर्ग–ध्यान में रहे हुए थे, राजा की रानी अभया ने उनका अपहरण करवाया था और अपने महल में लाकर, उससे भोग–प्रार्थना की थी। सुदर्शन ने रानी की भोग–प्रार्थना को ठुकरा दी थी। रानी ने हल्ला मचा कर, सुदर्शन को सैनिको को सौंप दिया था। उसके ऊपर शील लूटने का आरोप मढ़ दिया था। राजा को सुदर्शन की सत्यवादिता पर विश्वास था। परंतु रानी के प्रति दयाभाव लाकर सुदर्शन मौन रहे। राजा ने सुदर्शन को सजा दे दी शूली पर चढ़ा कर मार देने की।

सुदर्शन निर्भय और निश्चल रहे। सेठानी मनोरमा ने सागारिक अनशन कर परमात्मा के सामने कायोत्सर्ग–ध्यान शुरू कर दिया। 'मेरे पति निर्दोष हैं। निर्दोष सिद्ध होकर घर आने ही चाहिए! तभी मैं ध्यान पूर्ण करूँगी।'

देवों ने शूली का सिंहासन बना दिया! सुदर्शन को सिंहासन पर आरूढ़ कर दिये। भेद खुल गया। राजा रानी को कड़ी शिक्षा–सजा करने को तत्पर हुआ। सुदर्शन ने रानी को बचा ली! घर पर गये। मनोरमा ने ध्यान पूर्ण किया। सुदर्शन का स्वागत किया।

गृहस्थ जीवन में रहते हुए सुदर्शन और मनोरमा ने कितने उत्कृष्ट रूप से शीलव्रत का पालन किया था! जितनी प्रशंसा–स्तवना करें, उतना कम है!

## विशिष्ट ज्ञानी महापुरुष :

अब कुछ विशिष्ट कोटि के ज्ञानी–ध्यानी–योगी महापुरुषों का स्मरण कर, उनकी स्तवना कर, प्रवचन पूर्ण करूँगा।

सर्वप्रथम ग्रंथकार आचार्यदेव हरिभद्रसूरिजी को ही याद करें। उन्होंने १४४४ धर्मग्रंथों की रचना कर, जिनशासन में अपना नाम अमर कर दिया है।

उनकी पहली विशेषता थी प्रतिज्ञापालन की। प्रतिज्ञापालन की दृढ़ता पर तो वे पुरोहित से साधु बने थे!

दूसरी विशेषता थी, उपकारी के उपकार को जीवनपर्यंत नहीं भूलने की। साध्वी याकिनी महत्तरा का उपकार, वे जीवनपर्यंत नहीं भूले थे। अपनी 'धर्ममाता' के रूप में वे सदैव उनको याद करते रहे थे।

और तीसरी विशेषता है उनके धर्मग्रंथों की! धर्म, योग, अध्यात्म, दर्शन..... इत्यादि के विषय में उनके ग्रंथ विश्व के मूर्धन्य विद्वानों ने मान्य किये हैं। ऐसे महान् श्रुतधर आचार्यदेव के प्रति अपना प्रमोदभाव व्यक्त करते हैं।

दूसरे हैं कलिकाल सर्वज्ञ आचार्यदेवश्री हेमचन्द्रसूरिजी। बाल्य–अवस्था में दीक्षा लेकर उन्होंने अपूर्व ज्ञानोपासना की थी। ज्ञानसाधना, योगसाधना और शासनप्रभावना – उनके जीवन की प्रमुख ये तीन विशेषताएँ थी।

– उन्होंने अपने जीवनकाल में ३ कोटि और ५० लाख संस्कृत–प्राकृत श्लोकों की रचना की थी।

– योगसाधना के माध्यम से जिनशासन की भव्य उन्नति की थी। योग से उन्होंने अनेक चमत्कार किये थे।

– राजा कुमारपाल को प्रतिबोधित कर, जिनशासन का महान् प्रभावक बनाया था। अहिंसाधर्म का गुजरात के विशाल राज्य में प्रसार किया था। किसी भी साधर्मिक को दुःखी नहीं रहने दिया था।

तीसरे महापुरुष हो गये उपाध्यायश्री यशोविजयजी ! वे भी छोटी उम्र में ही साधु बने थे। काशी में रहकर उन्होंने षड्दर्शन का गहरा अध्ययन किया था। न्यायदर्शन के विषय में उन्होंने १०८ ग्रंथों की रचना की थी। काशी के ब्राह्मण – विद्वानों ने मिलकर यशोविजयजी को 'न्यायविशारद' और 'न्यायाचार्य' की पदवी दी थी। उन्होंने धर्म, योग और अध्यात्म के अनेक ग्रंथों की रचनाएँ की थी।

उनके ही समकालीन थे महान् योगी आनंदघनजी। उनकी अनुपम रचना 'आनन्दघन चौबीसी' आज उपलब्ध हैं। उनके रचे हुए गूढ, गंभीर और भावपूर्ण अनेक काव्य–पद भी आज मिलते हैं।

वैसे ही, उनके दूसरे समकालीन थे उपाध्यायश्री विनयविजयजी ! जिन्होंने 'शान्तसुधारस', 'लोकप्रकाश' जैसे श्रेष्ठ ग्रंथों की रचना की थी !

ऐसे विशिष्ट ज्ञानी–ध्यानी महापुरुषों को स्मृतिपथ में लाकर उनकी स्तवना की, अनुमोदना की और परम आनंद प्राप्त किया।

**जीवन का सार तत्त्व :**

'शान्तसुधारस' में कहा गया है –

**'इति परगुणपरिभावनसारं, सफलय सततं निजमवतारम्।'**

इस प्रकार दूसरों के गुणों का स्मरण–संकीर्तन कर, उसी में आनंदित होना और उन्ही गुणों का चिंतन करना जीवन की सफलता है। इसी में शान्ति की अनुभूति करना है।

इस प्रकार प्रमोदभावना का विवेचन पूर्ण करता हूँ।

आज बस, इतना ही।

★ ★ ★

# प्रवचन : ८८

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में अंतिम सूत्र लिखा है :

'सत्त्वादिषु मैत्र्यादियोगः ।'

सभी जीवों के प्रति मैत्रीभावना, गुणवानों के प्रति प्रमोदभावना, दुःखी जीवों के प्रति करुणाभावना और अविनीतों के प्रति उपेक्षाभावना का चिंतन करना चाहिए ।

मैत्रीभावना और प्रमोदभावना के ऊपर विवेचन करने के बाद, आज करुणाभावना के विषय में विवेचन करना है । सर्वप्रथम 'करुणा' की परिभाषा समझना है । ग्रंथकार ने कहा है– 'परदुःखविनाशिनी करुणा ।' करुणा का अर्थ है दूसरों के दुःखों का नाश करना । दूसरे शब्दों में यही बात उपाध्याय श्री विनयविजयजी ने 'शान्तसुधारस' में कही है – 'कारुण्यमार्ताङ्गिरूजां जिहीर्षा ।' दुःखी जीवों के दुःख दूर करने की भावना – करुणा है ।

## संसार के जीवों के विविध दुःख :

करुणाभावना का विषय है दुःखी जीव । इसलिए सर्वप्रथम संसार के जीवों के दुःखों को समझ लेने चाहिए । जीवों के दुःखों का बोध होने पर उनके प्रति करुणाभावना भाने की है – 'इन जीवों के दुःख दूर हों, नष्ट हों ।' – संसार में जीवों को पहला और बड़ा दुःख होता है खाने–पीने का । ज्यादातर जीवों को भोजन मिलता नहीं है, मिलता है तो पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलता है ।

– नरक के जीवों को भोजन मिलता ही नहीं है ।

– तिर्यंचगति में जीवों को पर्याप्त मात्रा में भोजन नहीं मिलता, मिलता है तो पराधीन स्थिति में मिलता है । जैसा चाहिए वैसा भोजन नहीं मिलता ।

– मनुष्य सृष्टि में भी ज्यादातर लोगों को जितना और जैसा चाहिए वैसा भोजन नहीं मिलता है । वर्तमान में आप वर्तमान–पत्र में पढ़ते हो कि 'इथोपिया' वगैरह देशों में कैसी भूखमरी फैली है ? हजारों लोग भोजन के बिना मर रहे हैं । भूखा जीव करुणा–पात्र है । भूखे को भोजन देना करुणा है । प्यासे को पानी देना करुणा है । 'प्यास' भी जीवों का एक बड़ा दुःख है ।

मनुष्य का दूसरा दुःख है वस्त्र का ! विश्व में एक–दो करोड़ लोग तो निर्वस्त्र

होंगे । इससे ज्यादा लोगों के पास शरीर ढँकने के लिए पर्याप्त वस्त्र नहीं होंगे । जिन लोगों के पास पर्याप्त वस्त्र होने पर भी मनपसंद वस्त्र नहीं होते हैं । ये सभी दुःखी होते हैं । ये सभी लोग करुणापात्र होते हैं । निर्वस्त्र और अल्प वस्त्रवाले मनुष्यों को वस्त्र–दान देना करुणा है । फिर भी जो लोग वस्त्र के विषय में विशेष चिंतित रहते हैं उनके लिए मात्र करुणाभावना ही भाने की है ।

मनुष्य का तीसरा बड़ा दुःख होता है घर का । जिनके पास घर नहीं होता है, अपना भी नहीं होता, किराये का भी नहीं होता और जो आकाश के तले रहते हैं, वृक्षों के नीचे रहते हैं, घास की झोंपड़ी में रहते हैं, उनके मन में बड़ी चिंता होती है, वे बहुत दुःखी होते हैं । ये लोग करुणापात्र होते हैं । बेघर लोगों को घर देना, आश्रय देना करुणा है ।

कुछ लोगों के पास घर होता है, परंतु जैसा चाहिए वैसा नहीं होता है – वे लोग भी दुःखी होते हैं । मकान की चिंता सदैव उनको सताती है । छोटे मकानवाले बड़े घर की इच्छा से दुःखी होते हैं । कुछ लोग सुंदर घर पाने की इच्छा से दुःखी होते हैं । कुछ लोग अनेक घर पाने की इच्छा से दुःखी होते हैं ! ये सभी लोग करुणाभावना के पात्र हैं । करुणा तो उन लोगों पर करने की है कि जिनके पास घर है ही नहीं ! आपकी शक्ति हो तो उसको घर देना चाहिए !

मनुष्य की ये तीन मूलभूत आवश्यकताएँ होती हैं – रोटी, कपड़ा और मकान ! जिस मनुष्य के पास ये तीन बातें नहीं होती हैं, वह दुःखी होता है, वह करुणापात्र होता है ।

– जिसके पास ये तीनों आवश्यकताएँ पूर्णरूपेण होती हैं वह सोना, रजत, रत्न, मणि इत्यादि के अलंकारों की स्पृहा करता है और स्पृहा से व्यग्र रहता है । ऐसे लोगों के प्रति केवल दया का चिंतन करना होता है । 'ये लोग ऐसी व्यर्थ स्पृहा से मुक्त हो, उनकी व्यग्रता दूर हो !'

– कुछ लोग शादी–संबंध के विषय में अशान्त रहते हैं । पहले माता–पिता संतानों की शादी के विषय में चिंता करते थे । लड़के के लिए योग्य कन्या खोजते थे, लड़की के लिए सुयोग्य लड़का खोजते थे । जब योग्य समय में लड़के–लड़कियों के विवाह नहीं होते हैं, माता–पिता अति व्यथित रहते हैं । आज–कल ज्यादातर लड़के–लड़कियाँ स्वयं शादी कर लेते हैं । वे लोग शादी के बाद दुःखी होते हैं ।

– कुछ लोग इसलिए दुःखी होते हैं, उनके पास शादी करने के लिए पैसे नहीं होते हैं ! वे दूसरों से कर्ज लेते हैं । ये लोग भी दुःखी होते हैं ।

– शादी के बाद आपस के संबंध बढ़ जाते हैं । उन संबंधों को निभाने की भी चिंता होती है ! कुछ देना होता है, कुछ लेना होता है ! लेन–देन में मनोदुःख पैदा होते हैं । यह भी संसार का बड़ा दुःख होता है ।

– शादी के बाद संतानप्राप्ति की स्पृहा होती है । यदि संतानप्राप्ति नहीं होती है, तो दुःख, जो संतान चाहिए – लड़का या लड़की, वह नहीं मिलता है तो भी दुःख ! जैसी औलाद चाहिए वैसी – काली, गोरी नहीं मिलती है तो भी दुःख ! औलाद अंध, अपंग, बेडौल पैदा होती है, तो भी दुःख ! बच्चे बड़े होकर अविनीत, उद्धत बन जाते हैं तो भी दुःख ! छोटी उम्र में संतान की मौत हो जाती है तो भी दुःख । इस प्रकार के दुःखी जीवों के प्रति भावकरुणा ही चाहिए ! 'ये लोग शान्ति पायें, स्वस्थ रहें,' ऐसी कामना करने की होती है !

जिन लोगों को अनुकूल भोगसुख नहीं मिलता है, वे भी दुःखी होते हैं । कुछ उदाहरण बताता हूँ –

– घर में मेवा–मीठाई होते हुए भी, 'डायाबिटिज' जैसा रोग होने पर खा नहीं सकते हैं, इसलिए दुःखी होते हैं !

– सुंदर पत्नी होने पर भी, टी.बी. जैसे रोग होने पर स्त्री से दूर रहना पड़ता है, इसलिए दुःखी होते हैं ।

– पहनने के लिए मूल्यवान वस्त्र होने पर भी, 'एलर्जी' जैसा रोग होने पर पहन नहीं सकता है, इसलिए दुःखी होता है ।

– बहुत धन–दौलत होने पर भी, सरकार का भय होने पर मनुष्य चिंताओं से घिरा रहता है, धन का भोग नहीं कर सकता है । भय भोगसुख का अनुभव नहीं होने देता है । इसलिए दुःखी होता है ।

ऐसे लोगों के मन अति व्यग्र और व्यथित रहते हैं । ये लोग मानसिक रूप से दुःखी होते हैं । इनके प्रति भी भावकरुणा की भावना रखने की है ।

## भय–रोग–शत्रु–वृद्धावस्था–मृत्यु :

जब तक जीव संसार में हैं तब तक विविध प्रकार के दुःखों से वे आक्रान्त बने रहते हैं । कभी ज्यादा दुःख होते हैं तो कभी कम दुःख होते हैं । मनुष्य के पास कितनी भी संपत्ति हो, कैसा भी परिवार हो, कैसा भी सुंदर शरीर हो; परंतु

भय, रोग, शत्रु, वृद्धावस्था और मृत्यु – ये पाँच तत्त्व उसको दुःखी बनाये रखते हैं । दुनिया के भिन्न–भिन्न प्रकार के लोगों के मुँह से सुनते हैं –

१. पैसे हैं, अच्छा परिवार है, सब कुछ अच्छा है, परंतु मन में ऐसा भय बैठ गया है कि रातभर नींद नहीं आती है । 'डाकू आकर मार डालेंगे तो ?, कोई भोजन में जहर दे देगा तो ?, व्यापार में भाई धोखा देगा तो ?, केन्सर का रोग हो जायेगा तो ?' इस प्रकार के अनेक भय होते हैं । जो मनुष्य 'भयसंज्ञा' से ग्रसित होता है, वह सुख के अनेक साधनों के बीच भी दुःखी होता है । ऐसे लोग करुणापात्र होते हैं । 'इन लोगों का भय दूर हो, वे निर्भय, निराकुल बने रहो, वे सुखी हो .....' ऐसी भावना करते रहो ।

२. "पैसे हैं, अच्छा परिवार है, बंगला है, कार है; परंतु क्या करें..... पाँच साल से पेट में 'अल्सर' का रोग है, कानों से कम सुनायी देता है, बार–बार बुखार आ जाता है ।" यह है रोग का दुःख ! इसमें भी 'केन्सर' जैसे असाध्य रोग से जो मनुष्य ग्रस्त हो जाता है, वह सुख होते हुए भी भोग नहीं सकता है । वह दुःख का ही अनुभव करता रहता है । ऐसे रोगग्रस्त जीवों के लिए भी करुणाभावना भाने की है – 'इन जीवों को आरोग्य की प्राप्ति हो, ये जीव रोगमुक्त हो, निरामय हो ।'

३. कुछ लोग इसलिए दुःखी होते हैं कि उनके बहुत शत्रु होते हैं । घर में भी शत्रु होते हैं, बाहर भी शत्रु होते हैं । हाँ, कभी स्वजन भी शत्रुतापूर्ण व्यवहार करते हैं ! ऐसा एक भी स्वजन घर में होता है तो जीवन दुःखपूर्ण बन जाता है ।

– मेरी पत्नी ही मेरी शत्रु है ।

– मेरा पुत्र ही मेरा शत्रु बना है ।

– मेरी माँ ही मेरी शत्रु है ।

– मेरा भाई ही मेरा शत्रु है ।

ऐसा कहनेवाले लोग मुझे मिले हैं । 'ऐसा क्यों होता है ?' यह प्रश्न मत पूछो । मनुष्य के पापकर्म तो कारण है ही, परंतु ऐसी शिकायत करनेवाले भी प्रायः किसी के शत्रु होते हैं ! यानी वे भी किसी के साथ शत्रुतापूर्ण व्यवहार करते होते हैं ।

बाहर भी शत्रु होते हैं, तो मनुष्य दुःखी रहता है । किसी से संबंध बिगड़ते हैं तो वह शत्रु बन जाता है । पैसे वगैरह की लेन–देन में भी शत्रुता पैदा हो

जाती है। संसार में इस प्रकार की शत्रुता बनती रहती है। कुछ लोग ईर्ष्यावश शत्रु होते हैं। परंतु कुछ भी हो, शत्रुता मनुष्य को सुख से जीने देती नहीं है।

एक भाई ने मुझे बताया था कि वह उसकी पत्नी को शत्रु मानता था। वह अपने कमरे में अकेला सोता था। कमरा भीतर से बंद रखता था। कभी-कभी नींद में वह चिल्लाता था – 'मुझे मार डाला, मेरी औरत ने मुझे मार डाला।' उसने मुझसे पूछा था : 'क्या करूँ मैं ?' मैंने कहा था : 'घर छोड़ दे, संसार छोड़कर साधु बन जा ! निर्भय बन जायेगा ! कोई शत्रु नहीं रहेगा !'

**सभा में से :** 'क्या उसने दीक्षा ली ?'

**महाराजश्री :** दीक्षा लेना इतना सरल नहीं है ! संसार में विविध दुःख भोगना आपको कबूल हैं, परंतु दीक्षा लेना मंजूर नहीं ! सही बात है न ? इसलिए आप लोगों के विषय में भावकरुणा की ही भावना भाने की है !

४. वृद्धावस्था का भी बड़ा दुःख होता है संसार में ! शरीर और पाँच इन्द्रियाँ कमजोर हो जाती हैं, अपना काम स्वयं नहीं कर सकते हैं, तब जीवन पराधीन बन जाता है, पराश्रित बन जाता है। पराधीनता बहुत बड़ा दुःख होता है। जिन स्वजनों को वर्षों तक सुख दिया होता है, उन स्वजनों की ओर से घृणा, अपमान, तिरस्कार मिलता है तब कितना दुःख होता है, यह जानना हो तो वैसे वृद्ध पुरुष को एकांत में पूछना। मैंने तो पूछा है। आँखों में आँसु भरकर उन्होंने अपने दुःख बताये हैं।

एक श्रीमंत वृद्ध ने कहा था : मैंने शून्य में से सर्जन किया था। छोटे गाँव से मैं शहर में आया था। नौकरी की थी, बाद में छोटा धंधा किया..... भाग्य ने सहारा दिया। बिजनेस बढ़ता गया। लाखों रुपये कमाये। बड़ा बंगला लिया। शादी की। परिवार बढ़ा। चार लड़के हुए। उनको पढ़ाये, बड़े किये। घर में दो-दो कार ले ली। लड़कों की शादी की। सबको सभी प्रकार के सुख के साधन दिये..... । लड़के धंधा संभालने लगे। एक दिन मैं बीमार पड़ा। शरीर अशक्त हो गया। अस्पताल में कुछ दिन रहा। घर आया। परंतु बाद में मैं कभी दुकान-आफिस नहीं जा सका। एक-दो वर्ष तो परिवार ने मेरी अच्छी सेवा की। मेरी पत्नी की मृत्यु हो गई। मैं मन से बहुत निराश हो गया। धीरे-धीरे घर में मेरी उपेक्षा होने लगी।

एक दिन मैंने ही लड़कों को कह दिया : 'मुझे अब इस घर में नहीं रहना है, मैं कोई अच्छे वृद्धाश्रम में रहूँगा।' सभी ने संमति दे दी। मैं वृद्धाश्रम में

आ गया। यहाँ मुझे शान्ति है, परंतु शारीरिक पराधीनता दुःख देती ही है। यहाँ नौकरों की पराधीनता है !

वृद्धावस्था में जब स्त्री–पुरुषों की अपने ही स्वजनों के द्वारा उपेक्षा होती है, तिरस्कार होता है, कष्ट दिया जाता है, तब वृद्धों को बहुत दुःख होता है। ऐसे लोगों के लिए भी भावकरुणा करने की होती हैं। 'वृद्धजनों को शान्ति–समाधि और स्वस्थता प्राप्त हो !'

५. संसार का पाँचवा दुःख है मृत्यु। मृत्यु आने से पूर्व मृत्यु का भय ही मनुष्य को दुःखी कर डालता है। इस दुनिया में मृत्यु से बचानेवाला कोई नहीं है। मृत्यु के सामने मनुष्य अशरण है। शरण खोजने का प्रयत्न करता है, अनेक प्रकार के प्रयत्न करता है, परंतु मृत्यु से वह बच नहीं पाता है।

मृत्यु से बचने के लिए कोई

* मंत्रसाधना करते हैं।
* विद्या–प्रयोग करते हैं।
* औषधसेवन करते हैं।
* रसायनों का सेवन करते हैं।

फिर भी वे मृत्यु से बच नहीं पाते हैं।

* भले दीर्घ समय तक प्राणायाम कर श्वासनिरोध करें।
* भले समुद्र से उस पार जाकर रहें।
* भले ही कोई पहाड़ के शिखर पर पहुँच जायं।

परंतु एक दिन यह देह यमराज को स्वाधीन होने का ही है। इस संसार की नियति है मृत्यु ! फिर भी जीने की स्पृहा, मृत्यु से जीव को भयभीत करती है। सबसे बड़ा दुःख है मृत्यु। इस दुःख से आक्रान्त जीवों के लिए 'भावकरुणा' ही चाहिए। 'संसार के सभी जीव मृत्युंजयी बनो, अजर–अमर पद प्राप्त करो।'

## क्रोध–ईर्ष्या–लड़ाई–युद्ध :

दुःख केवल शारीरिक ही नहीं होते हैं, मानसिक दुःख ज्यादा होते हैं। मन से सबसे ज्यादा दुःखी क्रोधी मनुष्य होता है ! क्रोधी मनुष्य स्वयं मानो या मत मानो, वह मानसिक रूप से महादुःखी होता है। संसार में क्रोध होने के निमित्त तो असंख्य मिलते रहते हैं। निमित्तों को पाकर मनुष्य क्रोध करता रहता है। क्रोध से दुःखी बना रहता है। सुख के अनेक साधन पास में होते हुए भी क्रोधी मनुष्य दुःख ही अनुभव करता रहता है।

वैसे, जिन लोगों के मन में ईर्ष्या होती है, दूसरों के सुख...वैभव...संपत्ति...यश... वगैरह देखकर मन में जलते रहते हैं, वे भी दुःखी होते हैं। ईर्ष्याग्रस्त मनुष्य के पास कितने भी सुख के साधन होंगे, परंतु वह सुखभोग नहीं कर सकता है, वह तो दूसरों के सुखों को देखकर दुःखी होता रहता है। ऐसे क्रोधी, ईर्ष्याग्रस्त लोगों को उपदेश देकर सुधारना भी सरल नहीं होता है। वैसे तो क्रोधी मनुष्य जब क्रोध की आग में जलता होता है, उस समय उसको उपदेश देना ही नहीं चाहिए। क्रोधी मनुष्य उपदेश से सुधरता नहीं है। ईर्ष्या का जिसका स्वभाव होता है, वह भी प्रायः ईर्ष्या करना छोड़ता नहीं है। ऐसे लोगों के लिए भी 'भावकरुणा' ही करना है। वैसे तो ऐसे लोगों के प्रति नफरत पैदा होती है, परंतु अपन को नफरत नहीं करना है, तिरस्कार नहीं करना है, ये लोग करुणापात्र होते हैं।

संसार में सर्वत्र छोटे–बड़े झगड़े चलते रहते हैं। लोगों को झगड़ते देखकर कभी मन में विचार आता है कि झगड़ना क्या मनुष्य का स्वभाव होगा ? झगड़ा किये बिना मनुष्य क्या जी सकता ही नहीं ?

– कोई धन–संपत्ति के लिए झगड़ता है !
– कोई स्त्री के कारण झगड़ता है !
– कोई जमीन–मकान के लिए झगड़ता है !
– कोई धर्म के माध्यम से झगड़ता है !
– कोई मान–अपमान को लेकर झगड़ता है।

कभी–कभी झगड़ा उग्र रूप ले लेता है तब 'युद्ध' शुरू हो जाता है ! विश्व के इतिहास में जितने भी युद्ध पढ़ते हैं, उन युद्धों के मूल में ये ही कारण मालुम होते हैं। युद्ध करनेवाले, युद्धग्रस्त मानसवाले लोग दुःखी होते हैं। छोटे–बड़े झगड़े करनेवाले लोग दुःखी होते हैं। परंतु ऐसे लोगों को कौन सुखी कर सकते हैं ? जो स्वयं खड्डा खोदते हैं और स्वयं उस खड्डे में गिरते हैं, उनको बाहर निकालना मुश्किल होता है। वे तो ज्यादा गहराई में उतरते जाते हैं। कोई भाग्य के उदय से बाहर निकल जायं, तो दूसरी बात है। अन्यथा ऐसे लोग दुःख के महासागर में डूब जाते हैं। ऐसे जीव भी करुणा के पात्र हैं। उनके लिए चिंतन करना कि – 'इन लोगों को सद्‌बुद्धि प्राप्त हो, कोई किसी से झगड़ा नहीं करें, कोई किसी से युद्ध नहीं करें, सभी जीव परस्पर मैत्रीसंबंध से जुड़े हुए रहें, उनकी मैत्री अखंड रहो !'

जो लोग धन–संपत्ति की स्पृहा से देश–परदेश में फिरते हैं, भटकते हैं, वे भी दुःख पाते हैं । इस प्रकार देखा जायं तो संपूर्ण विश्व उद्वेग और आपत्ति से घिरा हुआ दिखाई देता है । क्या करें ? किसके पास जाकर बात करें ? यही बात 'शान्तसुधारस' में कही गई है –

**'किं कुर्मः किं वदामो भृशमरतिशतैर्व्याकुलं विश्वमेतत् ।।'**

इसलिए ऐसे जीवों के प्रति 'करुणाभावना' का ही चिंतन करने का है ।

## नास्तिकवाद का प्रवर्तन :

कुछ लोग प्रत्यक्ष रूप में दुःखी नहीं दिखते हैं, परंतु उनकी कुछ अज्ञानपूर्ण मान्यताएँ और उन मान्यताओं का प्रसारण, उन लोगों को पारलौकिक दुःखों के समुद्र में धक्का देता है । इस दुनिया में जैसे आत्मा, पुण्य, पाप, परलोक, स्वर्ग–नरक और मोक्ष का अस्तित्व माननेवाले लोग हैं; वैसे इन तत्त्वों का इन्कार–निषेध करनेवाले भी लोग हैं । वे कहते हैं :

– आत्मा नहीं है ।
– पुण्य–पाप नहीं है ।
– स्वर्ग–नरक नहीं है ।
– पुनर्जन्म नहीं है ।
– मोक्ष नहीं है !

'नास्ति' 'नास्ति' करनेवाले नास्तिक कहलाये ! ये लोग इन तत्त्वों का निषेध कर दूसरे जीवों को उन्मार्ग पर ले जाते हैं । धर्म से विमुख करते हैं । ऐसे विद्वान्, बुद्धिमान् लोग भगवान महावीर स्वामी के समय में भी थे ! परंतु उनका महान् भाग्योदय था कि वे विद्वान् ब्राह्मण भगवान महावीर स्वामी के परिचय में आये और भगवान ने उनकी नास्तिकता दूर की । वे ११ ब्राह्मण भगवान के शिष्य बन गये, वे ग्यारह गणधर बने ।

वे ११ ब्राह्मण वैसे तो कर्मकांडी थे, बाहर से तो आस्तिक ही दिखते थे, भीतर से वे नास्तिक थे । आत्मा, कर्म, पुण्य–पाप, मोक्ष आदि तत्त्वों के विषय में वे शंकाशील थे । भगवंत ने उनकी शंकाएँ दूर की थी । वे प्राज्ञ थे, सरल थे, इसलिए वे सन्मार्ग को प्राप्त कर सके । परंतु जो लोग प्राज्ञ नहीं होते हैं, जड़ बुद्धि के होते हैं और सरल नहीं होते, वक्र होते हैं, उनको कितना भी समझाने का प्रयत्न करें, वे समझेंगे ही नहीं ।

मुझे ऐसे कई अनुभव हुए हैं। आत्मा का अस्तित्व नहीं माननेवाले, स्वर्ग-नरक नहीं माननेवाले, पुण्य-पाप नहीं माननेवाले लोग मेरे पास आये हैं। मैंने उनको शास्त्र से, तर्क से और मनोविज्ञान से समझाये, वे निरुत्तर हो गये, परंतु जिनमें प्राज्ञता नहीं थी, सरलता नहीं थी, वे नहीं माने ! 'हम आपको उत्तर नहीं दे सकते हैं, परंतु आपकी बात मान भी नहीं सकते हैं !' ऐसा बोलकर चले गये। जो प्राज्ञ और सरल थे, वे मान लेते थे। मिथ्या अभिमान मनुष्य को सत्य का स्वीकार नहीं करने देता है। ऐसे लोगों के प्रति भी 'भावकरुणा' ही रखने की है। 'जो लोग नास्तिक हैं, उनको आस्तिकता की प्राप्ति हो, सन्मार्ग की प्राप्ति हो, और वे सुखी हो.....' ऐसी करुणाभावना भाने की है !

## नास्तिकता से प्रमाद की पुष्टि :

जो मनुष्य आत्मा को ही नहीं मानता है, स्वर्ग-नरक नहीं मानता है, पुण्य-पाप नहीं मानता है, वह प्रमाद-परवश बनेगा ही ! वह हिंसा करेगा, झूठ बोलेगा, चोरी करेगा, व्यभिचार-सेवन करेगा। क्योंकि वह हिंसा आदि को पाप ही नहीं मानता है ! वह यह भी नहीं मानता कि हिंसा आदि करने से पापकर्म बंधते हैं और पापकर्म से दुर्गति में जाना पड़ता है ! न तो वह पाप को पाप मानता है, न ही पुनर्जन्म को मानता है ! स्वर्ग-नरक को भी नहीं मानता है। इसलिए वह क्रोध-मान-माया और लोभ करता रहता है। विषय-कषाय के प्रमादों का भरपूर सेवन करता है।

मांसभक्षण करता है, मदिरापान करता है, परस्त्रीगमन करता है। ये घोर पाप उसको नरक में ले जाते हैं। निगोद में ले जाते हैं। वहाँ असंख्य वर्षों तक घोर दुःख-त्रास सहन करते हैं। ऐसे अज्ञानी और प्रमादी जीवों के प्रति भावकरुणा ही रखने की है।

नास्तिक मनुष्य कैसे-कैसे पाप निर्भयता से करता है, वह जानना हो तो 'राजा प्रदेशी' का ऐतिहासिक उदाहरण पढ़ना। मैंने आपको एक बार कही भी है यह कथा। यह तो उसका भाग्योदय था कि आचार्यश्री केशीगणधर उसको मिल गये और उनकी आत्मतत्त्व की बातें राजा को जचीं, अन्यथा वह भी नरकगामी ही बनता।

पाप को पाप नहीं माननेवाले, धर्म को धर्म नहीं माननेवाले लोग विविध पापाचरणों में ही अपना जीवन बीता देते हैं। उनकी आत्मा पर लगे हुए प्रगाढ़ कर्म, उसको यदि आस्तिक नहीं बनने देते हैं, तो वह दुर्गतियों में भटकता हुआ घोर दुःख और त्रास भोगता रहता है।

बुद्धि के जड़ और वक्रदृष्टिवाले अज्ञानी लोग, ज्ञानीपुरुषों का हितोपदेश सुनते नहीं हैं । और, धर्म की एक भी बात उनको स्पर्श तक नहीं करती है । आप ही बताइये – ऐसे जीवों के दुःख, कष्ट, आपत्ति कैसे दूर हो सकती है ?

जो लोग हित–अहित समझते नहीं, अच्छा और बुरा समझते नहीं, पाप और पुण्य मानते नहीं, ऐसे लोग कभी ज्ञानीपुरुषों की हितकारी वाणी सुनते नहीं । हितोपदेश सुनना उनको पसंद नहीं होता ।

अज्ञान, अहंकार और मिथ्यात्व के कारण, बुद्धिमान् और शास्त्रज्ञ मनुष्य भी हितोपदेश सुनने के लिए अपात्र–अयोग्य बन जाते हैं । हितोपदेश देनेवाले भले ही सर्वज्ञ वीतराग भगवान महावीर हो ! गोशालक और जमालि – इसके ज्वलंत उदाहरण हैं । ये दोनों भगवान के शिष्य थे ! कुछ समय ये दोनों भगवान के साथ रहे हुए थे । भगवान के दोनों के ऊपर उपकार थे ! परंतु दोनों में जब अज्ञान का अंधकार उतर आया, दोनों अहंकार के हाथी पर सवार हुए और मिथ्यात्व–मोह से भ्रमित हो गये तब भगवान को छोड़कर चले गये और अपनी–अपनी मिथ्या मान्यताओं का प्रसार करने लगे थे । निष्कारण वे दोनों, भगवान जैसे वीतराग–सर्वज्ञ के प्रति शत्रुता धारण करते थे ।

वैसे तो ये दोनों दुनिया के सामने धर्म की ही बातें करते थे, परंतु उनके मन में धर्म का एक अंश भी नहीं था । इसलिए वे दोनों अशान्त थे, उद्विग्न थे । गोशालक की तो मृत्यु भी बहुत कष्टमय हुई थी । 'तेजोलेश्या' उसके शरीर में प्रविष्ट हो गई थी । इससे घोर वेदना सहन करता हुआ वह मरा था ।

ऐसे जीवों के प्रति 'करुणा' ही रखना उचित बताया गया है । दूसरे जीवों के दुःख दूर करने का चिंतन करनेवाला मनुष्य भविष्य में सच्चा और श्रेष्ठ सुख पाता है । यह बात अपने सभी के लिए विशेष महत्त्व रखती है ।

– किसी भी जीव के लिए 'यह दुःखी हो', ऐसा विचार कभी नहीं करने का संकल्प करें ।

– 'सभी जीव सुखी हो –' ऐसा ही विचार करने का संकल्प करें ।

– 'पापी जीव भी पुण्यशाली हो ।'

– 'अज्ञानी जीव को ज्ञान प्राप्त हो ।'

– 'दुर्गुणी जीव गुणवान् हो ।'

ऐसी करुणासभर भावना से आत्मा को भावित करनेवाला मनुष्य दो लाभ प्राप्त करता है :

– इस वर्तमान जीवन में उसका मन स्वस्थ रहता है ।

– परलोक में श्रेष्ठ और सुंदर सुख प्राप्त होते हैं ।

इस प्रकार की करुणाभावना से अपने हृदय को नवपल्लवित रखने के लिए करुणानिधान परमात्मा की आराधना–उपासना करते रहो ! यही एक श्रेष्ठ उपाय है हृदय को करुणासभर बनाने का ।

आज बस, इतना ही ।

★ ★ ★

# प्रवचन : ८९

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में अंतिम सूत्र 'सत्त्वादिषु मैत्र्यादियोगः ।' दिया है । भाव– श्रावक के हृदय में संसार के जीवों के प्रति मैत्री, प्रमोद, करुणा और उपेक्षा – ये चार भावनाएँ होनी ही चाहिए । मैत्री और प्रमोद का विवेचन करने के बाद 'करुणा' भावना का विवेचन चल रहा है । दुःखी जीवों के प्रति करुणा भावना बतायी गई है । दुःखी जीवों के दुःख दूर करने की इच्छा होना, अभिलाषा होना करुणा है । परंतु इस भावना में एक सावधानी बरतने की है ।

**मोहयुक्त – अज्ञानमूला करुणा निषिद्ध :**

एक बच्चे को बुखार आया है । उसने घर में मीठाई देखी । मीठाई खाने की उसको इच्छा हुई । वह माँ के पास मीठाई मांगता है । माँ नहीं देती है । बच्चा रोता है । माँ समझाती है – 'बेटा, तेरे शरीर में बुखार है, तुझे मीठाई नहीं खानी चाहिए । मीठाई खाने से बुखार बढ़ता है ।' परंतु बच्चा अज्ञानी है, उसको यह समझदारी नहीं होती है । वह मीठाई खाने की जिद करता है, उस समय यदि माता मोहवश मीठाई देती है बच्चे को, तो वह सही करुणा नहीं होती है । मीठाई खाने से बच्चे का अहित ही होता है । इसलिए इसको मोहयुक्त– अज्ञानमूला करुणा कहते हैं । ऐसी करुणा निषिद्ध है ।

– इसी प्रकार दया से प्रेरित होकर किसी को घातक शस्त्र नहीं देने चाहिए ।

– दया से प्रेरित होकर किसी को जहर आदि पदार्थ नहीं देने चाहिए ।

– दया से प्रेरित होकर किसी को नशीले पदार्थ नहीं देने चाहिए ।

जो वस्तु देने से दूसरों का अहित होने की संभावना हो, दुःख घटने का नहीं, बढ़ने की संभावना हो, वैसी वस्तु नहीं देनी चाहिए । मांगनेवाला कितनी भी दीनता करता हो, तो भी नहीं देना चाहिए ।

मालुम हो जायं कि 'यह व्यक्ति शराबी है, जुआरी है, वेश्यागामी है,' तो उसको कभी पैसे नहीं देने चाहिए । वह मनुष्य कितना भी दुःखी हो, पैसे मत दिया करो । वह भूखा हो तो भोजन दे दो, प्यासा हो तो पानी दे दो, मरीज़ हो तो दवा दे दो, परंतु पैसे मत दो । दुःखी मनुष्यों की योग्यता–पात्रता देखनी चाहिए ।

कुछ मनुष्य दिखते हैं दुःखी, वास्तव में वह दुःखी नहीं होते हैं। अपने आपको दुःखी बताकर, करुणावंत, दयावंत लोगों के साथ धोखाबाजी करते हैं। गैरलाभ उठाते हैं। ऐसा होने से दयावंत लोगों की दयाभावना, करुणाभावना कभी नष्ट हो जाती है। इसलिए दुःखी जीवों का दुःख दूर करने की प्रवृत्ति विवेकपूर्वक करते रहो।

## अनुकंपा करते रहो :

अनुकंपा की प्रवृत्ति भी विवेकपूर्वक करने की है। दुःखी को रोटी देना, वस्त्र देना, आश्रय देना..... अनुकंपा है। अनुकंपा–दान देने में लेनेवाले की योग्यता नहीं देखी जाती है। उसका धर्म नहीं देखा जाता है। उसकी उम्र भी नहीं देखी जाती है। क्षुधातुर है, बस, उसको भोजन दे दो। प्यासा है, उसको पानी दे दो। नंगा है, उसको वस्त्र दे दो। मरीज़ है, उसको औषध दे दो। केवल करुणा से देना है, निःस्वार्थ भावना से देना है। प्रत्युपकार की अपेक्षा रखे बिना देना है। दयाभाव से देना है।

कुछ वर्षों से अनुकंपा–दान देश और विदेशों में बढ़ा है।

– कहीं पर भूकंप होता है, तो हजारों लोग बेघर हो जाते हैं, और यह बात रेडियो पर प्रसारित होती है, T.V. के ऊपर प्रत्यक्ष वह दुर्घटना दिखायी जाती है, तो दुनिया में से उन बेघर बने हुए दुःखी लोगों के लिए भोजन, वस्त्र, दवा..... इत्यादि जीवनावश्यक वस्तुएँ इकट्ठी हो जाती हैं।

– कहीं पर बाढ़ आ जाती है, 'बंध' टूट जाते हैं, अति वर्षा होती है, हजारों लोग बेघर, बेहाल हो जाते हैं, रेडियो और T.V. के माध्यम से, दैनिक अखबारों के माध्यम से लोगों को मालुम होते ही, अनुकंपा–दान का प्रवाह बहने लगता है।

– रोड़ के ऊपर अकस्मात हो जाता है, लोग बुरी तरह घायल हो जाते हैं, कुछ लोग मर जाते हैं, तो उनको शीघ्र पास में जो अस्पताल होता है, वहाँ पहुँचा दिये जाते हैं। क्षतिग्रस्त लोगों को बचाने के उपाय किये जाते हैं।

– कई गाँवों में सदाव्रत चलते हैं। दुःखी, अनाथ, अपंग लोग वहाँ जाकर भोजन करते हैं। पानी पीते हैं। कुछ गाँवों में रोजाना नहीं, छूट्टी के दिन गरीबों को भोजन दिया जाता है! कुछ संस्थाएँ, कुछ युवकमंडल, कुछ महिलामंडल ऐसी प्रवृत्ति करते हैं।

– जनरल अस्पतालों में ज्यादातर गरीब मरीज़ जाते हैं । कुछ दयावान्–करुणावंत लोग वहाँ जाते हैं, जनरल वोर्ड में जाकर मरीजों को फल, दूध, दवा वगैरह बाँटते हैं ।

– कुछ लोग, ऐसे अनुकंपा से काम करनेवाली संस्थाओं को हजारों, लाखों रुपियों का दान देते हैं ।

– बंबई, मद्रास, अहमदाबाद जैसे बड़े नगरों में बड़े–बड़े अनाथाश्रम चलते हैं । उन आश्रमों में २००/३००/५०० जितने अनाथ, त्यक्त, अपंग छोटे–छोटे बच्चों को रखे जाते हैं । उनको जीवनावश्यक सभी वस्तुएँ प्राप्त होती हैं । कई करुणावंत लोग ऐसे अनाथाश्रमों को बड़ा–बड़ा दान देते हैं । कुछ लोग, अपने घर में जब शादी जैसे प्रसंग आते हैं तब ऐसे आश्रमों में बच्चों को भोजन देते हैं । वस्त्र देते हैं । किताबें देते हैं ।

बड़े शहरों में कुछ 'रीमान्ड होम' होते हैं । जो बच्चे छोटे–बड़े अपराध करते पकड़े जाते हैं, उन बच्चों को रीमांड होम में रखे जाते हैं । वहाँ उनको भोजन, वस्त्र इत्यादि आवश्यक वस्तुएँ मिलती हैं । ऐसी संस्थाओं को सरकार सहायता करती है, समाज के दयावान् गृहस्थ भी दान देते हैं ।

कुछ स्थानों में सेवाभावी संस्थाओं के द्वारा गरीब घर के बच्चों के छात्रालय चलते हैं । लड़कों को वहाँ निःशुल्क आवास, भोजन, वस्त्र दिये जाते हैं और शिक्षा भी निःशुल्क दी जाती है । उदार दयावान् गृहस्थ ऐसी संस्थाओं में दान देते रहते हैं । ऐसी संस्थाओं में, छात्रालयों में रहनेवाले बच्चे कुछ बुराइयों से बच जाते हैं । व्यसनों से बच जाते हैं ।

कुछ गाँव–शहरों में सामाजिक स्तर पर, सेवामंडल, सेवासंघ चलते हैं । इनकी सारी प्रवृत्तियाँ करुणाप्रेरित होती हैं । वे गरीब–दुःखी परिवारों में, जीवनावश्यक वस्तुएँ अल्प मूल्य में वितरित करते हैं । बाजार में जो वस्तु पाँच रुपये में मिलती हो, ये लोग २/३ रुपये में देते हैं । जो घाटा जाता है, वह दानी लोगों के दान से पूरा कर लेते हैं ।

ये बातें इसलिए बता रहा हूँ कि दुनिया में ऐसी अनुकंपा की प्रवृत्तियाँ भी चल रही हैं – इस बात का आपको ज्ञान हो और आप भी ऐसी अनुकंपा की प्रवृत्ति में अपना योगदान दे सको । करुणाप्रेरित सत्प्रवृत्ति करने की आपको दिशा मिल सके ।

## व्यसनों से मुक्ति :

जिस प्रकार जीवों को दुःखों से मुक्त करने की भावना करुणा है, जीवों को पापों से मुक्त करने की भावना करुणा है, वैसे व्यसनग्रस्त मनुष्यों को व्यसनों से मुक्त करने की भावना भी करुणा है । सभी प्रकार के व्यसन दुःख के ही कारण हैं । व्यसनी मनुष्य दुःखी ही होता है । हालाँकि मनुष्य सुख पाने की मिथ्या कल्पना से अथवा दुःखों को भूलने की भ्रामक कल्पना से व्यसन–सेवन करता है ।

– छोटे बच्चे जो व्यसन–सेवन करते हैं, वे सुख पाने की कल्पना से करते हैं ।

– युवक भी ज्यादातर सुख पाने की कल्पना से ही व्यसनों में फँसते हैं । कुछ युवक दुःखों को भूलने की दृष्टि से व्यसन–सेवन करते हैं ।

– प्रौढ़ और वृद्ध लोगों की आदत बन गई होती है व्यसन–सेवन की । मुख्य व्यसन ये हैं :

– तमाकू ।
– बीड़ी–सीगरेट ।
– तमाकू का पान–मावा ।
– पानपराग ।
– शराब ।

भिन्न–भिन्न रूप में मनुष्य इन व्यसनों का सेवन करता है । इससे पैसे का दुर्व्यय तो होता ही है, शरीर को भी हानि पहुँचती है । केन्सर जैसे असाध्य रोग भी होते हैं । मन अशान्त और उद्विग्न रहता है । आत्मा पापकर्मों से बंधती है । ऐसे व्यसनी लोगों को व्यसनों से मुक्त करने की भावना भी करुणाभावना है । परंतु व्यसनों से मनुष्य को मुक्त कराना सरल काम नहीं है । बड़ा मुश्किल काम है । फिर भी भावना तो रहनी ही चाहिए ।

## शराब की व्यापकता :

तमाकू तो भिन्न–भिन्न रूप में व्यापक है ही, शराब भी व्यापक हो रही है ।

मैंने ऐसे भी कुछ परिवार देखे हैं कि जहाँ लोग उपवास, आयंबिल वगैरह तप करते हैं, पूजा–पाठ करते हैं, माला फेरते हैं, तीर्थयात्रा करते हैं और शराब भी पीते हैं ! नशा करते हैं । घर में ब्रान्डी की बोतलें होती हैं, होटलों में जा

कर भी पीते हैं ।

प्रारंभ 'बीयर' से होता है । आगे बढ़ते हुए विदेशी 'व्हीस्की' शुरू हो जाती है ! १६/१८ साल के लड़के-लड़कियाँ भी निर्भय होकर पीते हैं । नशा करते हैं । नशे में विवेकशून्य बनकर कुत्सित पाप करते हैं । ऐसे लोगों की धर्मक्रियाएँ कोई अर्थ नहीं रखती हैं । केवल उनका दंभ पुष्ट होता है । वे लोग शराब से होनेवाले नुकसान क्या नहीं जानते हैं ? जानते हैं, फिर भी किसी न किसी व्यामोह में फँस कर वे पीते रहते हैं शराब ।

– कुछ लोग अशान्ति से बचने के लिए पीते हैं ।

– कुछ लोग मित्रों को खुश रखने के लिए पीते हैं ।

– कुछ लोग अपने बड़े देशी-विदेशी व्यापारियों को खुश करने के लिए पीते हैं, पीलाते हैं ।

– कुछ लोग अपने आपको 'आधुनिक' 'मोडर्न' बताने के लिए पीते हैं और पीलाते हैं ।

– कुछ लोग बड़े श्रीमंतों का अनुकरण करते हुए पीते हैं ।

– कुछ लोग 'शराब पीने से शरीर में शक्ति आती है' ऐसी भ्रमणा से पीते हैं ।

यह बात में दूसरों की नहीं कहता, जैनसमाज की बात है यह । जो केवल जैन कहलाते हैं, केवल दिखावे के जैन होते हैं, उनकी बात है ।

ऐसे लोग यदि साधुपुरुषों के संपर्क में आये और साधुपुरुष उनको प्रेम से समझाकर शराब का त्याग करवा दे, तो ही उनका व्यसन छूटता है । अन्यथा उनके लिए करुणाभावना ही भाने की है ।

इसी प्रकार जो लोग हिंसा, चोरी, दुराचार, परिग्रह आदि पापों में फँसे हैं, उन लोगों को पापमुक्त करने का चिंतन करना, उपाय करना भी करुणाभावना है !

## दुःख देनेवालों के प्रति करुणा :

जो लोग दुःखी हैं, जो लोग दुःख के रास्ते पर चल रहे हैं, जो लोग पापी हैं, उनके प्रति जिस प्रकार करुणाभावना का चिंतन करने का है, वैसे जो लोग हमारे साथ दुर्व्यवहार करते हैं, हमें दुःख देते हैं, हमें सताते हैं, उनके प्रति भी करुणासभर चिंतन करने का है । 'वह व्यक्ति हमें दुःख देता है इसलिए हम भी उसको दुःख देंगे,' ऐसा विचार नहीं करना है । दुःख से बचने के लिए आप

जो प्रतिकार करें, उस प्रतिकार की क्रिया में भी 'करुणा' रहनी चाहिए ।

इस प्रकार की श्रेष्ठ करुणा प्रदर्शित करनेवाले श्रमण भगवान महावीर स्वामी के जीवन के कुछ प्रसंग बड़े प्रेरणादायी हैं । आज एक प्रसंग को याद कर, करुणावंत भगवंत की स्तुति करेंगे, प्रशंसा करेंगे ।

श्रमण भगवान महावीर स्वामी जब साधना-काल में थे, उग्र तपश्चर्या कर रहे थे, उत्कृष्ट ध्यान-साधना में निमग्न थे, उस समय की बात है ! भगवंत ने म्लेच्छों से भरपूर ऐसी दृढ़भूमि में प्रवेश किया था । 'पेढाल' नाम के गाँव के बाहर 'पोलास' नाम के मंदिर में जाकर ठहरे । भगवंत को 'अट्ठम' का (तीन उपवास) तप था । एक शिलातल के ऊपर, चित्त को स्थिर कर, निमेषरहित दृष्टि को एक रूक्ष द्रव्य पर स्थिर कर, एक रात्रि की 'महाप्रतिमा' धारण कर खड़े रहे ।

उस समय देवों की सभा में इन्द्र ने कहा : 'हे सौधर्मदेवलोकवासी देवों ! भगवान महावीर की अद्‌भुत महिमा सुनें । पाँच समिति का पालन करनेवाले, तीन गुप्ति से गुप्त, चार कषायों के विजेता, आश्रवरहित और द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव से अप्रतिबद्ध ऐसे प्रभु महाध्यान में स्थिर बने हैं । उनको ध्यान से विचलित करने देव-दानव, यक्ष-राक्षस या मनुष्य..... कोई भी शक्तिमान् नहीं है ।' इस प्रकार इन्द्र ने परमात्मा के गुण गाये ।

यह सुनकर, इन्द्र का सामानिक देव संगम, जो कि अभव्य था, प्रगाढ़ मिथ्यात्वी था, वह रोषायमान होकर बोला : 'हे सुरेन्द्र, देवों के सामने वह मनुष्य-साधु कौन होता है ? मैं स्वयं उसको ध्यानभ्रष्ट करूँगा ।' इन्द्र ने संगम के अहंकार को उपेक्षित कर दिया ।

संगम देव, जहाँ प्रभु थे, वहाँ गया । प्रभु को देखकर उसके मन में ज्यादा रोष पैदा हुआ । और उसने प्रभु को ध्यान से चलित करने के लिए विविध कष्ट देना प्रारंभ किया । उसने एक रात में २० बड़े उपसर्ग किये, परंतु वह भगवान को ध्यान से विचलित नहीं कर पाया । मैं उन उपसर्गों का सिर्फ नामनिर्देश करता हूँ । इससे आपको मालुम होगा कि भगवान 'महावीर' कैसे कहलाये थे ! उनमें कैसी अपूर्व वीरता थी !

१. सर्वप्रथम संगम ने प्रभु के ऊपर धूल (रज) की वृष्टि की । प्रभु के शरीर के सभी छिद्रों को रज से भर दिये । प्रभु श्वासोच्छ्वास लेने भी अशक्त बन गये, तो भी वे ध्यान से चलित नहीं हुए ।

२. देव ने वज्रमुखी लाखों चींटियाँ भगवान के शरीर पर छोड़ दी। चींटियाँ प्रभु के शरीर को बींध कर, एक तरफ से दूसरी तरफ निकलने लगी। अपने तीक्ष्ण वज्रमुख से चींटियाँ प्रभु के शरीर को काटने लगी..... फिर भी प्रभु स्थिर रहे।

३. देव ने बाद में बड़े–बड़े लाखों मच्छर (डांस) प्रभु के शरीर पर छोड़ दिये। मच्छरों ने शरीर को क्षत–विक्षत कर दिया। शरीर पर से श्वेत लहू की धाराएँ बहने लगीं, फिर भी प्रभु विक्षुब्ध नहीं हुए।

४. देव ने तीव्र चोंचवाली हजारों धीमेल (एक प्रकार के जंतु) प्रभु के शरीर पर छोड़ीं। प्रभु के शरीर पर वे मुखभाग से चिपक गई और खून पीने लगी। फिर भी प्रभु अचल रहे।

५. देव ने हजारों बिच्छू प्रभु के शरीर पर छोड़ दिये। बिच्छू शरीर को काटने लगे। फिर भी प्रभु निराकुल रहे।

६. देव ने हजारों नेवले (नोलिया) प्रभु के शरीर पर छोड़ दिये। नेवले अपने तीक्ष्ण दांतों से प्रभु के शरीर में से मांस के टुकड़े काट–काटकर खाने लगे, फिर भी प्रभु अविकल रहे।

७. देव ने भयंकर बड़ी–बड़ी फनवाले हजारों सर्प प्रभु के शरीर पर छोड़े। उन्होंने प्रभु के शरीर को एड़ी से चोटी तक लपेट लिया। अपनी डाढ़ों से भगवान को काटने लगे। सारा जहर बाहर निकल गया, सर्प रस्सी की तरह लटक गये! प्रभु स्थिर रहे।

८. देव ने वज्र जैसे दांतवाले चूहे प्रभु के ऊपर छोड़ दिये। चूहे अपने दांतों से, नाखूनों से, मुख से, प्रभु के शरीर को काटने लगे। उस पर मूतने लगे, शरीर में तीव्र वेदना होने पर भी प्रभु निश्चल रहे।

९. देव ज्यादा क्रोधी बना। उसने बड़े बड़े तीक्ष्ण दांतवाला हाथी प्रभु के ऊपर छोड़ दिया। उसने उपनी सूंढ से प्रभु को आकाश में उछाल दिये..... पुनः उसने प्रभु को अपनी सूंढ पर पकड़ लिये। बार–बार दांतों से प्रहार करने लगा, फिर भी प्रभु ध्यानलीन रहे।

१०. देव ने बड़ी क्रूर हथनी पैदा कर, प्रभु के ऊपर छोड़ी। हथनी ने अपने दांतों से व मस्तक से प्रभु के शरीर को क्षत–विक्षत करके उसके ऊपर मूतने लगी। तो भी प्रभु का ध्यान अखंड रहा।

११. बाद में देव ने एक भयानक पिशाच का रूप किया। प्रभु को डराने

लगा, भयभीत करने लगा, परंतु भगवंत निर्भय रहे, स्थिर रहे ।

१२. देव ने भयानक बाघ का रूप किया । अपनी वज्र जैसी दाढ़ से और त्रिशूल जैसे नाखून से प्रभु के शरीर को चीरने लगा । तो भी वह देव भगवंत को विचलित नहीं कर सका ।

१३. उस अधम देव ने राजा सिद्धार्थ का रूप किया और बोला : 'हे वत्स, ऐसा दुष्कर व्रत क्यों लिया ? छोड़ दे इस व्रत को । तू हमारी सेवा कर । तेरा भाई नंदिवर्धन मुझे वृद्धावस्था में छोड़कर चला गया है ।' फिर भी प्रभु ध्यान में लीन रहे ।

१४. देव ने त्रिशलामाता का रूप किया । पुनः पुनः विलाप करने लगी । फिर भी भगवंत ध्यानमग्न रहे ।

१५. देव ज्यादा रोषायमान हुआ । उसने एक रसोइये का रूप किया । प्रभु के दोनों चरणों को चूल्हा बनाकर, उसमें अग्नि प्रज्वलित किया और चावल पकाने भाजन चरणों के ऊपर रखा । अग्नि से प्रभु के चरण जलने लगे । परंतु इससे चरण, स्वर्ण की तरह ज्यादा शोभायुक्त हुए । प्रभु निराकुल रहे ।

१६. देव ने अति रौद्र–चंडाल का रूप किया । उसने प्रभु के गले में, कानों में, जंघा के ऊपर, हाथों के ऊपर पक्षी के पींजरे लटकाये । पक्षियों ने प्रभु के शरीर पर अपनी चाँचों से व नाखून से प्रहार कर शरीर में अनेक छिद्र कर दिये । फिर भी प्रभु को वह चलायमान नहीं कर सका ।

१७. देव ज्यादा उग्र बना । उसने प्रचंड पवन उत्पन्न किया । पवन से प्रभु को आकाश में उछाल–उछालकर जमीन पर पटकने लगा । फिर भी प्रभु निश्चल रहे ।

१८. देव ने हवा का बड़ा बवंडर पैदा किया । प्रभु को, जैसे कुंभकार चक्र को घुमाता है वैसे घुमाने लगा । फिर भी प्रभु ध्यानलीन रहे ।

१९. इतने सारे उपाय निष्फल जाने पर देव ने सोचा – 'ये मुनि वज्र जैसे कठिन मनवाले हैं । इतने उपद्रव करने पर भी वे जरा से भी विचलित नहीं हुए । इन्द्रसभा में मैंने जो प्रतिज्ञा की थी, मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं हुई, अब मैं इन्द्रसभा में कैसे जाऊँ ? इसलिए अब तो इसके प्राण ही लेने होंगे । इसके अलावा दूसरा कोई उपाय नहीं है ।' ऐसा सोचकर संगम ने 'कालचक्र' उत्पन्न किया । कालचक्र उठाया और भगवान के ऊपर प्रहार कर दिया । कालचक्र के प्रहार से प्रभु जानु

तक जमीन में धँस गये । परंतु उनकी मृत्यु नहीं हुई, तब देव क्षुब्ध हो गया । उसने सोचा – 'इनको कोई शस्त्र, अस्त्र असर नहीं करता है, तो अब एक अनुकूल उपसर्ग करके विचलित कर दूँ ।'

२०. उसने कामदेव के अमोघ शस्त्र की रचना की । उसने छः ऋतुओं को प्रगट की । वसंत ऋतु की शोभा उत्पन्न की । सैकड़ों देवांगनाएँ प्रगट की । देवांगनाओं ने गीत, वाद्य, नृत्य, अंगविकार और चाटु वचनों के प्रयोग किये । फिर भी प्रभु का मन निर्विकारी रहा, वे ध्यान में निमग्न रहे ।

रात पूर्ण हुई । प्रातःकाल में देव ने सोचा –'अब मैं प्रतिज्ञाभ्रष्ट होकर स्वर्ग में कैसे जाऊँ ? नहीं जाऊँगा । मैं इस मुनि को विचलित करके ही स्वर्ग में जाऊँगा ।'

संगम ने छः महीने तक प्रभु के ऊपर उपसर्ग किये । भगवान की भिक्षा को दूषित करता रहा । प्रभु के आगे–पीछे भटकता रहा । वह लज्जित हो गया । भगवंत के सामने प्रगट होकर बोला –

'हे स्वामिन्, देवेन्द्र ने सुधर्मासभा में जैसी आपकी प्रशंसा की थी, आप वैसे ही हो । इन्द्र के वचनों पर विश्वास नहीं करते हुए मैंने आपके ऊपर अनेक उपसर्ग किये । आप सत्यप्रतिज्ञ हो, मैं भ्रष्टप्रतिज्ञ हूँ । मैंने यह अच्छा काम नहीं किया । हे क्षमानिधि, आप मेरे अपराध को क्षमा करें । मैं खिन्न हूँ । अब मैं देवलोक में जाता हूँ । आप अब निःशंक बनकर विहार करें ।'

जब संगमदेव देवलोक की ओर जाने लगा, भगवान की आँखें करुणा से भर आयी थी । उन करुणापूर्ण नेत्रों की महाकवि धनपाल ने कल्पना कर, एक सुंदर श्लोक की रचना की थी । सुनें वह श्लोक –

**रक्षन्तु रस्वलितोपसर्गगलित प्रौढ़ प्रतिज्ञाविधौ,**
**याति स्वाश्रयमर्जितांहसि सूरे निःश्वस्य संचारिता ।**
**आजानुक्षितिमध्यमग्नवपुषः चक्राभिधातव्यथा–**
**मूर्छान्ते करुणाभराञ्चितपुटा वीरस्य वो दृष्टयः ।।**

'भगवान महावीर की वह करुणासभर दृष्टि हमारी रक्षा करें ।' ऐसी भावना महाकवि ने अभिव्यक्त की है ।

प्रतिज्ञाभ्रष्ट होकर जाते हुए संगमदेव को देखकर प्रभु की आँखें करुणा से भर आयी थी । 'यह जीव, मेरा निमित्त पाकर संसार में भटक जायेगा, घोर दुःख पायेगा..... ।' ऐसी ही कोई करुणाभावना होगी ।

## सुव्रत श्रेष्ठि की चोरों के प्रति करुणा :

यह तो तीर्थंकर भगवंत की करुणा थी । वे निःसीम शक्ति के धारक होते हैं । उनका शारीरिक और मानसिक बल अतुलित होता है । एक रात में उन्होंने जो २० उपसर्ग सहे, उनमें से एक भी उपसर्ग अपन सहने को समर्थ नहीं हैं । और ऐसा एक भी उपसर्ग कोई मनुष्य अपने ऊपर करें तो उसके प्रति अपने मन में 'करुणाभावना' पैदा होना भी मुझे असंभव सा लगता है । परंतु फिर भी दुःख देनेवालों के प्रति करुणाभावना रखने का लक्ष्य होना आवश्यक है ।

'मौन एकादशी' के श्रेष्ठ आराधक सुव्रत शेठ की कथा आप जानते होंगे । उन्होंने, उनके घर चोरी करनेवाले चोरों के ऊपर कैसी दया की थी, जानते हो न ? जब वे चोर चोरी के माल के साथ पकड़े गये, तब सुव्रत शेठ ने पौषध व्रत पूर्ण कर, उन चोरों को राजा की ओर से होनेवाली सजा माफ कराने के लिए राजा के पास जाकर चोरों के लिए उन्होंने अभयदान मांगा ! 'मेरी संपत्ति के कारण चोरों को चोरी करने की इच्छा जगी, इसलिए निमित्त तो मैं ही बना, इसलिए मुझे चोरों के प्राण बचा लेने चाहिए ।' उन्होंने चोरों के प्राण बचा लिये । चोरों ने चोरी नहीं करने का संकल्प किया ।

पाप करनेवालों में भी कुछ लोग सरल और गुणवान् होते हैं । उन पर अवसरोचित करुणा करने से कभी वे पापों का त्याग कर देते हैं । कुछ चोर, डाकुओं में भी योग्यता होती है । सत्पुरुषों की करुणा पाकर वे सुधर जाते हैं । कुछ दुराचारी–व्यभिचारी लोग भी, साधु–संतों के परिचय से, करुणापूर्ण व्यवहार से सुधर जाते हैं । पापों का त्याग कर देते हैं ।

परंतु ऐसी करुणा वे महामना महापुरुष कर सकते हैं जो निर्मोही और अनासक्त ज्ञानी होते हैं । अपने शरीर के जो निर्मोही होते हैं, वे शरीर के ऊपर उपद्रव करनेवालों के ऊपर करुणा कर सकते हैं । जो पर–पदार्थों के प्रति अनासक्त होते हैं, वे पर–पदार्थों के निमित्त रोष–राग या तिरस्कार नहीं करेंगे । सुव्रत शेठ के पास ११ क्रोड़ सुवर्ण–मुहरें थी, परंतु वे अनासक्त थे । संपत्ति के ऊपर आसक्ति नहीं थी, इसलिए संपत्ति की चोरी होने पर भी चोरों के ऊपर रोष–क्रोध नहीं आया । 'करुणा' पैदा हुई ।

**सभा में से :** हमारे तो ५–१० रुपये के स्लीपर भी कोई उठाकर ले जायं, तो उसके ऊपर भयंकर गुस्सा आ जाता है ।

**महाराजश्री :** क्योंकि आपको स्लीपर के ऊपर ममत्व है ! कोई भी वस्तु के ऊपर ममत्व होगा, आसक्ति होगी, और उस वस्तु को कोई नुकसान पहुँचायेगा अथवा नष्ट करेगा, अथवा चुरा ले जायेगा..... तो आपको रोष–क्रोध पैदा होगा ही । आप भावकरुणा नहीं कर सकोगे । आपके हृदय में भावकरुणा पैदा ही नहीं होगी !

आपके पास दो द्रव्य हैं – स्वद्रव्य और परद्रव्य ! स्वद्रव्य है आत्मा । परद्रव्य है पाँच इन्द्रियों के विषय । आप दोनों द्रव्य में से किस द्रव्य को अधिक मूल्यवान् समझते हो ? यह बात आप आत्मसाक्षी से सोचें । क्या परद्रव्यों के ऊपर इतना राग है, इतना ममत्व है कि स्वद्रव्य को भूल ही जायं ? यदि स्वद्रव्य–आत्मा को भूल गये हो और परद्रव्यों के ऊपर रागी बने हो, तो आप 'करुणाभावना' से चिंतन नहीं कर सकोगे । भावकरुणा भीतर में जगेगी ही नहीं ।

द्रव्यकरुणा तो वे लोग भी करते हैं जो अनात्मवादी होते हैं । जिनको 'आत्मा' का ज्ञान नहीं है, आत्मप्रीति नहीं है, वे लोग भी रोटी–कपड़ा और मकान देने की द्रव्यकरुणा कर सकते हैं । भावकरुणा आत्मप्रीतिवाला मनुष्य ही कर सकता है ।

आप दूसरों के ऊपर दया करते हो, वह वास्तव में स्वयं के ऊपर ही दया करते हो ! भगवान महावीर ने कहा है – 'जीवदया अप्पणो दया होई ।' दूसरों के ऊपर दया–करुणा करनेवाला मनुष्य, ऐसा 'पुण्यकर्म' बांधता है, कि आनेवाले जन्मों में वह सुख–शान्ति पाता है । कभी कोई पापकर्म के उदय से दुःख आयेगा, तो भी वह उस पुण्यकर्म के उदय से किसी का करुणापात्र बनेगा, दयापात्र बनेगा ! कोई उसका दुःख दूर करनेवाला अवश्य मिलेगा । इसलिए दया–करुणा की भावना का सदैव चिंतन करते रहो । यथाशक्य दूसरों के दुःख दूर करने की प्रवृत्ति भी करते रहो ।

आज बस, इतना ही ।

★ ★ ★

# प्रवचन : ९०

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में अंतिम सूत्र लिखा है –

**'सत्त्वादिषु मैत्र्यादियोगः ।'**

जीवों के प्रति मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य – ये चार भावनाएँ रखने की हैं । सभी जीवों के साथ हमारा संबंध इन चार भावनाओं के माध्यम से रखने का है ।

तीन भावनाओं का विवेचन पूर्ण कर, आज चौथी भावना 'माध्यस्थ्य' के ऊपर विवेचन करना है । 'माध्यस्थ्य' का दूसरा नाम 'उपेक्षा' भी है । ग्रंथकार ने इस भावना की परिभाषा करते हुए कहा है –

**'परदोषोपेक्षणमुपेक्षा !'**

'शान्तसुधारस' में इस भावना की परिभाषा बतायी गई है –

**'उपेक्षणं दुष्टधियामुपेक्षा ।'**

– दूसरों के अपरिहार्य दोषों की उपेक्षा करें ।

– दुष्ट बुद्धिवालों की उपेक्षा करें, उनके प्रति समभाव रखें ।

## मानसिक विश्राम पाने की भावना :

व्यावहारिक जीवन में मनुष्य अनेक संबंध बाँधता है । कुछ संबंध निकट के होते हैं, कुछ संबंध दूर के होते हैं । मनुष्य सुख की, आनंद की कल्पना से संबंध बाँधता है, परंतु वे संबंध ही उनके मन में अशान्ति, चिंता, संताप वगैरह दोष पैदा करते हैं । क्योंकि संबंध में मनुष्य यह चाहता है कि संबंधित व्यक्ति उसका कहा मानें, उसकी बात का स्वीकार करें, उसकी इच्छा पूर्ण करें ।

– पिता चाहता है कि पुत्र–पुत्री उनका कहा मानें ।

– पुत्र–पुत्री चाहते हैं कि पिता उनकी इच्छाएँ पूर्ण करें ।

– माता चाहती है कि उसकी औलाद उसकी बातें मानें ।

– संतान यह चाहते हैं कि माता उनकी सुविधाएँ पूर्ण करें ।

– पति चाहता है कि पत्नी उसका कहा मानें ।

– पत्नी चाहती है कि पति उसके वश में रहें, उसकी अपेक्षाएँ पूर्ण करें ।

– भाई, भाई से सहयोग की अपेक्षा रखता है ।

– बहन भाई से प्रेम चाहती है, उपहार चाहती है ।

– दूर के रिश्तेदार मामा–मामी, चाचा–चाची वगैरह प्रेम, आदर और अवसरोचित व्यवहार की अपेक्षा रखते हैं ।

– शेठ नौकरों से वफादारी और सेवा की अपेक्षा रखता है ।

– नौकर शेठ से कदर चाहता है, कृपा चाहता है ।

– मित्रों की परस्पर स्नेह की, सहायता की, विश्वास की अपेक्षा रहती है !

जब तक परस्पर की अपेक्षाएँ कम–ज्यादा प्रमाण में पूर्ण होती रहती हैं तब तक संबंध बने रहते हैं, संबंधों में मधुरता बनी रहती है, परंतु जब अपेक्षाएँ पूर्ण नहीं होती हैं, इच्छाएँ पूर्ण नहीं होती हैं तब संबंधों में तनाव पैदा हो जाता है । मन ग्लानि से भर जाता है और, प्रयत्न करने पर भी संबंध नहीं सुधरता है.... तब मन अति व्यथित बन जाता है । उस समय यदि यह 'मध्यस्थ भावना' का तत्त्वज्ञान मनुष्य के पास होता है तो उसका मन विश्राम पाता है, स्वस्थ बनता है । यदि यह मध्यस्थ भावना का तत्त्वज्ञान नहीं होता है तो मनुष्य का मन मूढ़ बन जाता है । निराशा से थक जाता है । रोष–क्रोध और कोप से सुलगता रहता है । कोई भी धर्मक्रिया उसको शान्ति नहीं दे सकती है ।

## माता–पिता और पुत्र–पुत्री :

जो माता–पिता अपने बच्चों से इसलिए परेशान है कि बच्चे माता–पिता का कहा नहीं मानते । बच्चे स्वच्छंदी, मनस्वी और उद्धत बन गये हैं । बच्चों को समझाने पर, धमकाने पर भी नहीं मानते, तब माता–पिता अत्यंत दुःखी हो जाते हैं । भले ही वे कुछ धर्मक्रियाएँ करते हो । वे कहते हैं –

– क्या करें ? भगवान की पूजा करते समय भी मन बच्चों के विचारों में उलझा हुआ रहता है ।

– क्या करें ? सामायिक करते हैं, तो उस समय भी मन में बच्चों के ही विचार आते हैं ।

– क्या करें ? तीर्थयात्रा करने जाते हैं, तो वहाँ भी लड़कों के विचार आते हैं, चिंता बनी रहती है.... । माला फेरते हैं तो मन उसमें नहीं लगता.... । उपदेश सुनने में मन नहीं लगता !

– लड़कों के ऊपर क्रोध आ जाता है, झगड़ा हो जाता है.... कभी मारते भी हैं, रोते भी हैं.... क्या करें ?

ऐसे माता–पिता जब हमारे पास आते हैं, हम उनको कुछ महत्त्वपूर्ण उपाय बताते हैं :

– बच्चों के ऊपर ममत्व मत रखो, राग मत करो ।

– बच्चे अपने–अपने कर्म लेकर आये हैं । हर जीवात्मा अपने–अपने कर्मों के अनुसार अच्छे–बुरे काम करते हैं ।

– हर जीव की बुद्धि भी कर्मों के अनुरूप होती है..... ।

ऐसा सोचकर 'जब उनके शुभ कर्मों का उदय होगा तब सुधरेंगे,' आप उनकी उपेक्षा कर दो । उनके साथ सिर्फ दिखावे का संबंध रखें । उनके प्रति राग नहीं रखने का, द्वेष नहीं करने का । निंदा नहीं करने की, प्रशंसा भी नहीं करने की !

– 'जिस निमित्त से उनका सुधरने का योग होगा, वह निमित्त मिलेगा तब सुधरेगा ।' ऐसा सोचकर इन्तजार करते रहो ।

## पति–पत्नी :

जिस घर में माता–पिता बच्चों से परेशान होते हैं और साथ–साथ पति–पत्नी के बीच भी मनमुटाव, तनाव....अनबन.... होती है, तो उनकी अशान्ति की सीमा नहीं होती है । पति–पत्नी के बीच जब संबंध बिगड़ता है, तो दोनों के मन क्लेश.... व्यथा और कटुता से भर जाते हैं ।

यह संबंध ही ऐसा है कि दोनों की परस्पर अनेक अपेक्षाएँ होती हैं । बाह्य अपेक्षाओं के साथ आंतरिक अपेक्षाएँ भी बहुत होती हैं । इसके अलावा दोनों में गंभीरता नहीं होती है, सहनशीलता नहीं होती है, उदारता नहीं होती है, विश्वास नहीं होता है, तो संबंध में तनाव पैदा हो जाता है । परस्पर अपेक्षाएँ होना स्वाभाविक है, परंतु गंभीरता वगैरह गुण नहीं होते हैं, तो जब एक–दो अपेक्षाएँ पूर्ण नहीं होने पर बाह्य–आंतरिक क्लेश हो ही जाता है ।

– पत्नी को समझाने पर भी वह अनुचित कार्यों का त्याग नहीं करती है, कहा नहीं मानती है, तो उसके प्रति उपेक्षाभावना का चिंतन करने का है ।

– पति को बार–बार समझाने पर भी वह अयोग्य कार्यकलाप नहीं छोड़ता है, अच्छी–सच्ची बात नहीं मानता है, तो उसके प्रति भी 'उपेक्षा' का ही चिंतन करने का है ! यानी उसके प्रति हृदय में न राग रखना है, न द्वेष रखना है । तो ही मन का समाधान होगा । थके हुए मन को विश्राम मिलेगा ।

आध्यात्मिक दृष्टि से संसार के सारे संबंधों की निःसारता समझ लेनी चाहिए । आत्मा

के एकत्व की भावना से भावित होना चाहिए। पुनः पुनः 'अन्यत्व' भावना का चिंतन करना चाहिए। स्वजन–परिजनों से अपने आपको अलग समझने का प्रयत्न करें। ठीक है, उचित ढंग से व्यवहारों को निभाना है, परंतु भीतर में अलिप्त रहना है।

## दोस्ती का संबंध :

दुनिया में पति–पत्नी, भाई–बहन, पिता–पुत्र इत्यादि संबंधों का महत्त्व माना गया है, वैसे दोस्ती का संबंध भी महत्त्वपूर्ण माना गया है। कभी–कभी तो यह दोस्ती का संबंध सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण देखने में आता है।

जैसे अच्छा परिवार मिलना, यानी अच्छे संस्कारी परिवार में जन्म होना पुण्य–कर्म का फल है, वैसे अच्छा दोस्त मिलना भी पुण्यकर्म का ही फल होता है। प्राप्ति पुण्यकर्म से होती है, परंतु उस प्राप्ति को निभाना, गुणों का कार्य है ! गुणवान् मनुष्य दोस्ती को निभाता है।

एक बात समझ लेना कि सभी पुण्यशाली गुणवान् नहीं होते, वैसे सभी गुणवान् पुण्यशाली नहीं होते ! कुछ लोग पुण्यशाली होते हैं और गुणवान् भी होते हैं। कुछ लोग पुण्यशाली नहीं होते, गुणवान् होते हैं। कुछ लोग पुण्यशाली होते हैं, गुणवान् नहीं होते ! कुछ लोग पुण्यशाली नहीं होते और गुणवान् भी नहीं होते !

अच्छा गुणवान् दोस्त मिलना पुण्य का उदय होता है, परंतु उस संबंध को गुणवान् ही निभा सकता है। कोई भी संबंध में जब तीन भयस्थान पैदा होते हैं तब संबंध में दरार पड़ते देर नहीं लगती। वे तीन भयस्थान हैं –

* शंका।
* ईर्ष्या।
* स्वार्थ।

दोनों में से किसी एक के मन में ये तीन अथवा तीन में से एक भी बात पैदा होती है तब संबंध की मधुरता नष्ट हो जाती है। उस समय जो समझदार मित्र होगा वह तिरस्कार या शत्रुता नहीं रखेगा, परंतु 'उपेक्षा' करेगा। न राग, न द्वेष ! इससे मन का सुख नष्ट नहीं होता है !

## बीमारी में उपेक्षाभावना :

जब मनुष्य बीमार होता है, अपने काम स्वयं नहीं कर सकता है और वैसा पुण्यकर्म का उदय नहीं होता है कि स्वजन लोग उसकी सेवा करें; प्रेम से, करुणा

से अथवा कर्तव्यभावना से सेवा करें । तब सामान्य मनुष्य बहुत दुःखी होता है । स्वजनों के प्रति उसके मन में अप्रीति.... द्वेष... रोष पैदा होता है ।

परंतु यदि बीमार मनुष्य उस समय अपने मन में 'उपेक्षा' का चिंतन करता है, तो उसको राग-द्वेष नहीं सताते हैं । उसका चिंतन इस प्रकार होना चाहिए –

* 'ये मेरे स्वजन हैं,' ऐसी मेरी मान्यता गलत है । वास्तव में 'अन्योऽहं स्वजनात्' मैं स्वजन से अलग हूँ, भिन्न हूँ । स्वजनों से मेरा कोई संबंध नहीं है ।

* जिनको मैं स्वजन मानता रहा, वे यदि मेरी सेवा नहीं करते हैं, तो उनका दोष नहीं है । मेरा वैसा पुण्यकर्म नहीं है, इसलिए मेरी सेवा नहीं हो रही है ।

* 'मुझे स्वजनों के प्रति प्रेम भी नहीं रखना है, द्वेष भी नहीं रखना है ।'

* 'मेरी सेवा स्वजन नहीं करते हैं, कोई बात नहीं, दूसरे लोग तो मेरी कुछ-कुछ सेवा करते हैं न ? अस्पताल के डॉक्टर और नर्स वगैरह तो मेरा खयाल करते हैं न ? मुझे स्वजनों से सेवा की अपेक्षा ही नहीं रखनी है ।'

इस प्रकार 'उपेक्षा' का चिंतन करने से बीमार मनुष्य तूर्त ही मन में प्रसन्नता का अनुभव करते हैं । 'शान्तसुधारस' में कहा गया है –

'रुग्णाः प्रीतिं यत्समासाद्य सद्यः ।'

राग-द्वेष शान्त होने से 'सहज उदासीनता' प्रगट होती है और वही 'मध्यस्थ भाव' है । वही 'उपेक्षाभाव' है । आप लोग इस भाव को अवश्य आत्मसात् करें ।

## कर्मों की विचित्रता का चिंतन :

संसार में प्रत्येक जीवात्मा कर्मों से बद्ध है । हर जीवात्मा के अपने-अपने कर्म होते हैं और मनुष्य अपने-अपने कर्मों से प्रेरित भिन्न-भिन्न, अच्छी-बुरी, शुभ-अशुभ प्रवृत्ति करता है । भले ही वह मनुष्य अपने साथ किसी भी संबंध से संबंधित हो ! माता, पिता, भाई, बहन, पत्नी, पुत्र, मित्र.... सभी लोग अपने-अपने कर्मों के अनुसार प्रवृत्ति करते हैं । कोई प्रवृत्ति अपने लिए प्रिय होती है, कोई प्रवृत्ति अप्रिय होती है ।

कोई मनुष्य एक प्रवृत्ति करता है, वह प्रवृत्ति उसके कर्मों से प्रेरित होती है । परंतु अपन कल्पना करते हैं : 'यह अच्छी प्रवृत्ति करता है, अथवा यह बुरी प्रवृत्ति करता है !' यह केवल अपनी कल्पना होती है । अपन व्यर्थ ही प्रशंसा अथवा रोष करते हैं ।

एक मनुष्य पाप करता है, उसके कर्मों के उदय से ही वह पाप करता है,

अपन उसको रोक नहीं सकते । पाप नहीं करने का उपदेश दे सकते हैं, परंतु रोक नहीं सकते । हाँ, उसके पुण्यकर्म का उदय हो और वह पाप करते रुक जायं, यह बात दूसरी है ! इसलिए किसी भी मनुष्य को पाप करते हुए देखकर रोष नहीं करना है, करुणा से उसको समझाने का उपाय करना है । नहीं समझता है, तो उसके प्रति उदासीन बन जाना है, मध्यस्थ बन जाना है । यही उचित है । इससे मन में शान्ति बनी रहेगी । जीवों की अपनी-अपनी कर्म-परिणति का चिंतन करने से 'मध्यस्थ भाव' बना रहेगा ।

**सभा में से :** आजकल तो हमारे घरों में ही ऐसे पाप होते हैं... हम नहीं चाहते हैं, फिर भी होते हैं... । गलत प्रवृत्ति नहीं करने को कहते हैं, फिर भी घर के लोग नहीं मानते.... तब रोष आता ही है ।

**महाराजश्री :** रोष नहीं करना है । रोष करके पापकर्म नहीं बाँधने हैं । पाप वे लोग करें और पापकर्म आप बाँधो – ऐसा क्यों करना ? आप सोचें कि घर के प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने कर्म हैं; उनकी बुद्धि कर्म के अनुसार होती है । अपन उनको अच्छे संस्कार, अच्छी शिक्षा देते हैं । पापों से बचाने के हर उपाय करते हैं, फिर भी उनके पापकर्म, उनको गलत काम करने के लिए प्रेरित करते हैं – तो उनके प्रति रोष नहीं करना है, उनकी उपेक्षा करना है । उदासीन रहना है, मध्यस्थ भाव बनाये रखना है ।

## उपेक्षा के प्रति उदासीनता :

**सभा में से :** परंतु जब लड़के-लड़कों की माता.... हमारी उपेक्षा करते हैं, हमें महत्त्वहीन समझते हैं तब रोष आता ही है !

**महाराजश्री :** इसका कारण है आपका अज्ञान ! कर्मसिद्धान्त का अज्ञान ही आपको रोषायमान करता है ! दूसरा कारण है आपका ममत्व और तीसरा कारण है आपका अभिमान ।

पहला कारण है कर्मसिद्धान्त का अज्ञान ! एक समय.... जब घर के लोग आपकी बात, आपकी राय, आपकी आज्ञा मानते थे, घर में आपका ही महत्त्व था... अब इस समय परिवर्तन आ गया.... क्यों ? घर के लोग तो वे ही हैं ! आपके साथ उनका व्यवहार क्यों बदल गया ? आप क्यों उपेक्षित हो गये ? आप कहोगे- 'वे लोग बिगड़ गये....' वगैरह, नहीं, ऐसा मत सोचो । आपको सोचना है- 'मेरे पापकर्म का उदय आया है । जब तक मेरे पुण्यकर्म का उदय था तब तक घर

में मेरा महत्त्व था.... घर में मैं प्रिय था.... मेरी ही आज्ञा चलती थी, अब मेरे पापकर्मों का उदय होने से वे बातें नहीं रहीं, इसलिए मुझे मध्यस्थ भाव धारण कर, धर्मआराधना में तन-मन से लग जाना चाहिए ।'

दूसरा कारण है आपका ममत्व । आप सोचते हो - 'यह मेरी पत्नी है, इसलिए मेरा कहा मानना चाहिए', 'ये मेरे पुत्र हैं, इसलिए मेरी हर आज्ञा माननी चाहिए, 'ये मेरे छोटे भाई हैं, उनको मेरी बातें माननी चाहिए,' इस प्रकार 'ये मेरी पत्नी, ये मेरे पुत्र, ये मेरे भाई....' यह 'मेरा-मेरा' जो करते हो, यही ममत्व हैं, और यह ममत्व ही आपको दुःखी करता है । जब वे लोग - पत्नी-पुत्र, भाई वगैरह आपकी उपेक्षा करते हैं तब आप उनके प्रति ममत्व क्यों रखते हो ? तोड़ दो ममत्व के बंधन ! बिना ममत्व भी आप घर में रह सकते हो । जब ममत्व छूट जायेगा, उदासीन भाव आ जायेगा, तब उनकी आपके प्रति जो उपेक्षा होती है, वह आपको दुःख नहीं पहुँचायेगी ।

तीसरा कारण है आपका अभिमान । आप सोचते होंगे कि 'मेरी पत्नी को मैंने क्या नहीं दिया है ? मेरी हेसियत के अनुसार मैंने ज्यादा से ज्यादा सुख दिया है, अब वह सब भूल कर, मेरी उपेक्षा करती है... दुष्टा है...'

'मेरे लड़कों को मैंने कितना प्यार दिया था ? उनकी हर इच्छा को पूर्ण किया.... उनको पढ़ाया.... उनकी शादी की.... उनको व्यापार में लगाये.... अब वे कमाने लगे हैं, तो मेरी घोर उपेक्षा करते हैं.... ।'

इस प्रकार आपके मन में जो कर्तृत्व का अभिमान रहा हुआ है, वह आपको दुःखी करता है । कर्तृत्व का अभिमान वैसे भी बुरा है, इससे पापकर्मों का बंधन होता है । आप भूल जाइये कर्तृत्व को । आप सोचें - 'मैं कुछ नहीं करता । मैंने कुछ भी नहीं किया है । उन लोगों के पुण्यकर्म के उदय ने मेरे पास कुछ करवाया है ! मैंने कोई उपकार नहीं किया है ।' ऐसा सोचकर, घर के लोगों के प्रति मध्यस्थ भाव धारण करें । उनके प्रति प्रेम नहीं बताना है, न द्वेष । मन में भी राग-द्वेष नहीं रखना है । अभ्यास करने से ऐसी स्थिति आ सकती है । उनकी न निंदा करनी है, न प्रशंसा । मानोगे ये बातें ? मानोगे तो सुखी बनोगे !

## भगवान महावीर और जमालि :

'शान्तसुधारस' में कहा गया है -

**मिथ्या शंसन्वीरतीर्थेश्वराणां, रोद्धुं शेके न स्वशिष्यो जमालिः ।**
**अन्य को वा रोत्स्यते केन पापात्तस्मादौदासीन्यमेवात्मनीनम् ।**

'स्वयं परमात्मा महावीर स्वामी भी, अपने शिष्य जमालि को मिथ्या प्रतिपादन करते हुए रोक नहीं पाये ! तो फिर कौन किसको पाप करने से रोक सकता है ? इसलिए उदासीन–मध्यस्थ बन जाना ही हितकारी है ।'

शायद आप जमालि मुनि का प्रसंग जानते होंगे ? आज मैं जमालि मुनि का परिचय देता हूँ और भगवान के साथ उनकी जो दुःखद घटना घटी थी, वह भी बताता हूँ ।

श्रमण भगवान महावीर स्वामी विहार करते हुए क्षत्रियकुंड नगर में पधारे थे । देवों ने समवसरण की रचना की । भगवंत ने देशना दी । राजा नंदिवर्धन भक्ति से विशाल समृद्धि के साथ भगवंत को वंदन करने आये । उस समय भगवान का जमाई और भानजा जमालि भी भगवंत की देशना सुनने आया । भगवंत की पुत्री प्रियदर्शना भी देशना सुनने आयी । भगवंत का उपदेश सुनकर जमालि और प्रियदर्शना दोनों विरक्त हुए । पाँचसौ क्षत्रियकुमार विरक्त हुए और एक हजार महिलाएँ विरक्त हुई । इन सभी ने भगवंत के पास दीक्षा ली ।

प्रभु ने क्षत्रियकुंड से विहार किया । जमालि मुनि ने क्रमशः एकादश अंग–शास्त्रों का अध्ययन किया । प्रभु ने उनको एक हजार मुनि के आचार्य बनाये । जमालि मुनि ने उग्र तपश्चर्या शुरू की । साध्वी प्रियदर्शना भी तपश्चर्या करने लगी ।

एक दिन जमालि ने भगवंत को वंदना कर कहा : 'भगवंत, आपकी आज्ञा हो तो हम दूसरे क्षेत्रों में विहार करें ।' जमालि मुनि ने बार–बार पूछा, परंतु भगवंत ने प्रत्युत्तर नहीं दिया । भगवंत भविष्य में होनेवाला अनर्थ जानते थे । जमालि ने भगवंत के मौन का अर्थ संमति कर लिया, और एक हजार मुनियों के साथ उन्होंने अन्यत्र विहार कर दिया । साध्वी प्रियदर्शना ने भी एक हजार साध्वियों के साथ विहार किया ।

साधु–साध्वी विहार करते हुए श्रावस्ती नगरी पहुँचे । नगर के बाहर 'कोष्टक उद्यान' में जमालि ने मुनि–परिवार के साथ निवास किया । साध्वी प्रियदर्शना ने साध्वी–परिवार के साथ नगर में निवास किया ।

कुछ ही दिनों में जमालि को 'पित्तज्वर' की बीमारी हो गई । ज्वर से वे अति अशक्त बन गये । जमीन पर वे खड़े भी रह नहीं सकते थे । बेचैनी बहुत बढ़ने लगी ।

एक दिन जमालि ने साधुओं को कहा : 'मुझे सोना है, संस्तारक तैयार करो ।' पित्तज्वर से अति पीड़ित जमालि साधुओं को बार–बार पूछने लगे – 'क्या

संस्तारक बिछा दिया ?' साधुओं ने कहा – 'हाँ, संस्तारक हो गया ।' जमालि साधुओं के पास आये, देखा, तो संस्तारक अभी बिछाया जा रहा था । जमालि को क्रोध आ गया । साथ ही मिथ्यात्व–मोहनीय कर्म का उदय हो गया । उन्होंने साधुओं को कहा – 'अरे श्रमणों, जो कार्य होता हो, वह कार्य हो गया' – ऐसा नहीं कहना चाहिए । जो कार्य पूर्ण हो गया हो, उसी को 'हो गया' ऐसा बोलना चाहिए । अभी संस्तारक बिछाया जा रहा था और तुमने कहा – 'बिछा दिया है,' वह असत्य है । तुम्हें असत्य नहीं बोलना चाहिए । अरिहंत प्रभु जो कहते हैं कि 'जो कार्य होता हो, वह कार्य हो गया, ऐसा बोला जा सकता है,' यह बात सत्य नहीं है । प्रत्यक्ष विरोध दिखता है । इसलिए हे श्रमणों, सर्वज्ञता से प्रसिद्ध ऐसे अर्हन्त प्रभु असत्य बोलते ही नहीं, ऐसा मत समझना, वे भी कभी मिथ्या बोलते हैं । महान् पुरुषों की भी कभी भूल होती है ।'

जो स्थविर मुनि थे, उन्होंने जमालि मुनि को विनय से कहा – 'अरे मुनिराज, आप ऐसा विपरीत क्यों बोलते हो ? वीतराग सर्वज्ञ अर्हन्त प्रभु कभी मिथ्या–असत्य बोलते ही नहीं हैं । उनकी वाणी में कभी भी 'प्रत्यक्ष' वगैरह दोष का एक अंश भी नहीं होता है । केवलज्ञान के आलोक में तीन लोक के सभी पदार्थों को देखने और जाननेवाले ऐसे वीरप्रभु का कथन ही हम प्रमाणभूत मानते हैं । आपकी सभी युक्तियाँ मिथ्या हैं । हे जमालि मुनि, आपने जो कहा कि 'महान् पुरुषों की भी भूल होती है,' यह आपका वचन मत्त, प्रमत्त और उन्मत्त के वचन जैसा है । भगवान ने जो कहा है – 'कडेमाणे कड़े' – जो कार्य हो रहा हो, वह कार्य हो गया – ऐसा कहा जा सकता है । यह प्रतिपादन सही है । प्रभु के निर्दोष वचन को दूषित करते हुए आपको शर्म नहीं आती है क्या ? इस प्रकार जिनवचन को दूषित कर, निकाचित पापकर्म बाँधकर क्यों भवसागर में डूबते हो ? आप प्रभु के पास जाकर इसका प्रायश्चित्त ग्रहण करें । अन्यथा आपका व्रत और तप.... जन्म और जीवन निरर्थक हो जायेगा ।'

स्थविर मुनिवरों ने जमालि को बहुत समझाया, तो भी जमालि ने अपनी बात नहीं छोड़ी । वह मौन रहा । जो मुनि–परिवार था उसमें से कुछ मुनि प्रभु के पास चले गये और कुछ मुनि जमालि के साथ रहे ।

जमालि उन्मत्त होकर अपने मत का प्रचार करने लगा । भगवंत के उपदेश–वचनों का उपहास करने लगा और 'मैं सर्वज्ञ हूँ–' ऐसा कहता हुआ, मुनियों के साथ गाँव–गाँव फिरने लगा ।

एक बार, वीर भगवंत चंपानगरी के 'पूर्णभद्र' नाम के उद्यान में बिराजमान थे, जमालि उनके पास गया और बोला – 'हे भगवन्, आपके अनेक शिष्य केवलज्ञान पाये बिना ही मर गये, परंतु मैं वैसा नहीं हूँ । मैं सर्वज्ञ–सर्वदर्शी हूँ ।'

भगवंत तो मौन रहे, परंतु इन्द्रभूति गौतम ने पूछा – 'जमालि, यदि तू सर्वज्ञ है तो बता दे कि यह जीव और यह लोक शाश्वत् है या अशाश्वत् ?'

जमालि, गौतमस्वामी के प्रश्न का उत्तर नहीं दे सका । उसका मुँह नीचा हो गया । तब भगवंत ने कहा – 'जमालि, यह लोक और जीव, तात्त्विक दृष्टि से शाश्वत् भी है और अशाश्वत् भी है । द्रव्यरूप से शाश्वत् है, पर्यायदृष्टि से अशाश्वत् है ।'

जमालि ने भगवंत की बात सुन ली, कुछ बोला नहीं, वह समवसरण से चला गया । जनता को मालुम हो गया कि 'जमालि अज्ञान से वीरप्रभु से विपरीत होकर, मिथ्यात्वी बना है । न तो वह सर्वज्ञ है, न सर्वदर्शी ।'

साध्वी प्रियदर्शना भी अपनी एक हजार शिष्याओं के साथ जमालि के मत को मानने लगी थी । परंतु श्रावस्ती में जब वह 'ढंक' श्रावक के वहाँ रही थी, तब ढंक श्रावक ने उसको प्रयोगात्मक ढंग से समझाया था, प्रभु के वचनों की सत्यता सिद्ध की थी । इससे प्रियदर्शना, हजार साध्वियों के साथ प्रभु के पास चली गई थी और प्रभु से प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हुई थी ।

जमालि के साथ जो मुनिवर्ग था, ढंक श्रावक ने उन सभी को सत्य समझा कर प्रभु के पास भेज दिये थे । एक मात्र जमालि नहीं समझा था । मृत्युपर्यंत वह अकेला इस पृथ्वी पर विचरता रहा.... अंत में १५ दिन का अनशन किया । मर कर वह छट्ठे देवलोक में देव हुआ । परंतु किल्विषिक देव हुआ । इस पृथ्वी पर जैसे मनुष्यों में मंत्री.... चांडाल.... होते हैं, वैसे देवलोक में किल्विषिक देव होते हैं ।

जमालि की मृत्यु के समाचार सुन कर, गौतमस्वामी ने प्रभु को पूछा – 'हे भगवंत, महातपस्वी जमालि मरकर किस गति में पैदा हुआ है ?'

भगवंत ने कहा : 'गौतम, वह तपोधन जमालि, लांतक देवलोक में १३ सागरोपम का आयुष्यवाला किल्विषिक देव हुआ है ।'

गौतमस्वामी ने पूछा : 'प्रभो, उसने उग्र तप किया था, फिर भी वह किल्विषिक देव क्यों हुआ ?'

भगवंत ने कहा – 'जो मनुष्य, उत्तम आचारवाले धर्माचार्य, उपाध्याय, कुल, गण तथा संघ का विरोधी होता है, वह कितनी भी तपश्चर्या करें, तो भी वह निम्न कोटि का देव बनता है। जमालि इसीलिए किल्विषिक देव हुआ है। देव का आयुष्य पूर्ण होने के बाद वह पाँच भव तिर्यंच के, पाँच भव नरक के और पाँच भव मनुष्य के करेगा। पुनः वह 'बोधि' पायेगा और निर्वाण की प्राप्ति करेगा। इसलिए हे गौतम, कभी भी धर्माचार्य आदि के विरोधी नहीं होना।'

भगवान ने जमालि के प्रति मध्यस्थ भाव धारण किया था। हालाँकि वे तो वीतराग ही थे, फिर भी उन्होंने जमालि को सत्य समझाने के लिए आग्रह नहीं किया था।

जो कोई व्यक्ति आपकी बात नहीं मानता है, आपके प्रति शत्रुतापूर्ण व्यवहार करता है, जो दुर्बुद्धि होता है, उसके प्रति उपेक्षाभाव धारण करना है।

आज बस, इतना ही।

★ ★ ★

# प्रवचन : ९१

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में अंतिम सूत्र लिखा है –

'सत्त्वादिषु मैत्र्यादियोगः ।'

संसार के सभी जीवों के प्रति मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ भाव हृदय में धारण करने चाहिए । मैत्री, प्रमोद, करुणाभावों का विवेचन कर, मध्यस्थभाव के विषय में विवेचन कर रहा हूँ ।

जिन लोगों को 'सौभाग्य' नामकर्म का उदय नहीं हो, जिन लोगों को 'पराघात' नामकर्म का उदय नहीं हो, जिन लोगों को यशःकीर्ति नामकर्म का उदय नहीं हो, उन लोगों के लिए यह 'मध्यस्थ भावना' अति उपयोगी सिद्ध हो सकती है ।

– आप जहाँ भी जाते हो, वहाँ आपका यदि स्वागत नहीं होता है;

– आपकी बात घर के लोग अथवा बाहर के लोग नहीं मानते हैं;

– आपको किसी भी कार्य में यदि यश नहीं मिलता है;

तो आपके मन में दुःख होता है न ? कभी–कभी आपका मन निराशा से भर जाता है न ? कभी किसी व्यक्ति के प्रति रोष भी पैदा होता है न ? आप यदि मध्यस्थ भावना का अभ्यास करेंगे तो आपको दुःख नहीं होगा, निराशा आपसे दूर रहेगी और रोष पैदा ही नहीं होगा । आप सर्वदा और सर्वत्र सुख का ही अनुभव करेंगे । आपके मन में सदैव आनंद की तरंगें उठती रहेगी । पापकर्म के उदय के समय मध्यस्थ मनुष्य सुख से जी सकता है ।

## मध्यस्थ भाव से तीन लाभ :

जैसे ही आपके मन में मध्यस्थ भाव आया, आपका परम कल्याण के साथ संबंध जुड़ जायेगा । यह पहला लाभ है । दूसरा लाभ है इच्छित फल की प्राप्ति ! और तीसरा लाभ है सभी शास्त्रों के सारभूत तत्त्व की उपलब्धि ।

पहला लाभ है परम कल्याण के साथ संबंध बनता है । इसका अर्थ है वीतरागता के साथ आपकी दृष्टि बंधती है । मध्यस्थ भाव यानी अल्प समय के लिए राग–द्वेष से मुक्ति ! वही वीतरागता का 'सेम्पल' है न ! पुनः पुनः मन को राग–द्वेष से मुक्त करते रहने से वीतराग [illegible] मन आगे बढ़ता जाता है ।

दूसरा लाभ है इच्छित फल की प्राप्ति ! बड़ी महत्त्वपूर्ण यह बात है । मध्यस्थ भावना से, आप जो चाहते होंगे, आपकी इच्छा पूर्ण होगी ! मध्यस्थ भावना के साथ इष्ट फल की प्राप्ति का संबंध क्या है ? शायद आपने इस बात पर नहीं सोचा होगा ! सही बात है, वास्तविक बात है यह ।

आपकी इच्छा होगी कि घर के लोग अथवा बाहर के लोग आपकी बात मानें, आपको आदर दें, आपके लिए दो अच्छे शब्द बोलें । मध्यस्थ भाव धारण करने से ये बातें अवश्य बनेगी । आप किसी से रोष नहीं करेंगे, आप किसी से ज्यादा बात भी नहीं करेंगे.... न किसी से संबंध बनायेंगे.... । आपोआप, जो लोग आपसे दुर्व्यवहार करते होंगे, उनमें परिवर्तन आयेगा । धीरे धीरे वे आपकी इच्छा को मान देंगे । प्रयोग करके अनुभव करना ।

तीसरा लाभ सर्व शास्त्रों के सार की प्राप्ति ! शास्त्रों का सार है वैराग्य, वीतरागता । मध्यस्थ भाव का अर्थ भी यही है, राग–द्वेष का अभाव । यानी जो लोग अविनीत, उद्धत और पापी हैं, उनके प्रति विरक्ति होना, मध्यस्थ भाव हैं । दूसरे जो लोग गुणवान् हैं, विनीत हैं, धार्मिक हैं, उनके प्रति तो स्नेहभाव रखना ही है । इस प्रकार मन में दो प्रकार के भाव रखने के हैं – स्नेहभाव और मध्यस्थ भाव !

## जबरन धर्म भी नहीं कराने का :

धर्मक्रिया करनेवाले कुछ महानुभाव कहते हैं – 'जब घर के लोग धर्म करने से इन्कार कर देते हैं तब उनके प्रति रोष आ ही जाता है । उनके भले के लिए, उनके कल्याण के लिए कहते हैं, फिर भी नहीं मानते.... ।' इन महानुभावों को समझना चाहिए कि जब महान् शक्तिनिधान परमात्मा भी किसी से जबरन धर्म नहीं करवाते हैं, तो फिर अपन कैसे दूसरों से जबरन धर्म करवायेंगे ? तीर्थंकर यथार्थ धर्म का उपदेश अवश्य देते हैं, परंतु किसी पर दबाव नहीं डालते कि 'तुझे यह धर्मक्रिया करनी ही पड़ेगी ।'

कोई आपकी हितकारी बात नहीं मानता है तो आप छोड़ दो उस बात को । बार–बार कहने से वे लोग आपके प्रति दुर्भाव धारण करेंगे । द्वेषी बन जायेंगे । समझ लो कि दुनिया में ज्यादातर लोगों को 'आत्महित' की बातें पसंद ही नहीं होती हैं । उनको तो विषयानन्द, पुद्गलानन्द ही पसंद आता है । आप उनको जबरन आत्मानन्दी नहीं बना सकते ।

शायद आप नहीं जानते होंगे कि मानसिक, वाचिक और कायिक धर्मआराधना करने के लिए कुछ 'कर्मों का क्षयोपशम' होना आवश्यक होता है। मोहनीय कर्म का, अंतराय कर्म का, ज्ञानावरण कर्म का और दर्शनावरण कर्म का क्षयोपशम होगा, तभी मनुष्य धर्म कर सकता है, समझ सकता है। आपके कहने मात्र से कोई धर्म नहीं करेगा। इसलिए दुराग्रही नहीं बनना है।

## परचिंता का त्याग करें :

**सभा में से :** आप ही कहते हैं कि परिवार के लोगों की आत्मचिंता करनी चाहिए। उनका परलोक बिगड़ना नहीं चाहिए।

**महाराजश्री :** सही बात है, आत्मचिंता करनी चाहिए, परंतु तब तक करनी चाहिए कि आपकी मानसिक स्वस्थता बनी रहे। आपमें कषाय उत्पन्न न हो! जब सामनेवाला नहीं चाहता है कि आप उसकी आत्मचिंता करें, तो आप उसकी चिंता करना छोड़ दो। आप अपनी ही चिंता करते रहो! अपने अविकारी आत्मस्वरूप का चिंतन करते रहो!

वैसे भी परचिंता करना वर्ज्य है। कई बार तो मनुष्य फालतू परचिंता करता रहता है। कुछ लेना-देना नहीं हो, वहाँ पर भी वह परचिंता करता है और अपने मन को बिगाड़ता है। दूसरों की जो चिंता करना जरा भी आवश्यक नहीं होता है, वैसी चिन्ताएँ करना छोड़ना ही होगा। जिसको जो करना है, करने दो! किसी को काँटे इकट्ठे करने हैं, करने दो, किसी को आम्रफल इकट्ठे करने हैं, करने दो! आपको क्या लेना-देना उससे ?

## आत्मस्वरूप का चिंतन करें :

– दूसरों के विषय में अर्थहीन फालतू बातों की चिंता मत करो।

– जो आपकी हितकारी-कल्याणकारी बातें नहीं मानते हैं, उनकी भी चिंता करना छोड़ दो।

– ऐसी स्थिति में अपनी आत्मा का अविकारी स्वाभाविक स्वरूप देखें। विशुद्ध आत्मा के क्षायिक गुणों का चिंतन करें। अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य, वीतरागता, अक्षय चारित्र वगैरह गुणों का चिंतन करें। 'मैं अनामी हूँ, अरूपी हूँ, अक्षय स्थितिवाला हूँ, जन्म-मृत्यु से परे हूँ.... न उच्च हूँ, न नीच हूँ....।' इस प्रकार का चिंतन करते रहो। चिंतन करते-करते ज्योति-स्वरूप आत्मा के ध्यान में लीन बन जाना है। ऐसा करने से परम आत्मसुख का अनुभव होगा।

**सभा में से :** कुछ धर्मोपदेशक और दूसरे भाषण करनेवाले लोग शास्त्रविरुद्ध बातें करते हैं, उनके प्रति क्या करना चाहिए ?

**महाराजश्री :** शक्ति हो तो उनका विरोध करें, उनको रोकें, परंतु अपने मन में क्रोध–रोष पैदा नहीं होने दें । कोई मनुष्य दूध होने पर भी नहीं पीता है और मूत्र पीता है, तो अपन क्या कर सकते हैं ? जिसको जो पीना है, पीने दो ! श्रमण भगवान महावीर के समय में भी ऐसे ३६३ पाखंडी लोग थे, जो जिनवचन से विपरीत बोलते थे ! इस समय तो न कोई तीर्थंकर है, न कोई केवलज्ञानी.... अवधिज्ञानी या श्रुतज्ञानी है ! हम सब अपूर्ण ज्ञानी हैं ! इसलिए शास्त्र–आगम के अनुसार ही सोचना है और बोलना है !

परंतु कुछ बुद्धिमानों को अपनी बुद्धि का अभिमान होता है और यदि उसके कुछ लोग अनुयायी बन जाते हैं, तो वे शास्त्रों की बातों का उपहास करते हैं, अथवा शास्त्रीय बातों का मनमाना अर्थघटन करते हैं । कुतर्कों से वे अपने मंतव्यों को सही सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं । क्या करें ? ऐसे लोग जिनशासन में भी हुए हैं । ऐसे 'रोहगुप्त' नाम के आचार्य हो गये । उनका ऐतिहासिक वृत्तांत सुनाता हूँ ।

## आचार्य रोहगुप्त – एक निह्नव :

भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् ५४४ वर्षों के बाद 'अंतरंजिका' नाम की नगरी में 'रोहगुप्त' नामके आचार्य हुए थे ।

इसी नगरी में एक बार श्रीगुप्त नाम के आचार्य पधारे थे । नगरी के बाहर 'भूतगृह' नाम का एक चैत्य था । लोग ऐसा मानते थे कि इस मंदिर में भूतों का, व्यंतरों का वास है । लोग उस मंदिर में जाते नहीं थे, डरते थे । परंतु आचार्यश्री श्रीगुप्त उसी मंदिर में ठहरे । लोगों ने उनको सावधान किये थे, परंतु वे संयम के आराधक थे, अनेक विद्याओं के जानकार थे, निर्भय और समताशील थे । वे भूतगृह में रहने लगे । उनको किसी प्रकार का कष्ट नहीं हुआ, उपद्रव नहीं हुआ । इससे आचार्यदेव की चारों ओर प्रसिद्धि हुई ।

इसी श्रीगुप्त आचार्य के एक शिष्य थे, 'रोहगुप्त' उनका नाम था । एक दिन रोहगुप्त गुरुवंदन के लिए अंतरंजिका नगरी में आये । नगरी में प्रवेश करते ही उन्होंने एक घोषणा सुनी । वह घोषणा 'पोट्टशाल' नाम के एक परिव्राजक की थी । पोट्टशाल अपने पेट के ऊपर लोहे का पट्टा बाँधकर रखता था और हाथ

में जंबूवृक्ष की एक डाली रखता था। कोई उस तापस से पूछता, तो कहता – 'मेरे पेट में इतना ज्ञान भरा हुआ है कि पेट फट सकता है। इसलिए मैं लोहे का पट्टा पेट के ऊपर बाँध के रखता हूँ। और, जंबूद्वीप में अभी तक मुझे किसी ने हराया नहीं है इसलिए विजय की निशानी के रूप में यह जंबूवृक्ष की डाली हाथ में रखता हूँ।'

रोहगुप्त ने पोट्टशाल की वाद–विवाद की घोषणा सुनी। वैसे रोहगुप्त तीक्ष्ण बुद्धिवाले थे। वादकुशल थे। वाद–विवाद में उसको कोई हरा नहीं सकता था। रोहगुप्त ने पोट्टशाल को कहा : 'मैं तेरे साथ वाद करने के लिए तैयार हूँ। समय निश्चित कर, मुझे सूचित करना।'

रोहगुप्त अपने गुरुदेव आचार्य श्रीगुप्त के पास गये। विनय से वंदन कर, रास्ते में जो बात बनी थी वह बता दी। गुरु ने कहा : 'वत्स, पोट्टशाल परिव्राजक के साथ वाद करना उचित नहीं है। वह निम्न कक्षा की मैली विद्याओं का उपासक है। जब वह वाद में हारने लगता है तब अपनी विद्याओं से प्रतिवादी को साँप.... च्चिछू.... आदि से उपसर्ग करता है और हराता है।'

रोहगुप्त ने कहा : 'गुरुदेव, मुझे इस बात का पता नहीं था। मैंने उसको वाद करने का वचन दिया है, अब यदि मैं वचनपालन नहीं करूँगा तो अपनी प्रतिष्ठा तो जायेगी, साथ–साथ जिनधर्म की भी प्रतिष्ठा जायेगी। इसलिए अब अच्छा उपाय बताने की कृपा करें।

आचार्य श्रीगुप्त अनेक विद्याओं के ज्ञाता थे। पोट्टशाल जिन सात विद्याओं से उपसर्ग करता था, उनकी प्रतिविद्याएँ गुरुदेव जानते थे। गुरुदेव ने वे सात विद्याएँ रोहगुप्त को सीखा दी। गुरुदेव ने कहा : 'जब वह परिव्राजक सर्प उत्पन्न करें, तब तू नेवला उत्पन्न करना! जब वह बिच्छू उत्पन्न करें, तब तू मोर उत्पन्न करना, वह बिच्छू को भगा देगा।' इस प्रकार सातों प्रतिविद्याएँ सीखा दी।

तदुपरांत गुरुदेव ने अभिमंत्रित कर एक रजोहरण दिया और कहा – 'सात विद्याओं के ऊपरांत यदि वह कोई उपद्रव करें तो यह रजोहरण तेरे मस्तक ऊपर फेरना, तो वह परिव्राजक तुझे कोई हानि नहीं पहुँचा सकेगा।'

गुरुदेव को वंदन कर, निश्चित दिन को, रोहगुप्त वाद करने राजसभा में गये। 'बलश्री' नाम के राजा के सामने वाद शुरू हुआ। परिव्राजक ने सोचा – 'रोहगुप्त तीक्ष्ण बुद्धिवाला है। मैं जो भी पक्ष स्थापित करूँगा, वह उसका खंडन कर देगा। इसलिए अच्छा रास्ता वही है कि मैं जैनधर्म के सिद्धान्त का ही स्थापन

करूँ। इससे रोहगुप्त द्विधा में पड़ जायेगा। यदि वह मेरे पक्ष का समर्थन करेगा तो हार जायेगा और खंडन कर नहीं सकेगा !'

ऐसा सोचकर परिव्राजक ने अपना पक्ष स्थापित किया – 'इस संसार में दो ही राशि हैं – जीवराशि और अजीवराशि !'

रोहगुप्त क्षणभर द्विधा में पड़े, परंतु तत्काल खड़े होकर बोले – संसार में राशि दो नहीं, तीन होती हैं – जीवराशि, अजीवराशि और नो–जीवराशि।

– मनुष्य, पशु, पक्षी वगैरह जीवराशि है।

– घट, पट, पाषाण वगैरह अजीवराशि है।

– छिपकली की ताजी कटी हुई पूँछ नो–जीवराशि की है। चूँकि वह पूँछ जीवराशि में नहीं होती और अजीवराशि में भी नहीं मान सकते।

परिव्राजक ने सोचा भी नहीं था कि इस प्रकार रोहगुप्त जैन सिद्धान्त से विपरीत तर्क करेगा ! रोहगुप्त को परिव्राजक पराजित नहीं कर सका शास्त्रार्थ में, तब परिव्राजक ने सर्प वगैरह के उपद्रव शुरू किये। रोहगुप्त ने प्रतिविद्याओं के द्वारा उसका प्रतिकार किया। परिव्राजक ने अंत में गर्दभी पैदा कर रोहगुप्त की ओर छोड़ दी। रोहगुप्त ने, गुरुदेव का दिया हुआ रजोहरण अपने सर पर फेरा। गर्दभी वापस लौटी और परिव्राजक के ऊपर गिरी। परिव्राजक को जमीन पर गिरा दिया, उसके ऊपर मूत दिया और वहाँ से भाग गयी। परिव्राजक हार गया। राजा ने उसको नगरनिकाल की सजा दे दी। रोहगुप्त की विजय हुई। जैन संघ रोहगुप्त को स्वागत के साथ उपाश्रय में ले आये।

उपाश्रय में आने के बाद गुरुदेव को वंदना कर, राजसभा में जो वाद–विवाद हुआ था, वह सब सुनाया। गुरुदेव ने कहा – "परिव्राजक के ऊपर विजय पाया, अच्छा किया। जिनशासन की शान बढ़ायी, परंतु 'तीन राशि' में अपन मानते नहीं हैं। अपन दो राशि ही मानते हैं – जीव और अजीव। इसलिए कल राजसभा में जाकर इस बात का स्वीकार कर लेना। असत्य कथन का दोष दूर करना चाहिए।"

यह सुनकर रोहगुप्त मौन हो गया। उसके मन में विचार आये – 'जिस राजसभा में मैंने विजय पायी है, उस राजसभा में जाकर अपनी भूल का स्वीकार करने में मेरे स्वमानभंग का प्रश्न है। मैं इस प्रकार नहीं कर सकता।' उसने गुरुदेव को कह दिया – 'मैं अब राजसभा में जाकर ऐसा नहीं जाहिर कर सकता कि

'मैंने जो तीन राशि की स्थापना की थी वह गलत है, वास्तव में जैनदर्शन दो राशि ही मानता है।' गुरुदेव ने जब आग्रहपूर्वक उसको राजसभा में जाने को कहा, तब रोहगुप्त ने कह दिया – 'अब मैं ही तीन राशि मानता हूँ। इसलिए राजसभा में जाने का और भूल सुधारने का प्रश्न ही नहीं रहता!'

गुरुदेव श्रीगुप्ताचार्य को आश्चर्य हुआ। उन्होंने सोचा 'रोहगुप्त में मिथ्यादृष्टि उत्पन्न हो गई है।' उन्होंने रोहगुप्त को सत्य समझाने का कई दिनों तक प्रयत्न किया, तो भी रोहगुप्त नहीं माना, तब गुरुदेव ने कहा – "राजसभा में तू मेरे साथ वाद कर, 'नो–जीव' सिद्ध कर।"

राजसभा में गुरु–शिष्य के बीच वाद–विवाद चला। छः महीनों तक वाद चलता रहा। कोई निर्णय नहीं हो रहा था, तब गुरुदेव ने कहा : "अपन उस दुकान में चलें कि जहाँ दुनिया की सभी वस्तु मिलती हैं, वहाँ जाकर 'नो–जीव' मांगे! यदि 'नो–जीव' मिल जायं तो रोहगुप्त विजयी होगा, 'नो–जीव' नहीं मिलेगा तो रोहगुप्त हार जायेगा।'

राजा, मंत्री, नगरश्रेष्ठि और जैन संघ के अग्रणी लोगों के साथ गुरुदेव रोहगुप्त को लेकर वैसी दुकान में गये। गुरुदेव ने दुकान के मालिक को अलग–अलग १४४ प्रश्न पूछकर 'नो–जीव' मांगा। दुकान में 'नो–जीव' जैसी कोई वस्तु नहीं मिली।

गुरुदेव ने राजसभा में भी रोहगुप्त को पराजित किया। संसार में दो राशि ही है – जीव और अजीव, यह सिद्ध कर दिया। फिर भी रोहगुप्त के अभिमान ने गुरुदेव की बात मानने से इन्कार कर दिया। तब गुरुदेव ने उसके सर पर राख डालकर, संघ से बाहर कर दिया। उसके प्रति मध्यस्थ भाव धारण किया। रोहगुप्त ने बाद में अपना अलग मत चलाया, वही 'वैशेषिक दर्शन' कहलाया।

## जैसी गति वैसी मति :

यह ऐतिहासिक घटना बहुत ही चिन्तनीय है। गुरुदेव श्रीगुप्ताचार्य महान् ज्ञानी थे, महान् मांत्रिक थे... शक्तिशाली थे, फिर भी शिष्य के प्रति मध्यस्थ भाव धारण कर लिया। वे जानते थे कि जिस मनुष्य की जैसी गति होने की होती है, उसकी मति–बुद्धि वैसी ही होती है। जिस मनुष्य का जैसा भविष्य होता है, वैसा ही होनेवाला है। किसी का निश्चित भविष्य कोई बदल नहीं सकता है! तीर्थंकर भी नहीं बदल सकते। राजा श्रेणिक को जब भगवान महावीर ने कहा – 'श्रेणिक, तू मरकर नरक में जायेगा!' राजा श्रेणिक भगवान का परम

भक्त था। उसने कहा भगवान को – 'प्रभो, मैं आपका परम भक्त हूँ, मुझे आप नरक में जाने दोगे ?' भगवंत ने कहा – 'श्रेणिक, तेरा नरक में जाना निश्चित है, उसमें मैं भी परिवर्तन नहीं कर सकता, देवेन्द्र भी नहीं कर सकता !'

श्रेणिक नरकगामी था, इसलिए उसको निर्दोष प्राणियों का शिकार करने की दुर्बुद्धि आयी थी न ? गर्भवती हिरनी का उसने शिकार किया था। गर्भस्थ शिशु की भी मृत्यु हो गई थी ! 'मैंने एक साथ दो शिकार किये !' ऐसा आनन्द मनाया था ! जैसी गति वैसी मति !

कुछ मनुष्यों को अपन पाप करते हुए नहीं रोक सकते ! चूँकि उनकी गति ही निम्न हो, उसी प्रकार उसकी मति भी निम्न कोटि की ही होगी। भले ही वह महासती माता का पुत्र हो, संस्कारी परिवार में उसका जन्म हुआ हो... फिर भी उसकी मति तो उसकी गति के अनुसार ही होगी। ऐसे जीवों के प्रति मध्यस्थ भाव ही धारण करना है। उसके प्रति न राग करना है, न द्वेष ! इससे आपके मन में शान्ति बनी रहेगी। आंतरिक सुख बना रहेगा।

## भवितव्यता को कोई बदल नहीं सकता :

'शान्तसुधारस' में एक विशिष्ट प्रभाव पैदा करनेवाला सूत्र है –

'देन जनेन यथा भवितव्यं तद्भवता दुर्वारं रे... ।'

जिस जीव की जैसी भवितव्यता होती है, वह वैसा ही बनता है, उसको कोई रोक सकता नहीं है !

– स्थूलभद्रजी, महामंत्री शकडाल के पुत्र थे, फिर भी वे १२ वर्ष तक 'कोशा' वेश्या के वहाँ रहे थे न ? उनको कोई रोक नहीं सका था। बाद में.... पिता की मृत्यु के निमित्त को लेकर वे संसार का त्याग कर साधु बन गये थे.... उनको कोई नहीं रोक सका था !

– डाकू की भवितव्यता साधु बनने की होती है, तो वह साधु बन जाता है ! कोई उसको रोक नहीं सकता !

– साधु की भवितव्यता डाकू बनने की होती है, तो वह डाकू बन जाता है। कोई उसको रोक नहीं सकता !

'जैन रामायण' में श्रीराम के पूर्वजों का इतिहास बताया गया है। उसमें अयोध्या का राजा 'सोदास', जो कि महासती सिंहीका का पुत्र था, वह मांसाहारी बन गया था, मनुष्य–मांस का भक्षक बन गया था.... राज्यभ्रष्ट बना.... जंगलों में भटकता

नर–राक्षस बन गया था ! यह क्या था ? भवितव्यता ! बाद में ज्ञानी मुनिराज का संपर्क होना.... सहजता से दूसरे राज्य की प्राप्ति होना.... वैराग्य होना और साधु बनकर घोर तपश्चर्या करना.... अंत में मुक्ति होना.... यह सब क्या था ? भवितव्यता ! जिस जीव की जैसी भवितव्यता होती है, वह वैसा ही होगा । इसलिए दूसरों की चिंताएँ मत किया करो । दूसरों की निंदा–प्रशंसा भी मत किया करो ! वह जो कुछ करता है वह उसकी 'भवितव्यता' के अनुसार करता है ! आपके कहने से उसमें परिवर्तन आने का नहीं है !

## मायाजाल काटो, समताभाव घट में भरो..... तेरा आयुष्य थोड़ा ही है :

हर जीव की अपनी–अपनी भवितव्यता है, फिर क्यों दूसरे जीवों के प्रति माया–ममता रखना ? तोड़ दो मायाजाल को ! मायाजाल टूटेगी तभी चित्त में प्रसन्नता पैदा करनेवाली समता आयेगी । ममता के साथ समता नहीं रहती है ।

– ममता क्षणिक सुख देती है, बाद में तीव्र दुःख देती है ।

– समता सदैव सुख, शान्ति और प्रसन्नता देती है !

इस बात को अच्छी तरह समझ लेना । इस बात को सिद्ध करनेवाले अनेक ऐतिहासिक उदाहरण तो हैं ही, वर्तमान में आप लोग ही प्रत्यक्ष उदाहरण हो ।

एक भाई को मैं जानता हूँ । शादी होने के बाद १० वर्ष तक उसको पुत्र की प्राप्ति नहीं हुई थी, वह बहुत दुःखी था । पुत्र पाने के लिए उसने अनेक उपाय किये थे । १० वर्ष के बाद पुत्रप्राप्ति हुई । वह बहुत खुश हुआ । उत्सव रचाया । पुत्र के ऊपर उसका दृढ़ ममत्व बंध गया । जैसे जैसे लड़का बड़ा होता गया... अविनीत और उद्धत बनता चला । पंद्रह साल का जब लड़का हुआ.... उसके कारनामों से पिता दुःखी–दुःखी हो गया । उसका पुत्रमोह ही उसको दुःखी करता था । ममत्व का सुख ५–७ वर्ष रहा होगा.... ममत्व का दुःख वह २० वर्ष तक भोगता रहा.... अभी दो वर्ष पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गई । लड़के ने उसकी माँ को दुःख दिया । माँ से पैसे ले लिये, जेवर ले लिये.... और माँ को अकेली छोड़कर चला गया । माँ भी अभी–अभी मर गई । पुत्र का ममत्व.... पत्नी का ममत्व, पति का ममत्व, शिष्य का ममत्व.... सभी प्रकार के ममत्व दुःखी करनेवाले हैं । इसलिए ममत्व को तोड़ दो । समताभाव को हृदय में स्थिर करो.... । देर मत करो.... । आयुष्य थोड़ा शेष है.... कब मृत्यु आ जायं.... पता नहीं है । जिंदगी छोटी है ।

मृत्यु के पहले–पहले मध्यस्थ भाव को हृदय में स्थिर करना है । मृत्यु के समय हमारा चित्त तभी स्थिर, निर्मल और प्रसन्न रह सकेगा ।

पर–पुद्‌गल की, पर–पदार्थों की गुलामी नहीं करना है । जो पर–पदार्थ हैं, जो परद्रव्य हैं, वे कभी भी स्वद्रव्य होनेवाले नहीं हैं । इसलिए परद्रव्यों के निमित्त दीनता नहीं करना है । कभी नहीं करना है । पुद्‌गलपरवशता छोड़ देनी चाहिए । मिथ्या है पुद्‌गलपरवशता ।

– पुद्‌गलपरवशता के बंधन को तोड़ना है ।

– परद्रव्य के ममत्व को तोड़ना है ।

अपने शरीर से लगाकर जितने भी पुद्‌गल–द्रव्य हैं, उनकी मानसिक–परवशता तोड़ना है, छोड़ना है । एकमात्र साधन के रूप में ही उनका उपयोग करना है ।

अपनी आत्मा से पर.... जितनी भी अनन्त आत्माएँ हैं, जीवद्रव्य हैं; उनसे ममत्व नहीं रखना है । मैत्री रखना है, ममत्व नहीं रखना है । ममत्वरहित मैत्रीभाव रखना है । ऐसा मैत्रीभाव अखंड रहता है । सभी जीवों के साथ एक समान मैत्रीभाव रखना है । 'यह मेरा मित्र, वह मेरा शत्रु !' ऐसा नहीं करना है । 'संसार में मेरा एक भी जीव शत्रु नहीं है,' यह बात तो निश्चित समझ लेना है । ममत्व नहीं होगा, तो ही यह बात बनेगी ! पुद्‌गलपरवशता नहीं होगी, तो ही जीवमैत्री बनी रहेगी ।

## भीतर में है अनुपम तीर्थ :

पुद्‌गलपरवशता तोड़कर और परद्रव्यों का ममत्व तोड़कर, तू तेरे भीतर में जो अनुपम तीर्थ है – शुद्ध चैतन्य है, उसकी यात्रा पर चले जाना ! हाँ, अपने भीतर ही अनुपम तीर्थ है.... सबसे श्रेष्ठ तीर्थ है ! आँखें मूंदकर.... उस तीर्थ के पास चले जाना । वही अनुपम तीर्थ का स्मरण करना है, ध्यान करना है । इस शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा का स्मरण पुनः पुनः करते रहो । बस, आनंद ही आनन्द है !

बाहर के अनेक तीर्थों में परिभ्रमण करने से जो आनंद नहीं मिलता है, वो आनन्द इस भीतर के अनुपम तीर्थ की स्मृति करने से मिलता है । आप अनुभव करना । यह बात केवल बोलने की नहीं है, अनुभव करने की है ।

प्रत्येक मनुष्य इस भीतर के तीर्थ की यात्रा कर सकता है । स्वस्थ हो या

ग्लान हो, श्रीमंत हो या निर्धन हो, अपंग हो या सांगोपांग हो, साधु हो या संसारी हो ! हर मनुष्य इस अनुपम तीर्थ की यात्रा.... दिन में ९९ बार कर सकता है। कभी करना इस तीर्थ की ९९ यात्रा ! पालिताना जाकर ९९ यात्रा कर सको या नहीं कर सको, चलेगा, परंतु भीतर के इस अनुपम तीर्थ की तो ९९ यात्रा करना ही ।

मध्यस्थ भाव हृदय में होगा, तो ही यह यात्रा हो पायेगी । यह मध्यस्थ भाव, परब्रह्म की प्राप्ति का असाधारण कारण है । इसी मध्यस्थ भाव–उदासीन भाव से 'केवलज्ञान' के निकट पहुँचा जा सकता है ।

इस प्रकार आज मध्यस्थ भावना का विवेचन पूर्ण करता हूँ । इसके साथ चारों भावनाओं का विवेचन पूर्ण होता है । 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय के अंतिम सूत्र – "सत्त्वादिषु मैत्र्यादियोगः ।" का विवेचन पूर्ण होता है ।

आज बस, इतना ही ।

★ ★ ★

# प्रवचन : ९२

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय का उपसंहार करते हुए कहा है –

**विशेषतो गृहस्थस्य धर्म उक्तो जिनोत्तमैः ।**
**एवं सद्भावना सारः परं चारित्रकारणम् ।। १ ।।**

'जिनेश्वर भगवंतों ने विशेष रूप से जो गृहस्थ धर्म बताया है वह परम पुरुषार्थरूप जो मोक्ष है, उस मोक्षप्राप्ति के अनुकूल भावश्रावक धर्म है और इस जन्म में अथवा दूसरे जन्म में (भवान्तर में) चारित्रधर्म का अवंध्य हेतु है ।'

कहने का तात्पर्य यह है कि इस तीसरे अध्याय में जो भावश्रावक धर्म बताया गया है, वह चारित्रधर्म का असाधारण कारण है । यानी जो मनुष्य इस भावश्रावक धर्म का पालन करता है वह अवश्य चारित्रधर्म की प्राप्ति करता है । इस जन्म में करता है अथवा दूसरे जन्म में करता है । और चारित्रधर्म का यथोचित पालन कर वह मुक्ति प्राप्त करता है ।

## भावश्रावक धर्म :

इस तीसरे अध्याय में जो विशेष गृहस्थ धर्म बताया गया है वह श्रावक का भावात्मक धर्म है । हालाँकि बारह व्रतों का पालन करने की जो बातें कही गई हैं, वे क्रियात्मक धर्म की बातें हैं । परंतु उसके बाद जो बातें कही गई हैं वे सभी भावात्मक धर्म की बातें हैं । और भावात्मक धर्म की चारित्रधर्म की प्राप्ति का अवंध्य हेतु है ।

श्रावक धर्म के पालन का लक्ष्य चारित्रधर्म की प्राप्ति ही होना चाहिए । वैसे तो चारित्रधर्म की प्राप्ति तभी होती है जब 'चारित्रमोहनीय कर्म' टूटता है । प्रायः भावश्रावक धर्म के पालन से चारित्रमोहनीय कर्म अवश्य टूटता है । इसलिए भावश्रावक धर्म को चारित्रधर्म की प्राप्ति का 'अवंध्य' कारण कहा गया है ।

'हमारा चारित्रमोहनीय कर्म प्रबल है, इसलिए हमें चारित्रधर्म – साधुधर्म की प्राप्ति नहीं हो रही है,' ऐसा समझनेवाले लोगों को चाहिए कि वे चारित्रमोहनीय कर्म को तोड़ने के लिए श्रावक धर्म का पालन करें । भावश्रावक धर्म का पालन करें, तो 'चारित्रमोहनीय कर्म' अवश्य टूटेगा । इस जन्म में चारित्रधर्म की, साधु

धर्म की प्राप्ति होगी । यदि इस जन्म में प्राप्ति नहीं हुई तो आनेवाले जन्म में अवश्य प्राप्ति होगी । चारित्रधर्म का यथार्थ पालन कर, आत्मा अवश्य मुक्ति प्राप्त करेगी ।

## भगवान महावीर के १० महाश्रावक :

इस बात को भगवान महावीर स्वामी के १० श्रावक सिद्ध करते हैं । वे दसों महाश्रावक भावश्रावक धर्म का पालन करनेवाले थे । संक्षेप में उन महाश्रावकों की बातें बताता हूँ ।

– **आनंद श्रावक** ने बहुत से शील–व्रत आदि से आत्मा को भावित किया । २० वर्ष पर्यंत श्रावक धर्म का पालन किया । श्रावक धर्म की ११ प्रतिमाओं की विशिष्ट ध्यानात्मक आराधना की । एक महीने की संलेखना से आत्मा को निर्मल किया । अंत में अनशन कर, आलोचना–प्रतिक्रमण कर, समाधिमृत्यु प्राप्त की । सौधर्म देवलोक में वे देव हुए ।

वहाँ का देवायुष्य पूर्ण कर, आनंद श्रावक की आत्मा महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगी । वहाँ चारित्रधर्म का स्वीकार कर, पालन कर, सर्वकर्म का क्षय कर, उसी भव में मुक्ति पायेगी ।

– **भगवान के दूसरे महाश्रावक थे कामदेव** । कामदेव ने भी आनन्द श्रावक की तरह २० वर्ष तक भावश्रावक धर्म का पालन किया था । ११ प्रतिमाओं की आराधना की थी । एक महीने की संलेखना की थी.... अनशन किया था, आलोचना–प्रतिक्रमण कर समाधिमृत्यु पाये थे । वे भी सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुए और वहाँ का आयुष्य पूर्ण कर वे महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेंगे । चारित्रधर्म पायेंगे । सभी कर्मों का क्षय कर सिद्धि–मुक्ति पायेंगे ।

– **भगवान के तीसरे महाश्रावक थे 'चुलनीपिता'** । आपको मैंने पहले आनन्द–कामदेव के चरित्र प्रायः सुनाये हैं, परंतु 'चुलनीपिता' का चरित्र नहीं सुनाया है । इसलिए आज संक्षेप में उनका जीवनचरित्र सुनाता हूँ ।

वाराणसी–काशी नगरी के वे निवासी थे । उनकी पत्नी का नाम श्यामा था । वे बड़े धनवान थे । २४ करोड़ स्वर्णमुद्रा के वे मालिक थे । आठ गोकुल थे उनके । एक–एक गोकुल में १०/१० हजार गायें थीं ।

जब भगवान महावीर वाराणसी पधारें, तब चुलनीपिता ने भगवान का उपदेश सुनकर, आनन्द श्रावक की तरह गृहस्थ धर्म का स्वीकार किया और कुछ वर्षों

के बाद गृहस्थ जीवन से निवृत्त होकर, पौषधशाला में जाकर विशिष्ट धर्मआराधना करने लगे ।

एक रात्रि के अंतिम प्रहर में चुलनीपिता के सम्मुख एक देव प्रगट हुआ । हाथ में नीलकमल और तलवार लेकर बोला : 'यदि तुम अपना शील भंग नहीं करोगे तो तुम्हारे बड़े लड़के को घर से लाकर घात करूँगा.... काटकर उसे कड़ाही में उबालूँगा । उससे तुम्हारे शरीर को सींचूँगा । अत्यंत दुःख और पीड़ा से तू मर जायेगा ।'

परंतु चुलनीपिता निर्भय रहे, निश्चल रहे । दो–तीन बार धमकी देने पर भी जल चुलनीपिता विचलित नहीं हुए, तो देव ने बड़े लड़के को लाकर घात करने की माया रची । उसके शरीर को कड़ाहे में डालकर उबाला, उसके रक्त और मांस से चुलनीपिता के शरीर पर लेप किया.... फिर भी चुलनीपिता निश्चल रहे ।

देव ने दूसरे और तीसरे लड़के के वध वगैरह की वैसी ही मायाजाल रची, परंतु चुलनीपिता अडिग रहे ! देव ने क्रुद्ध होकर कहा – 'यदि तू अपने व्रत का भंग नहीं करता, तो तेरी माता भद्रा को घर से लाकर, तेरे सामने ही उसके प्राण लूँगा । तीन बार देव ने इस प्रकार डराने का प्रयत्न किया, फिर भी चुलनीपिता दृढ़ रहे ।

तीसरी बार देव ने जब मातृवध की बात कही, तब चुलनीपिता ने विचार किया – 'यह अनार्य पुरुष है । इसने मेरे तीन पुत्रों का घात किया, अब मेरी माता का वध करना चाहता है, मैं वध नहीं करने दूँगा ।' चुलनीपिता कायोत्सर्ग ध्यान पूर्ण कर, देव को पकड़ने दौड़े । देव तो अदृश्य हो गया, चुलनीपिता एक स्तंभ को पकड़ कर जोर–जोर से चिल्लाने लगे ।

उसकी आवाज सुनकर वहाँ भद्रामाता आयी और चिल्लाने का कारण पूछा । चुलनीपिता ने सारी बात बता दी । माता ने कहा 'वत्स, ऐसा कुछ भी नहीं हुआ, तीनों पुत्र सुखरूप हैं और मैं तेरे सामने हूँ ! वत्स, किसी देव ने तेरी परीक्षा करने के लिए यह मायाजाल रची होगी । कषाय के उदय से चलित–चित्त होकर उसे मारने की तेरी प्रवृत्ति हुई । इस घात की प्रवृत्ति से स्थूल प्राणातिपातविरमण–व्रत और पौषधव्रत का भंग हुआ । पौषधव्रत में सापराध और निरपराध सभी जीवों को मारने का त्याग होता है । इसलिए तुम आलोचना करो, प्रतिक्रमण करो और गुरुसाक्षी से निन्दा–गर्हा कर, यथायोग्य तपश्चर्यारूप

प्रायश्चित्त स्वीकार करो !' चुलनीपिता ने वैसा ही किया । उन्होंने ११ प्रतिमाओं का पालन किया । समाधिमृत्यु पाकर, सौधर्म देवलोक में देव हुए । वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेंगे । चारित्रधर्म स्वीकार कर मुक्ति पायेंगे ।

**चौथे श्रावक थे सुरादेव** । वे भी वाराणसी नगरी के ही निवासी थे । उनकी पत्नी का नाम धन्या था । वे अट्ठारह करोड़ सुवर्णमुद्राओं के मालिक थे । उनके ६ गोकुल थे । एक-एक गोकुल में १०/१० हजार गायें थीं ।

चुलनीपिता की तरह सुरादेव ने भी भगवान महावीर से श्रावक धर्म का स्वीकार किया था । कुछ वर्षों के बाद संसार से निवृत्त होकर वे पौषधशाला में धर्मध्यान में लीन रहने लगे । उनको भी देव ने डराने और विचलित करने का प्रयत्न किया था । चुलनीपिता की तरह वे भी अंत में क्रोध में आकर देव को पकड़ने दौड़े थे, चिल्लाने लगे थे । उनकी पत्नी ने आकर उनको शान्त किये थे । चुलनीपिता की तरह आलोचना, प्रतिक्रमण, निन्दा-गर्हा कर, समाधिमृत्यु पाकर, वे सौधर्म देवलोक में देव हुए । वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में जन्म पाकर, चारित्रधर्म का पालन कर, सभी कर्मों का क्षय कर, मुक्ति पायेंगे ।

**पाँचवे श्रावक थे चुल्लशतक** । वे आलंभिका नगरी के निवासी थे । वे भी अट्ठारह करोड़ स्वर्णमुद्राओं के धनी थे । गायों के ६ व्रज थे । एक-एक व्रज में १०/१० हजार गायें थीं । उनकी पत्नी का नाम बहुला था । उस चुल्लशतक ने भगवान महावीर से श्रावक धर्म का स्वीकार किया । भावपूर्वक श्रावक धर्म का पालन किया । सुरादेव की तरह उसने भी संसार से निवृत्त होकर, पौषधशाला में जाकर पौषधव्रत में रहना शुरू किया था । उनके ऊपर भी देव ने उपसर्ग किया था । सुरादेव की तरह ही सारी घटना बनी थी । समाधिमृत्यु पाकर वे भी सौधर्म देवलोक में देव हुए । वहाँ से वे महाविदेह क्षेत्र में जन्म पायेंगे । चारित्रधर्म का पालन कर वे मुक्ति पायेंगे ।

**छट्ठे श्रावक थे कुंडकोलिक** । वे कांपिल्यपुर के निवासी थे । उनकी पत्नी का नाम पुष्या था । उनके पास भी १८ करोड़ सुवर्णमुद्राएँ थी और ६ व्रज थे ।

कुंडकोलिक का सारा वृत्तांत चुल्लशतक जैसा ही है, केवल एक बात दूसरे प्रकार की है । देव का उपसर्ग अलग प्रकार से हुआ था ।

एक दिन कुंडकोलिक मध्याह्न के समय नगर के बाहर अशोकवन में गया था । वहाँ अपनी नाममुद्रिका और उत्तरीय वस्त्र एक शिला पर रखकर धर्मध्यान में लीन बने । उस समय वहाँ एक देव प्रगट हुआ । उसने शिला के ऊपर से

कुंडकोलिक की नाममुद्रिका और उत्तरीय वस्त्र उठा लिया । बाद में देव ने कुंडकोलिक को कहा – 'हे देवानुप्रिय कुंडकोलिक ! मंखलिपुत्र गोशालक का धर्ममत सुंदर है, क्योंकि उसके धर्ममत में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पराक्रम नहीं है ! सब कुछ नियति को आश्रित है । श्रमण भगवान महावीर का धर्मशासन अच्छा नहीं है । क्योंकि उसमें उत्थान.... पराक्रम आदि है, सब कुछ नियति–आश्रित नहीं माना गया है ।

श्रमणोपासक कुंडकोलिक ने कहा – 'हे देव ! मंखलिपुत्र गोशालक का धर्ममत, उत्थान आदि नहीं होने से और सब भाव नियति–आश्रित होने से अच्छा है और भगवान महावीर का धर्म, उत्थानादि होने से और सब भाव नियति–आश्रित नहीं होने से अच्छा नहीं है – यह मान लिया जाय तो हे देव ! आपको यह दिव्य ऋद्धि, देवद्युति और दिव्य देवानुभाव कैसे प्राप्त हुए ? उत्थानादि से प्राप्त हुए अथवा पराक्रमहीनता से ?

देव ने कहा – 'हे देवानुप्रिय, मैंने यह देवऋद्धि वगैरह पराक्रम आदि के अभाव में प्राप्त किया है ।'

कुंडकोलिक ने कहा : 'यदि यह देवऋद्धि वगैरह उत्थान, पुरुषार्थ आदि के अभाव में प्राप्य हैं तो जिन जीवों में उत्थानादि नहीं है और पराक्रम नहीं है, वे सभी देव क्यों नहीं होते ? इसलिए आप जो भगवान महावीर की धर्मदेशना अच्छी नहीं बताते और गोशालक की धर्मदेशना अच्छी बताते हो – यह बात मिथ्या है ।'

देव, कुंडकोलिक को उत्तर नहीं दे सका । कुंडकोलिक की नाममुद्रिका और उत्तरीय वस्त्र वहाँ रखकर वह अदृश्य हो गया ।

दूसरे दिन भगवान महावीर कांपिल्यपुर में पधारे । सहस्र आम्रवन में समवसरण हुआ । कुंडकोलिक सपरिवार भगवान को वंदन करने गया । धर्मदेशना के बाद भगवान ने कुंडकोलिक को देव के आगमन के विषय में पूछा । कुंडकोलिक ने सारी बात बता दी ।

भगवान ने वहाँ उपस्थित श्रमणों को संबोधित करते हुए कहा – हे आर्यो ! गृहस्थावास में रहकर भी यह कुंडकोलिक श्रमणोपासक हेतु, प्रश्न, कारण, व्याकरण और उत्तर के संबंध में अन्य मतावलम्बियों को निरुत्तर करता है, तो हे आर्यो ! द्वादशांग गणिपिटक का अध्ययन करनेवाले श्रमण–निर्ग्रन्थ तो सुतरां अन्य मतवालों को निरुत्तर कर सकते हैं ।'

कुंडकोलिक १४ वर्ष तक भावश्रावक धर्म का पालन करता रहा। १५वे वर्ष के बीच उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र को गृहभार सौंप दिया। वे पौषधशाला में रहकर धर्मध्यान में निमग्न बने। ११ प्रतिमाओं की पालना की। समाधिमृत्यु पाकर, सौधर्म देवलोक में देव हुए। वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में जन्म पायेंगे। चारित्रधर्म की पालना कर, मुक्ति में जायेंगे।

**सातवे श्रावक थे सद्दालपुत्र**। ये महाश्रावक पोलासपुर के निवासी थे। उनकी पत्नी का नाम था अग्निमित्रा। वे तीन करोड़ स्वर्णमुद्राओं के धनी थे। उनके पास १० हजार गायों का एक व्रज था।

यह महाश्रावक सर्वप्रथम मंखलिपुत्र गोशालक के उपासक थे। एक दिन सद्दालपुत्र मध्याह्नकाल में अशोकवन में गये थे और धर्मध्यान में निमग्न थे। उस समय उनके सामने एक देव प्रगट हुआ। देव ने सद्दालपुत्र को कहा। – 'भविष्य में यहाँ महामाहण आनेवाले हैं। वे ज्ञान–दर्शन को धारण करनेवाले हैं, अतीत–वर्तमान और भविष्य को जाननेवाले हैं, वे अरिहंत हैं, जिन हैं, केवली हैं, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं। तीनों लोक के लिए अवलोकनीय, महित और पूजित हैं। देव–दानव–मानव सबके लिए अर्चनीय, वंदनीय, सत्कारयोग्य और सम्मानयोग्य हैं। कल्याणकारी हैं, मंगलकारी हैं। देव और चैत्य के समान उपास्य हैं, वैसे महापुरुष आनेवाले हैं। इसलिए हे सद्दालपुत्र, तू उनको वंदना करना, उनकी पर्युपासना करना। तू उनको पीठ, फलग, शय्या, वसति और संस्तारक के लिए आमंत्रित करना।' इस प्रकार तीन बार कहकर वह देव अदृश्य हो गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही वहाँ भगवान महावीर पधारे। सद्दालपुत्र को मालुम हुआ। उसने सोचा – 'मैं उनके पास जाकर उनको वंदना करूँ.... उनकी पर्युपासना करूँ।' उसने स्नानादि कर, शुद्ध वस्त्र परिधान किये और परिवारसहित वह महस्राम्रवन में भगवान के पास गया। भगवान को तीन प्रदक्षिणा दी, वंदना की और पर्युपासना की। भगवंत का धर्मोपदेश सुना। उपदेश के बाद भगवंत ने सद्दालपुत्र को कहा – 'हे महानुभाव, कल मध्याह्न में तेरे पास एक देव आया था?' देव ने जो कुछ कहा था, भगवान ने कह सुनाया और कहा – 'हे सद्दालपुत्र, उस देव ने ये बातें मंखलिपुत्र गौशालक के लिए नहीं कही थी।'

यह सुनकर सद्दालपुत्र ने सोचा – 'ये सर्वज्ञ–सर्वदर्शी भगवान महावीर मेरे वंदन–नमस्कार करने योग्य हैं। पीठ, फलक, आसन आदि के लिए आमंत्रित करने योग्य हैं।' उसने खड़े होकर भगवान को कहा – 'हे भदंत, पोलासपुर नगर

के बाहर मेरी कुंभकार की ५०० दुकानें हैं। आप वहाँ पधारे और वहाँ निवास करें।' भगवान ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की और वहाँ स्थिरता की।

एक दिन सद्दालपुत्र, हवा से कुछ सुखे हुए मिट्टी के पात्र धूप में सूखने के लिए रख रहा था, उस समय भगवान ने उसको पूछा : 'हे सद्दालपुत्र, ये मिट्टी के भाजन कहाँ से आये और कैसे उत्पन्न हुए ?'

सद्दालपुत्र ने कहा – 'यह पहले मिट्टी थी। इसे पानी में भिगोया गया। फिर राख और गोबर मिलाया गया। चाक पर चढ़ाया गया... उसके बाद भाजन बना।'

भगवान ने पूछा : 'ये मिट्टी के भाजन उत्थान से.... यावत् पुरुषार्थ से उत्पन्न होते हैं या बिना पुरुषार्थ से ?'

सद्दालपुत्र ने कहा – 'भगवान, ये भाजन बिना पुरुषार्थ बनते हैं, सब कुछ नियत हैं !'

भगवान ने कहा – 'हे सद्दालपुत्र, यदि कोई पुरुष तुम्हारे ये मिट्टी के भाजन चुरा ले जाय, अथवा यत्र-तत्र फेंक दे, अथवा फोड़ डाले.... अथवा तुम्हारी पत्नी अग्निमित्रा के ऊपर बलात्कार करे, तो क्या तू उसे दंड देगा या नहीं ?'

'हाँ, भगवन्, मैं उस पुरुष पर आक्रोश करूँगा, उसका हनन करूँगा, तर्जना करूँगा, ताड़न करूँगा.... मार डालूँगा।'

'महानुभाव, यदि सर्वभाव नियत हैं तो फिर ऐसा ताड़न वगैरह करना गलत है, मिथ्या है। नियत भाव घटते हैं तो फिर घटने दो ! ताड़न वगैरह क्यों करना ?'

सद्दालपुत्र ने गोशालक का नियतिवाद छोड़ दिया, और भगवान महावीर का श्रमणोपासक बन गया। १४ वर्ष तक उसने विविध प्रकार के व्रत-शील आदि का पालन किया। १५वे वर्ष में निवृत्त होकर पौषधशाला में धर्मध्यान में निमग्न बने।

एक दिन रात्रि के समय उनके सत्त्व की परीक्षा करने देव आता है। 'चूलनीपिता' श्रावक की तरह देव उपसर्ग करता है। अंत में सद्दालपुत्र आलोचना-प्रतिक्रमण कर, समाधिमृत्यु पाते हैं। देवलोक में देव होते हैं। देवायुष्य पूर्ण होने पर वे महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेंगे। वहाँ चारित्रधर्म स्वीकार करेंगे। सर्व कर्मों का क्षय कर, मुक्ति पायेंगे।

उच्च कोटि के श्रावक धर्म का पालन, चारित्रधर्म का हेतू बनता है !

आठवे महाश्रावक थे महाशतक। महाशतक राजगृह के रहनेवाले थे। उसकी

रेवती वगैरह १३ पत्नियाँ थी । उनके पास २४ करोड़ स्वर्णमुद्राएँ थीं ।

भगवान महावीर के पास महाशतक ने, आनंद श्रावक की तरह श्रावक धर्म स्वीकार किया । उसकी पत्नी रेवती ने ईर्ष्या से प्रेरित होकर १२ सपत्नियों को शस्त्रप्रयोग से एवं विषप्रयोग से मार डाला और उनकी संपत्ति पर अधिकार कर लिया । रेवती मांसाहार और मदिरापान करने लगी ।

महाशतक को शीलव्रत के साथ आत्मा को भावित करते १४ वर्ष व्यतीत हो गये । बाद में गृहकार्यों से निवृत्त होकर पौषधशाला में रहने लगा, धर्मध्यान में निमग्न रहने लगा ।

एक दिन रेवती मदिरापान कर, मत्त–उन्मत्त होकर, नशे में डगमगाती हुई, केश को बिखेरती हुई, उत्तरीय वस्त्र को दूर करती हुई.... शृंगार कर पौषधशाला में पहुँची । मोहोन्माद–उत्पादक और शृंगारिक हावभाव प्रदर्शित करती हुई वह महाशतक को कहने लगी.... 'धर्म की इच्छावाले, स्वर्ग की इच्छावाले, मोक्ष की इच्छावाले.... धर्म की आकांक्षावाले, धर्म की पिपासावाले हे महाशतक, तुम्हारे धर्म, पुण्य, स्वर्ग और मोक्ष का क्या फल है ? तुम मेरे साथ भोगने योग्य भोग नहीं भोगते हो ?'

महाशतक ने रेवती की बात पर ध्यान नहीं दिया । वे धर्मध्यान में ही लीन रहे । रेवती वापस घर में चली गई । महाशतक ने ११ प्रतिमाओं की आराधना पूर्ण की । घोर तपश्चर्या से महाशतक कृश–दुर्बल हो गये । उन्होंने मरणान्तिक संलेखना की, अनशन किया और समाधिमृत्यु की कांक्षा करने लगे । शुभ अध्यवसाय से उनको अवधिज्ञान हो गया ।

पुनः रेवती उन्मत्त होकर पौषधशाला में आयी और पूर्ववत् बोलने लगी । तीन–तीन बार वह वही भोगप्रार्थना करने लगी । तब महाशतक ने कहा – 'रेवती, तू सात दिनों में विषूचिका रोग से, आर्तध्यान करती हुई, अत्यन्त दुःखी होकर असमाधि में मरेगी । मरकर पहली नरक में जायेगी ।' रेवती वैसे ही मरकर नरक में गयी ।

उस समय भगवान महावीर राजगृह में पधारे थे । उन्होंने गौतम स्वामी को महाशतक–रेवती का वृत्तांत सुनाकर कहा – 'हे गौतम, तुम महाशतक के पास जाकर कहो कि 'तुमने जो रेवती को कटु–कठोर वचन कहे, वह उचित नहीं था, इसलिए तुझे आलोचना कर, यथायोग्य प्रायश्चित्त करना चाहिए ।'

गौतम स्वामी महाशतक के पास गये । भगवान का संदेश कह सुनाया । महाशतक ने बात स्वीकार कर ली । महाशतक ने २० वर्ष तक श्रावक धर्म का पालन किया । समाधिमृत्यु पाकर वे सौधर्म देवलोक में देव हुए । वहाँ से वे महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होंगे । चारित्रधर्म स्वीकार कर, मुक्ति पायेंगे ।

**नौवे महाश्रावक थे नंदिनीपिता** । वे श्रावस्ती नगरी के निवासी थे । उनके पास १२ करोड़ स्वर्णमुद्राएँ थीं । चार व्रज थे । उनकी पत्नी का नाम 'अश्विनी' था । नंदिनीपिता ने १४ वर्ष तक श्रावक धर्म का पालन किया, पंदहवे वर्ष में गृहकार्यों से निवृत्त होकर पौषधशाला में जाकर, धर्मध्यान में लीन रहने लगे । इस प्रकार २० वर्ष तक श्रावकधर्म का पालन कर, देवलोक में उत्पन्न हुए । वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में जन्म पायेंगे । चारित्रधर्म की आराधना कर मोक्ष पायेंगे ।

**दसवे महाश्रावक थे सालिहीपिता** । वे श्रावस्ती नगरी के निवासी थे । उनके पास १२ करोड़ स्वर्णमुद्राएँ थीं । चार व्रज थे । उनकी पत्नी का नाम था फाल्गुनी । सालिहीपिता ने भगवान महावीर से श्रावक धर्म स्वीकार किया ! श्रावकों की ११ प्रतिमाओं का पालन किया । समाधिमृत्यु पाकर वह देवलोक में देव हुए । वहाँ से वे महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेंगे । चारित्रधर्म का स्वीकार कर, सभी कर्मों का क्षय कर, वे मोक्ष में जायेंगे ।

इन दसों श्रावकों की श्रावक धर्म की आराधना लगभग समान थी । इन सभी श्रावकों ने दर्शन, व्रत, सामायिक, पौषध, कायोत्सर्ग प्रतिमा, ब्रह्मचर्यपालन, सचित्त आहार का त्याग, आरंभवर्णन, और ११ प्रतिमाओं का पालन किया । २० वर्ष तक श्रमणोपासक धर्म का पालन किया, एक महीने का अनशन किया, सौधर्म देवलोक में उनका ४ पल्योपम वर्ष की आयुष्य–स्थिति है, और बाद में वे सभी महाविदेह क्षेत्र में जन्म पाकर, चारित्रधर्म स्वीकार कर, मोक्ष में जायेंगे ।

## भावश्रावक धर्म से अवश्य चारित्रप्राप्ति :

ग्रंथकार ने श्रावक धर्म की महिमा बताते हुए कहा है – 'परं चारित्र कारणम्' । श्रावक धर्म के यथार्थ पालन से अवश्य चारित्रधर्म की प्राप्ति होती है । इस भव में अथवा भवान्तर में ! भगवान महावीर के १० महाश्रावकों ने भावश्रावक धर्म का पालन किया था, तो उन सभी को महाविदेह क्षेत्र में चारित्रधर्म की प्राप्ति होनेवाली है और वे सभी मोक्ष में जायेंगे ।

आप भी यदि मुक्ति के अभिलाषी हो, संसार–सागर को पार करना चाहते हो, तो भावश्रावक धर्म का अच्छा पालन करो । इस जन्म में चारित्रधर्म स्वीकार करने का सौभाग्य मिल जाय तो अच्छा है, अन्यथा दूसरे जन्म में तो अवश्य

चारित्रधर्म की प्राप्ति होगी । मान लो कि तीन भव में मुक्ति नहीं हुई, तो ज्यादा से ज्यादा आठ भव में तो मुक्ति होगी ही ।

**सभा में से :** मुक्ति के प्रति द्वेष नहीं है, परंतु मुक्ति पाने की कोई तमन्ना नहीं जगी है हृदय में ।

**महाराजश्री :** दुःखों से मुक्ति पाना चाहते हो, संसार से मुक्ति पाना नहीं चाहते ! भूलना नहीं कि, जब तक संसार में रहोगे तब तक दुःखों से मुक्ति नहीं मिलेगी । संसार दुःखरूप ही है । इसलिए 'मुझे दुःखरूप संसार से मुक्ति पाना ही है,' यह निर्णय तो करना ही होगा ।

गृहस्थ जीवन में रहते हुए, गृहस्थ जीवन के सामान्य धर्म और विशेष धर्म का यथाशक्ति पालन करते रहना चाहिए । यह धर्मपालन तभी हो सकेगा, जब आपके हृदय में मूलभूत गुण 'भववैराग्य' होगा । भावश्रावक धर्म का यथार्थ पालन 'भववैराग्य' होगा, तो ही होगा ।

इसलिए तो 'जयवीयराय' सूत्र में सर्वप्रथम परमात्मा से भवनिर्वेद–भववैराग्य मांगते हैं । मार्गानुसारिता भी भववैराग्य पर निर्भर है । सम्यग् दर्शन के पूर्व, मिथ्यात्व की भूमिका पर भी भववैराग्य होना जरूरी है । तो ही योग और अध्यात्म का प्रारंभ हो सकता है ।

योग की पहली 'मित्रा–दृष्टि' में 'भवोद्वेगश्च सहजः' बताया है । सहज रूप से भवोद्वेग–भववैराग्य पैदा होता है । वैसे तो पहली चार दृष्टि मिथ्यात्व की अवस्था में होती है । परंतु उस अवस्था में भी जीव का आध्यात्मिक विकास होता रहता है । उस आध्यात्मिक विकास का आधार होता है भववैराग्य ।

जैसे जैसे वैराग्यभावना वृद्धि पाती जायेगी वैसे वैसे आत्मा चारित्रधर्म के निकट पहुँचती जायेगी । सहज भाव से आत्मा में चारित्र–गुण का आविर्भाव होगा । चारित्रवंत महात्माओं के प्रति स्नेह–सद्भाव पैदा होगा । चारित्रधर्म की बातें प्रिय लगेंगी ।

गृहस्थ धर्म की, श्रावक धर्म की क्रियात्मक और भावात्मक कितनी सारी बातें ग्रंथकार ने बतायी हैं ! ऐसा जीवन जीना मुश्किल भी नहीं है । वर्तमानकाल में भी, यदि आप पक्का निर्णय कर लो तो आसानी से श्रावक जीवन जी सकते हो । ऐसा आदर्श श्रावक जीवन जीकर, चारित्रधर्म की ओर अग्रसर बनो, यही मंगल कामना ।

आज बस, इतना ही ।

★ ★ ★

# प्रवचन : ९३

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय का उपसंहार करते हुए कहा है –

**विशेषतो गृहस्थस्य धर्म उक्तो जिनोत्तमैः ।**
**एवं सद्भावनासारः परं चारित्रकारणम् ।।**

जिनेश्वर भगवंतों ने जो भावश्रावक धर्म बताया है, वह श्रावक धर्म, चारित्रधर्म का अवंध्य कारण बताया है । यानी जो महानुभाव भावश्रावक धर्म की यथार्थ आराधना करता है उसके चारित्रमोहनीय कर्म का क्षयोपशम होता ही है और वह चारित्रधर्म को पा लेता है । कोई आत्मा इसी जन्म में चारित्रधर्म की प्राप्ति करता है, कोई जीव भवांतर में चारित्रधर्म की प्राप्ति करता है । कल आपको श्रमण भगवान महावीर के १० श्रावकों का जीवन बताया था । उन महाश्रावकों ने भावश्रावक धर्म की सुंदर आराधना की थी.... तो तीसरे भव में वे महाविदेह क्षेत्र में चारित्रधर्म पायेंगे और मुक्ति में जायेंगे ।

**सभा में से :** आपने कल बताया था कि भगवान के दसों श्रावकों ने श्रावक की ११ प्रतिमाओं की आराधना की थी, वे 'प्रतिमा' क्या होती हैं और उनकी आराधना कैसे होती हैं ?

**महाराजश्री :** वैसे आजकल वर्तमानकाल में प्रतिमाओं की आराधना श्रावक नहीं करते हैं, फिर भी अशक्य नहीं है । आज मैं आपको ११ श्रावक–प्रतिमाओं के विषय में बताता हूँ । आप लोग जानोगे तो वैसी आराधना करने की तमन्ना–भावना तो पैदा होगी ही !

**पहली है दर्शन–प्रतिमा ।** दर्शन यानी सम्यक्त्व, सम्यग् दर्शन ! पहली प्रतिमा में सम्यक्त्व की दृढ़ता बनाये रखने की होती है । सम्यक्त्व के पाँच गुण – प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्तिक्य – इन गुणों को आत्मसात् करते हुए सम्यक्त्व को हृदय में धारण करना है ।

सम्यक्त्व को दूषित करनेवाले जो पाँच दोष हैं, उन दोषों से बचकर रहना है । शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि प्रशंसा और मिथ्यादृष्टि–संस्तव – ये पाँच दोष हैं । इन दोषों से बचना है, वैसे मिथ्या अभिनिवेश से भी बचना है ।

वैसे तो श्रावक सम्यग् दृष्टि ही होता है, परंतु एक महीने की इस पहली प्रतिमा की आराधना में 'राजाभियोग' वगैरह जो ६ अपवाद बताये गये हैं, उन अपवादों का यहाँ उपयोग नहीं करने का है । इच्छा नहीं होते हुए भी प्रवृत्ति करनी पड़े, इसको 'अभियोग' कहते हैं । राजा उपद्रव करे, स्वजन वगैरह उपद्रव करे, कोई बलात्कार करे, कोई देव उपद्रव करे, कोई जंगल में आपत्ति आये अथवा गुरु वगैरह का आग्रह हो.... कुछ भी हो जाय, तो भी विचलित नहीं होने का । अपने सम्यक्त्व में, श्रद्धा में स्थिर रहने का ।

विशेष रूप में इस पहली प्रतिमा में सम्यक्त्व के ६७ प्रकार के आचारों का पालन करने का होता है । लोभ-लालच से अथवा भय से विचलित नहीं होने का है । सम्यक्त्व की दृढ़ता कैसी होती है, यह जानने के लिए अर्हन्नक श्रावक का, श्रेणिक महाराजा का एवं कृपण महाराजा आदि के जीवन-चरित्र पढ़ने चाहिए । उन लोगों की तो देवलोक के देव परीक्षा करते थे । वे देवों की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए थे । आजकल देव आते नहीं । अपन निःसत्त्व हैं । निःसत्त्व जीवों की देव परीक्षा नहीं लेते !

**दूसरी है व्रत-प्रतिमा** । इस प्रतिमा का पालन दो महीने तक करने का है । पाँच अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतों का निरतिचार पालन करने का होता है । सम्यक्त्वसहित १२ व्रतों का सम्यक् पालन करने से आत्मभाव विशेष निर्मल होता है । १२ व्रत और उसके अतिचार आपको पहले समझाये हुए हैं ।

**तीसरी है सामायिक-प्रतिमा** । इस प्रतिमा का आराधनकाल तीन महीने का है । पापप्रवृत्ति के त्यागरूप और निष्पाप प्रवृत्ति के आसेवनरूप 'सामायिक' होता है । प्रतिदिन सुबह और शाम सामायिक करने का होता है । सम्यक्त्व एवं व्रतपालन के साथ सामायिक की आराधना करता हुआ श्रावक समभाव-समता को आत्मसात् करने का प्रयत्न करता है ।

**चौथी है पौषध-प्रतिमा** । अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या आदि पर्वतिथियों में पौषधव्रत करने का होता है । पौषध में उपवास करने का होता है । शरीर की शोभा, शृंगार आदि का त्याग करने का होता है । ब्रह्मचर्य का पालन करने का है और संसार की सभी प्रवृत्तियों का त्याग करने का होता है ।

**पाँचवी है कायोत्सर्ग-प्रतिमा** । जो आराधक १ से ४ प्रतिमाओं का पालन करता हो, वही आराधक पाँच महीने तक इस प्रतिमा का आराधन कर सकता

है । इस प्रतिमा का आराधन अविचल सत्त्ववाला महानुभाव ही कर सकता है । रात्रि के समय जहाँ चौराहा हो यानी चार रास्ते इकट्ठे होते हों वहाँ जाकर कायोत्सर्ग ध्यान में खड़ा रहना है । अथवा खंडहर जैसे मकान में जाकर कायोत्सर्ग ध्यान करना है । वहाँ पशु–पक्षी अथवा मनुष्यों की ओर से जो कोई कष्ट आयें, समताभाव से सहन करने के हैं ।

– इस प्रतिमा की आराधना पौषधव्रत में करने की है । संपूर्ण रात्रि कायोत्सर्ग ध्यान करने का है ।

– कायोत्सर्ग ध्यान में वह आराधक, कषायविजेता त्रिलोकपूज्य ऐसे तीर्थंकर परमात्मा का चिंतन करें । उनके गुणों का, अतिशयों का, जीवन का चिंतन करें । अथवा वह अपनी आत्मा के दोषों का चिंतन करके, आत्मनिंदा करे । जैसे कि 'मैं क्रोधी हूँ, मैं अभिमानी हूँ, मैं कामी–विकारी हूँ, मैं लोभी हूँ, धूर्त हूँ...' इत्यादि ।

पौषध तो पर्वतिथि के दिनों में करने का होता है, और यह काउस्सग्ग–प्रतिमा, पौषध की रात्रि में करने की होती है । तो पौषध सिवाय के दिनों में, पाँच महीनों में यह आराधक कैसे रहता है, यह भी जान लेना चाहिए न ? प्रतिमाधारक

– स्नान नहीं करता है ।

– रात्रिभोजन नहीं करता है ।

– दिन में ब्रह्मचारी रहता है ।

– रात्रि में भी परिमित अब्रह्म का सेवन करता है ।

इस प्रकार पाँचवी प्रतिमा की आराधना की जाती है ।

**छट्ठी है ब्रह्मचर्य–प्रतिमा** । इस प्रतिमा की आराधना ६ महीने तक करने की होती है । पूर्व की पाँच प्रतिमाओं का आराधन तो इस प्रतिमा के साथ करना ही है, विशेष में दिवस और रात्रि मैं संपूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने का है । ब्रह्मचर्य का मन–वचन–काया से पालन करने के लिए –

– वह किसी के साथ कामकथा नहीं करता है ।

– शरीर का शृंगार नहीं करता है, सादगी से रहता है ।

– स्त्री के साथ प्रणयकथा नहीं करता है ।

– चित्त को स्वस्थ–अविकारी बनाये रखने के लिए सतत जाग्रत रहता है ।

– प्रतिमापालन के विषय में उसका परिज्ञान पर्याप्त होता है ।

– मानसिक स्खलन भी नहीं हो, इसलिए घर में रहते हुए भी वह सतत जाग्रत रहता है ।

**सातवी है सचित्त परिहार–प्रतिमा** । इस प्रतिमा की आराधना सात महीनों तक करने की होती है । पूर्व की ६ प्रतिमाओं का पालन करते हुए, इस प्रतिमा–काल में कोई भी सचेतन (सचित्त) पदार्थ खाना नहीं है । सचित्त पदार्थ खाना नहीं है, वैसे सचित्त जल पीना नहीं है ।

**आठवीं है आरंभत्याग–प्रतिमा** । जिस प्रवृत्ति में बहुत ज्यादा हिंसा होती है, उसको 'आरंभ' कहते हैं । प्राचीन काल में श्रावक भी खेती करते थे । इसलिए यह प्रतिमा 'आरंभत्याग' की बतायी है । आठ महीनों तक, प्रतिमा–आराधक खेती नहीं करता है, आरंभ नहीं करता है । परंतु यदि उसकी आजीविका ही खेती पर आधारित हो, तो दूसरों के पास खेती करायेगा, स्वयं नहीं करेगा । हृदय के भाव जीवदया को बनाये रखेगा ।

**प्रश्न :** स्वयं आरंभ नहीं करता है, ठीक है, परंतु दूसरों से आरंभ करवाता है, तो जीवहिंसा होती ही है ।

**उत्तर :** सही बात है, परंतु पहले वह स्वयं आरंभ करता था और दूसरों से करवाता था – दोनों प्रकार से हिंसा होती थी । इस प्रतिमा–पालन के काल में स्वयं आरंभ नहीं करता है, इतनी जीवहिंसा तो नहीं होगी !

**नौवीं है प्रेष्यवर्णन–प्रतिमा** । नौ महीनों की यह प्रतिमा है । आठवीं प्रतिमा में श्रावक, स्वयं आरंभ नहीं करता था, दूसरों से करवाता था, इस प्रतिमा में वह दूसरों से भी आरंभ–खेती वगैरह नहीं करवाता है । अब आराधक का परिग्रह में अल्प ममत्व ही रहा हुआ होता है, इसलिए दूसरों से भी पापव्यापार (हिंसाजन्य) नहीं करवाता है ।

**दसवीं है उद्दिष्ट वर्जन–प्रतिमा** । प्रतिमाधारी श्रावक के लिये ही बनाया हुआ भोजन वह नहीं करता है । १० महीनों तक इस प्रतिमा का पालन, पूर्व की ९ प्रतिमाओं के साथ करता रहता है । इस प्रतिमा का पालन करनेवाला श्रावक मुंडितमस्तक रहता है, अथवा सिर के ऊपर बालों की चोटी रखता है ।

वैसे तो प्रतिमाधारक श्रावक संसार की प्रवृत्तियों से मुक्त रहता है, फिर भी उसके भाई–पुत्र वगैरह स्वजन, उसको सोना–चांदी इत्यादि संपत्ति के विषय में पृच्छा करें (कहाँ रखा है, कहाँ गाड़ा है..... इत्यादि) और वह जानता हो तो बता दे । नहीं जानता हो तो कह दें कि 'मुझे मालुम नहीं है, मुझे याद नहीं है ।' इसके अलावा दूसरा कोई भी गृहकार्य उसको नहीं करना है ।

**ग्यारहवी है श्रमण–प्रतिमा** । ग्यारह महीनों की यह प्रतिमा है । इस प्रतिमा–काल में श्रावक साधु जैसा बन जाता है । सिर पर बालों का लुंचन करें अथवा मुंडन करा लें । रजोहरण आदि, साधु के सभी उपकरण ग्रहण करें । साधु की तरह ही सभी अनुष्ठान करें और विहार करें । समिति–गुप्ति का यथार्थ पालन करता है । भिक्षा के लिए गृहस्थों के घर में जाकर कहता है – 'मैं प्रतिमाधारी श्रमणोपासक हूँ, मुझे भिक्षा चाहिए ।'

इन सभी प्रतिमाओं के पालन में पाँच वर्ष और ६ महीने लगते हैं । भगवान महावीर स्वामी के १० श्रावकों ने इन सभी प्रतिमाओं का पालन किया था । आप भी भावना तो रख सकते हो । इतना ही नहीं, प्रारंभिक चार प्रतिमाओं का पालन भी कर सकते हो । सरल हैं । बाद में जो ५ से ११ तक प्रतिमाएँ हैं वे आपके लिए सरल नहीं हैं । घर में भी रातभर कायोत्सर्ग नहीं कर सकते, तो फिर चौराहे पर जाकर कैसे कर सकते हो ?

भले प्रतिमा का स्वीकार नहीं करें, परंतु घर में या उपाश्रय में रात्रि के समय कायोत्सर्ग करने का अभ्यास कर सकते हो । एक घंटा, आधा घंटा भी कायोत्सर्ग कर सकते हो । उसमें परमात्मा का चिंतन करने का ।

अपनी बात जो चल रही है, वह है भावश्रावक धर्म के पालन से चारित्रधर्म की प्राप्ति !

**सभा में से :** हम लोग तो ऐसा समझते हैं कि चारित्रमोहनीय कर्म टूटने से चारित्रधर्म की प्राप्ति होती है !

**महाराजश्री :** चारित्रमोहनीय कर्म, भावश्रावक धर्म के पालन से टूटता है, यह बात नहीं जानते हो ! 'क्या करें, चारित्र तो लेना है, परंतु चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से चारित्र नहीं पा सकते...' ऐसा रोना बंद करो । वास्तव में चारित्रधर्म पाने की इच्छा है, तो भावश्रावक धर्म का पालन करना शुरू कर दो । परंतु एक बात पूछना चाहता हूँ । आप चारित्रधर्म पाने की बात करते हो, परंतु चारित्रधर्म क्या होता है, इस विषय का ज्ञान है आपको ? केवल पाँच महाव्रतों का पालन करना ही चारित्रधर्म नहीं है । चारित्रधर्म की ७० बातें हैं । ७० बातों का पालन करने का होता है साधु को !

**सभा में से :** हम नहीं जानते ! चारित्रधर्म यानी साधु बन जाना इतना ही जानते हैं । ७० बातें नहीं जानते..... ।

**महाराजश्री :** चारित्रधर्म का स्वीकार करने के बाद, साधु या साध्वी बनने के बाद कैसी-कैसी आराधना करने की होती है, वह जानना चाहिए । इससे आराधना के मनोरथों की दुनिया विशाल-व्यापक बनेगी ।

## चरण सप्तति : चारित्रधर्म की ७० बातें :

सर्वप्रथम मैं आपको ७० बातों का विषयानुक्रम बता देता हूँ । आप सरलता से ७० बातें याद रख सकते हो ।

| | |
|---|---|
| – ५ महाव्रत | – ब्रह्मचर्यगुप्ति – ९ |
| – १० श्रमण धर्म | – ज्ञानादि – ३ |
| – १७ संयम | – तपश्चर्या – १२ |
| – १० वैयावच्च | – क्रोधादिनिग्रह – ४ |

## पाँच महाव्रत :

चारित्रधर्म की मूलभूत बात है महाव्रतों का पालन ।

– **पहला महाव्रत है सर्वथा प्राणातिपातविरमण व्रत** । यानी प्राणीवध से विरति । अज्ञान, संशय, विपर्यय, राग, द्वेष, स्मृतिभ्रंश, योग दुष्प्रणिधान और धर्म-अनादर – इन आठ प्रमादों से त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से विराम पाना है । सम्यग् ज्ञान और श्रद्धा के साथ जीवहिंसा से निवृत्ति लेना है ।

– **दूसरा महाव्रत है सर्वथा मृषावादविरमण व्रत** । मृषावाद यानी मृषा भाषण, असत्य भाषण । उसका त्याग करना है । जो प्रिय, पथ्य और तथ्य वचन नहीं बोलता है, वह मृषाभाषी कहलाता है । प्रिय, पथ्य और तथ्य (सत्य) वचन बोलना चाहिए ।

– **तीसरा महाव्रत है सर्वथा अदत्तादानविरमण व्रत** । अदत्त का आदान-ग्रहण नहीं करना है । चार प्रकार से अदत्त बताया गया है – १. स्वामि अदत्त, २. जीव अदत्त, ३. तीर्थंकर अदत्त और गुरु अदत्त ! जिस वस्तु का जो मालिक हो उसकी इजाजत से वस्तु लेनी चाहिए । कोई माता-पिता अपने पुत्र की इच्छा के बिना, पुत्र को दे देंगे कि 'इसको साधु बना देना ।' तो पुत्र को ग्रहण नहीं करना चाहिए । वैसे, तीर्थंकर की आज्ञा से विरुद्ध कोई जड़-चेतन पदार्थ नहीं ग्रहण करना चाहिए । चौथी बात है गुरु की आज्ञा से ही सब कुछ लेना-देना करना चाहिए ।

– **चौथा महाव्रत है सर्वथा मैथुनविरमण व्रत** । स्त्री-पुरुष की मैथुनक्रिया का मन-वचन-काया से त्याग करने का होता है ।

– **पाँचवा महाव्रत है सर्वथा परिग्रहविरमण व्रत** । नौ प्रकार का जो परिग्रह बताया गया है, उससे विरति करने की है । द्रव्यत्याग के साथ मूर्च्छा–ममत्व का भी त्याग करने का है । मूर्च्छा से प्रशमसुख का नाश होता है ।

## दस प्रकार के श्रमण धर्म :

– पहला श्रमण धर्म है क्षमा । शक्ति हो या अशक्ति, साधु को सहन करने की भावना बनाये रखने की है ।

– दूसरा श्रमण धर्म है नम्रता । साधु के मन में किसी प्रकार का गर्व–अभिमान नहीं होना चाहिए ।

– तीसरा श्रमण धर्म है सरलता । साधु के मन में माया–कपट नहीं होना चाहिए । सभी प्रवृत्तियाँ सरलता से करनी चाहिए ।

– चौथा श्रमण धर्म है मुक्ति–निर्लोभता । साधु के मन में किसी भी बाह्य–आभ्यंतर वस्तु की तृष्णा नहीं होनी चाहिए ।

– पाँचवा श्रमण धर्म है तपश्चर्या का । साधु के जीवन में बारह प्रकार की बाह्य–आभ्यंतर तपश्चर्या का यथाशक्ति पालन होना चाहिए ।

– छट्ठा श्रमण धर्म है संयम । साधु नये कर्मों का बंधन रोकता है । आश्रवनिरोध करता है ।

– सातवा श्रमण धर्म है सत्य । साधु मृषावादी नहीं होता है । सतत जाग्रति के साथ वह प्रिय, पथ्य और तथ्य वचन बोलता है ।

– आठवा श्रमण धर्म है शौच । साधु अपने श्रमण जीवन में दोष न लगे, अतिचार न लगे, वैसे जीता है, यही उसका शौच है ।

– नौवा श्रमण धर्म है आकिंचन्य । साधु अपने शरीर के प्रति और अपने धर्मोपकरणों में ममत्व नहीं रखता है ।

– दसवा श्रमण धर्म है ब्रह्मचर्य । साधु, ब्रह्मचर्य की नौ गुप्ति का पालन करता हुआ संयम में स्थिर रहता है ।

इस प्रकार दस श्रमण धर्मों का पालन करना चाहिए ।

## १७ प्रकार के संयम :

– साधु को प्राणातिपात आदि पाँच आश्रवों का त्याग करना है,

– साधु को पाँच इन्द्रियों का निग्रह करना है,

– साधु को चार कषायों पर विजय पाने का होता है, और

– साधु को मन–वचन–काया की अशुभ प्रवृत्ति नहीं करना है ।

इस प्रकार १७ प्रकार के संयमों का पालन करने का होता है ।

## १० प्रकार की वैयावच्च :

वैयावच्च यानी सेवा । साधु को किस–किसकी अवसरोचित सेवा करनी चाहिए, यह बताया गया है ।

* जिस आचार्य की निश्रा में रहता हो, उस आचार्य की सेवा करें ।

* जिस उपाध्याय के पास अध्ययन करता हो, उनकी सेवा करें ।

* समुदाय में जो तपस्वी मुनि हो, उसकी सेवा करनी चाहिए ।

* जो नया दीक्षित मुनि हो, उसकी सेवा करनी चाहिए ।

* जो ग्लान–बीमार साधु हो, उसकी सेवा करनी चाहिए ।

* जो वृद्ध मुनि हो, उनकी सेवा करनी चाहिए ।

* समान आचारपालनवाले साधुओं की सेवा करनी चाहिए ।

* साधु–साध्वी–श्रावक–श्राविकारूप चतुर्विध संघ की अवसरोचित और शास्त्राज्ञानुसार सेवा करनी चाहिए ।

* साधुओं का जो कुल होता है, उसकी सेवा करनी चाहिए ।

* कुलों का समूह 'गण' कहलाता है, उस गण की भी अवसरोचित सेवा–भक्ति करनी चाहिए ।

धर्मसाधनों के द्वारा, प्रमोदभाव से, भक्तिभाव से साधु शुश्रूषा करता रहता है ।

## ब्रह्मचर्य की ९ गुप्ति :

साधुजीवन का प्राण होता है ब्रह्मचर्य ! इस ब्रह्मचर्य का विशुद्ध पालन करने के लिए नौ प्रकार की सावधानियों का पालन करना आवश्यक होता है ।

– पहली गुप्ति है वसति की । साधु को ऐसे स्थान में रहना चाहिए कि जहाँ स्त्री और नपुंसक नहीं रहते हों । जहाँ नर और मादा–पशु नहीं रहते हों । जहाँ मनोविकार उत्पन्न करें वैसे चित्र न हो, शिल्प नहीं हो । मानसिक ब्रह्मचर्य को भी क्षति नहीं पहुँचनी चाहिए, ऐसे स्थान में रहना चाहिए ।

– दूसरी गुप्ति है स्त्रीकथा के त्याग की । यह साधु के लिए है । साध्वी

के लिए पुरुषकथा का त्याग होना चाहिए। वैसे वसति के विषय में साध्वी के लिए साधु की मर्यादा से विपरीत समझ लेना चाहिए। साधु को एकान्त में स्त्रियों के साथ वार्तालाप नहीं करना चाहिए। वैसे किसी के भी साथ स्त्री–विषयक शृंगारिक बातें नहीं करनी चाहिए। रागसभर स्त्रीकथा मुनि के मन में विकार पैदा करती है।

– तीसरी ब्रह्मगुप्ति है आसन की। महिला के साथ एक आसन पर बैठना नहीं चाहिए। जिस जगह पर, जिस आसन पर स्त्री बैठी हो, उस आसन पर, उस जगह पर ४८ मिनट तक बैठना नहीं चाहिए। **तदुपभुक्तासनस्य चित्तविकार कारणत्वात्।** स्त्री जिस आसन पर बैठी हो, उस आसन पर बैठने से पुरुष के चित्त में विकार पैदा हो सकते हैं।

– चौथी ब्रह्मगुप्ति है स्त्री–शरीर अनावलोकन। स्त्री के सुंदर अंग–उपांग को अपूर्व विस्मय से और चकित लोचन से नहीं देखने चाहिए। स्त्री के सुंदर शरीर का चिंतन भी नहीं करना चाहिए। अवलोकन से और चिंतन से मोह जाग्रत होने की संभावना रहती है।

– पाँचवी ब्रह्मगुप्ति है दंपतीवार्ता–अश्रवण। ब्रह्मचारी को स्त्री–पुरुष का प्रेमालाप नहीं सुनना चाहिए। दीवार की दूसरी ओर से प्रेमालाप सुनायी देता हो, तो नहीं सुनना चाहिए।

– छट्ठी ब्रह्मगुप्ति है पूर्वक्रीडा–अस्मरण। साधु यदि पूर्वावस्था में भोगी था, तो उसको वह स्त्री–संभोग याद नहीं करना चाहिए। स्त्री के साथ की हुई कोई भी क्रीडा याद नहीं करनी चाहिए। याद करने से कामाग्नि प्रज्वलित होता है।

– सातवी ब्रह्मगुप्ति है स्निग्धादि भोजन का त्याग। साधु को, ब्रह्मचारी को अति स्निग्ध (अति घी–दूध) और मधुरादि रसवाला भोजन नहीं करना चाहिए। स्निग्ध, मधुर, आम्ल आदि रसवाले भोजन से वीर्यशक्ति पुष्ट होती है। वीर्य की वृद्धि से वेदोदय (वासना की जाग्रति) होता है, अब्रह्म का सेवन हो सकता है।

– आठवीं ब्रह्मगुप्ति है अति आहार का त्याग। साधु को, ब्रह्मचारी को अति भोजन नहीं करना चाहिए। रूक्ष आहार भी, आयंबिल का आहार भी ज्यादा नहीं करना चाहिए। अति आहार से शरीर में पीड़ा होती है और ब्रह्मचर्य को क्षति पहुँचती है।

नौवी ब्रह्मगुप्ति है शरीरविभूषा का त्याग । साधु को अपने शरीर को विभूषित नहीं करना चाहिए । स्नान–विलेपन आदि नहीं करना चाहिए । वैसे भी शरीर अशुद्धि का भंडार है, उसको सजाने–संवारने का प्रयत्न वृथा होता है ।

ब्रह्मचर्य की सुंदर पालना तब होती है जब साधु–श्रमण ज्ञान–दर्शन–चारित्र की आराधना में लीन रहता है ।

– ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जो अवबोध उत्पन्न होता है, उसको 'ज्ञान' कहते हैं । वैसे श्रुतज्ञान ४५ आगमरूप है । ११ अंगसूत्र, १२ उपांगसूत्र, १० पयन्नासूत्र, ६ छेदसूत्र और चार मूल सूत्र, नंदीसूत्र और अनुयोग द्वारसूत्र । इस प्रकार ४५ आगम सूत्र अभी विद्यमान हैं ।

– जीव, अजीव, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष – इन सात तत्त्वों की श्रद्धा होना 'दर्शन' है ।

– सभी पापप्रवृत्ति का ज्ञानपूर्वक त्याग करना चारित्र है ।

– साधु को इस रत्नत्रयी की मन–वचन–काया से आराधना करने की है ।

## बारह प्रकार के तप :

ज्ञान–दर्शन–चारित्र की आराधना के साथ साधु को बाह्य तप और आभ्यंतर तप करने का होता है । परम सुखमय मोक्षदशा प्राप्त करने का पुरुषार्थ करनेवाले मुनिजनों को अपने जीवन में तपश्चर्या को समुचित स्थान देना चाहिए । जीवन तपोमय बनाना चाहिए । तपश्चर्या के मुख्य दो भेद बताये गये हैं – बाह्य तप और आभ्यंतर तप । जिस तप को दूसरे लोग देख सकते हैं, वह बाह्य तप कहलाता है और जिस तप को दूसरे लोग नहीं देख सकते हैं, वह आभ्यंतर तप कहलाता है ।

– अनशन, उणोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसत्याग, कायक्लेश और संलीनता – यह बाह्य तप है ।

– प्रायश्चित्त, ध्यान, वैयावच्च, विनय, कायोत्सर्ग और स्वाध्याय – यह आभ्यंतर तप है ।

## क्रोध–मान–माया और लोभ का निग्रह :

तप करके, ज्ञानादि की आराधना करके, ब्रह्मचर्य का पालन करके, संयम, श्रमण धर्म और महाव्रतों का पालन करके क्या प्राप्त करना है ? यह कषायों का निग्रह ! चारों कषायों पर विजय प्राप्त करना है । कुछ भी करो, जो जँचे

वह उपाय करो, कषायों के ऊपर विजय करना है। सरल काम नहीं है। ये कषाय अति दुर्जय हैं। इन कषायों से परिभूत जीवात्मा जिन आपत्तियों से आक्रान्त होता है, उन आपत्तियों के नाम भी कौन बता सकता है ? असंख्य आपत्तियों से दुःखी हो जाता है।

– क्रोध से प्रीति का नाश होता है, मान से विनयगुण नष्ट होता है, माया से विश्वासहानि होती है और लोभ से सभी गुणों का नाश होता है। इसलिए एक–एक कषाय के दुःखद परिणामों का चिंतन करते रहो।

– क्रोध सभी जीवों को परिताप पहुँचाता है, सभी जीवों को उद्विग्न करनेवाला है, वैर का अनुबंध करनेवाला है और सद्गति एवं मोक्ष के मार्ग में रुकावट करनेवाला है।

– मान–अभिमान, श्रुत–शील और विनय को दूषित करता है, धर्म–अर्थ और कामपुरुषार्थ में विघ्न करनेवाला है।

– मायावी मनुष्य, भले ही कोई अपराध नहीं करता हो, फिर भी सर्प की तरह अविश्वसनीय होता है।

– लोभ, सभी अपायों का आश्रय है, सभी दुःखों का एक ही राजमार्ग है। लोभी कभी सुखी नहीं बन सकता है।

चारित्रधर्म की ७० बातें, इस प्रकार संक्षेप में बतायी हैं। आप चिंतन–मनन करना और चारित्रधर्म की अभिलाषा करना।

आज बस, इतना ही।

★ ★ ★

# प्रवचन : १४

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय का उपसंहार करते हुए कहा है –

**पदंपदेन मेधावी यथाऽऽरोहति पर्वतम् ।**
**सम्यक् तथैव नियमाद् धीरः चारित्रपर्वतम् ।।**

जिस प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य एक–एक कदम बढ़ाता हुआ पहाड़ पर चढ़ जाता है, एक–एक सोपान पर कदम रखता हुआ मनुष्य शत्रुंजय पहाड़ के ऊपर पहुँच जाता है, अच्छी तरह चढ़ जाता है, हाथ–पाँव आदि शरीर के अवयव टूटते नहीं – वैसी सावधानी से चढ़ जाता है, वैसे धीर पुरुष, श्रमणोपासक – धर्म की निरतिचार–निष्कलंक आराधना करता हुआ, चारित्रधर्म के महाशैल पर पहुँच जाता है ।

श्रावक धर्म की आराधना, श्रावकोचित गुणों की पालना – यह चारित्रपर्वत के एक–एक सोपान चढ़ने के बराबर है । चारित्र–पर्वत के ऊपर चढ़नेवाला पुरुष धीर होना चाहिए । टीकाकार आचार्यश्री ने 'धीर' शब्द की परिभाषा बहुत अच्छी की है – **'धीरः–निष्कलंकानुपालित श्रमणोपासक समाचारः ।'**

## नंद मणिकार :

वैसे ही शास्त्रों में नंद मणिकार का उदाहरण मिलता है । जो श्रावक धर्म का सही रूप से पालन नहीं कर सका था । कारण था अधीरता ! उस नंद मणिकार का वृत्तांत सुनाता हूँ । एक छोटी–सी भी भूल मनुष्य को दुर्गति में भटका देती है ।

भगवान महावीर राजगृही नगर में गुणशील चैत्य में बिराजमान थे । वहाँ एक दिन, सौधर्म देवलोक का एक देव भगवान के पास आया । वह 'दुर्दुर' नाम का तेजस्वी देव था । देव का अपूर्व तेज देखकर गौतम स्वामी ने भगवान से पूछा : 'हे भदंत, इस देव का ऐसा अद्‌भुत तेज क्यों है ?'

भगवंत ने कहा : 'हे गौतम, इस नगर में पहले एक बड़ी संपत्तिवाला 'नंद' नाम का मणिकार – जौहरी रहता था ।'

भगवान महावीर स्वयं अपने मुँह से नंद मणिकार की कहानी सुनाते हैं ! उन्होंने

कहा : 'उस समय मैं इस नगर में आया था। मेरा धर्मोपदेश सुनकर उसने श्रावक धर्म का स्वीकार किया था। हमारे यहाँ से जाने के बाद नंद, असंयमी लोगों के सहवास के कारण धीरे धीरे वह अपने संयम में शिथिल होने लगा।

एक बार उसने निर्जल अट्ठम तप किया और पौषधशाला में जाकर रहा। दूसरे दिन उसे तीव्र प्यास लगी। वह अत्यंत व्याकुल हो गया। अलबत्त, उसने तपोभंग नहीं किया, परंतु उसके मन में विचार आया : 'लोगों को पीने के लिए, नहाने के लिए जो बावड़ी, पुष्करिणी.... तालाब आदि बनाते हैं, वे धन्य होते हैं। मैं भी पुष्करिणी बनाऊँगा। लोग पानी पीकर संतोष पायेंगे।'

अट्ठम तप पूर्ण हुआ। पारणा किया और राजा के पास जाकर, वैभारगिरि के परिसर में पुष्करिणी बनाने की इजाजत ले आया। और बिना विलंब किये, वैभारगिरि के पास, अनेक जाति के पुष्पों से सुशोभित समचौरस बड़ी पुष्करिणी बनवायी। उसके बाद, पुष्करिणी की पूर्व दिशा में अनेक स्तंभों से सुशोभित एक मनोहर चित्रसभा बनवायी। अनेक प्रकार से काष्ठ कर्म, चित्र, लेप्य, ग्रंथि आदि से चित्रसभा को सुशोभित की। उसमें विविध प्रकार के गायक, नट आदि रखे गये थे। वहाँ आनेवाले लोग नाटक आदि का आनंद लिया करते थे।

उसके दक्षिण दिशा में नंद ने पाकशाला बनवायी थी। उसमें विविध प्रकार की भोजन-सामग्री तैयार होती थी। वहाँ से श्रमण, ब्राह्मण, कृपण, अतिथि लोगों को भोजन मिलता था।

पश्चिम के वनखंड में नंद ने विपुल हवा तथा प्रकाश से युक्त एक बड़ा औषधालय बनवाया। उसमें अनेक वैद्य वहाँ आनेवाले रोगियों के रोगों का निदान कर, चिकित्सा करते थे।

उत्तर दिशा में उसने एक बड़ी अलंकारिक सभा बनवायी थी। अलंकारिक सभा यानी नापित कर्मशाला! 'हेयर कटिंग सलुन'! उसका भी कई लोग लाभ उठाते थे।

अनेक लोग वहाँ जाते, पुष्करिणी में पानी पीते, स्नान करते, भोजन करते, नाटक देखते....। लोगों को मजा आ गया। राजगृह में सर्वत्र नंद मणिकार की प्रशंसा होने लगी।

कुछ समय के बाद नंद के शरीर में एक साथ सोलह रोग उत्पन्न हो गये। श्वास, कास, ज्वर, दाह, शूल, भगंदर, अर्श, अजीर्ण, नेत्रपीड़ा, मस्तकपीड़ा,

अरूचि, कानपीड़ा, खाज, जलोदर और कुष्ठ । इन रोगों से नंद अति परेशान हो गया । उसकी चिकित्सा के लिए घोषणा की गई । कई बड़े बड़े वैद्यों ने उसकी चिकित्सा की । अनेक प्रकार के औषधों से रोगों को मिटाने का प्रयत्न किया, परंतु नंद नहीं बच पाया । उसकी आर्तध्यान में मृत्यु हुई । नंद का मन सदैव, उसकी पुष्करिणी में, बावड़ी में रहता था, इसलिए मरकर वह उसी बावड़ी में मेंढक हुआ ।

यह कहानी भगवान स्वयं सुना रहे हैं । गौतम स्वामी वगैरह सुन रहे हैं और वह तेजस्वी देव भी वहाँ बैठा-बैठा सुन रहा है । भगवंत ने यथार्थ बात बतायी है । मनुष्य का मन बार-बार जहाँ जाता है, संभवतः वैसा ही आयुष्यकर्म बाँध लेता है । अपना मन बार-बार कहाँ जाता है - सोचना । यदि पापविचारों में जाता हो तो सावधान बन जाना ।

- पूर्व के जमाने में लोग घर में, जमीन में सोना-चांदी आदि गाड़ते थे । यदि बार-बार वहाँ जिसका मन जाता था, मरकर वह उस निधान के पास सर्प का जन्म पाता था । अथवा चूहा बनता था ।

- जिसका मन पालतू गाय-भैंस, घोड़ा, कुत्ता आदि में बार-बार जाता है, उसका आयुष्यकर्म तिर्यंच का बंध जाता है । संभव है कि उसका जन्म गाय-भैंस के रूप में हो जाय !

इसलिए संसार की बातों में ममत्व नहीं रखना है । नंद मणिकार को अपनी बावड़ी से लगाव हो गया था.... इसलिए वह मरकर उसी बावड़ी में मेंढक बना !

एक रूपसेन नाम का श्रेष्ठि पुत्र, राजकुमारी के प्रेम में पड़ा । उसके दिल-दिमाग पर राजकुमारी छा गई थी । वह उसके पास जाने निकला था, रास्ते में ही उसकी मृत्यु हो गई । मरकर वह राजकुमारी के पेट में गर्भरूप से उत्पन्न हुआ था ! राजकुमारी कंवारी थी, इसलिए उसने गर्भपात करवा दिया था । बाद में उसके अनेक भव पशुयोनि में हुए थे ।

भगवान ने कहा : नंद बावड़ी में मेंढ़क रूप में था । लोग बावड़ी पर आते और नंद मणिकार की प्रशंसा करते । पुनः पुनः अपने पूर्वजन्म का नाम सुनकर मेंढ़क को अपना पूर्वजन्म याद आ गया । पूर्वजन्म की स्मृति हो आयी । उसके मन में घोर पश्चात्ताप होने लगा । वह क्यों मेंढ़क बना, उसका कारण वह समझ गया ।

'मैंने श्रावक धर्म के पालन में अधीरता की थी, मैं शिथिल बना था.... इसलिए यह जलचर पशु का जन्म मिला है।' उसने अपने मन में संयमपालन करने का संकल्प कर लिया और अपनी हिंसक प्रवृत्ति बंद कर दी। पानी में छोटे जीवों का जो भक्षण करता था, वह बंद कर दिया।

एक दिन बावड़ी में स्नान करने आये हुए लोगों के मुँह से राजगृही में मेरे आगमन की बात उसने सुनी। वह मेरे दर्शन के लिये लालायित हो गया। वह धीरे-धीरे बावड़ी से बाहर निकला और मेरे पास आने लगा।

उस समय राजा श्रेणिक भी सपरिवार मेरे दर्शन करने आ रहा था। उसके साथ घुड़सवार सैनिक थे। एक घोड़े के पैर के नीचे वह मेंढ़क दब गया, वहाँ ही मर गया। परंतु मरते समय उसने अपनी भाषा में बोला – 'श्रमण भगवान महावीर को मेरा नमस्कार हो।'

मरकर वह मेंढ़क सौधर्म देवलोक में 'दुर्दुर' नाम का तेजस्वी देव हुआ, जो कि वहाँ वह बैठा है।

देव ने खड़े होकर भगवान को वंदना की और वह आकाशमार्ग से चला गया।

## नंद मणिकार की भूल का विश्लेषण :

**सभा में से :** नंद ने बावड़ी बनवायी – क्या वह उसकी भूल थी ?

**महाराजश्री :** उसने पहली भूल तो निर्जल अट्ठम तप किया था, तब की थी। उसको उस समय जो तीव्र प्यास लगी थी, उसको समताभाव से सहन करनी चाहिए थी। उस समय पानी की तीव्र इच्छा जो जगी, उसमें से बावड़ी बनाने की कल्पना जगी थी। ठीक है, बावड़ी बना दी, परंतु बावड़ी के साथ उसका लगाव हो गया – यह बहुत बड़ी भूल की थी।

वैसे उसने भगवान से श्रावक धर्म का स्वीकार किया था, बारह व्रत लिये थे, इस दृष्टि से भी उसको आरंभ-समारंभ नहीं करना चाहिए था। उसने बावड़ी बनायी, उपवन बनाया, पाकशाला बनायी.... वगैरह कितना बड़ा आरंभ-समारंभ किया था ? उसने अपने व्रतों को दूषित किये थे। व्रतपालन में वह शिथिल बना था।

भगवान ने जो एक बात कही, वह बड़ी महत्त्व की है। नंद मणिकार असंयमी, अज्ञानी ऐसे लोगों के परिचय में आया था। उन लोगों ने नंद की बहुत प्रशंसा

की होगी – 'तुमने बावड़ी बनायी, पाकशाला, विश्रामगृह वगैरह बना कर, बहुत अच्छा काम किया।' लोगों की प्रशंसा सुनते–सुनते उसके मन में बावड़ी का ममत्व बंध गया। उसी ममत्व ने उसको मेंढ़क बनाकर उसी बावड़ी में डाल दिया! 'तुझे बावड़ी बहुत पसंद है न? तू उसी बावड़ी में रहना...!' कर्मों की यही विचित्रता है। इसीलिए सर्वज्ञ परमात्मा ने कहा : 'निर्मम होकर जीयो और निर्मम होकर मरो! हृदय में ममत्व–आसक्ति को प्रवेश ही मत दो। निर्मम बनने की कला प्राप्त कर लो। अन्यथा जीव दुर्गतियों में भटक जायेगा।'

## किसी सुकृत ने नंद को बचा लिया :

एक मेंढ़क को जातिस्मरण–ज्ञान होना, पूर्वजन्म की स्मृति हो आना – क्या पुण्यकर्म के उदय के बिना संभव है? पूर्वजन्म का अपना नाम पुनः पुनः सुनकर.... पूर्वजन्म की स्मृति हो आयी!

बात भी सही है! चंडकौशिक साँप को, उसका पूर्वजन्म याद कराने के लिए भगवान महावीर ने, उसको पूर्वजन्म का नाम लेकर पुकारा था न! 'बुज्झ बुज्झ चंडकोसिया!' चंडकौशिक, सर्प का पूर्वजन्म का नाम था। पूर्वजन्म में वह 'चंडकौशिक' नाम का तापस था!

**सभा में से :** पूर्वजन्म का नाम सुनने से कैसे पूर्वजन्म की स्मृति हो आती है? नाम में जादु होता है क्या?

**महाराजश्री :** मनुष्य को अपना नाम बहुत प्रिय होता है। नाम और रूप – ये दो बातें मनुष्य को ज्यादा प्रिय होती है। नाम से ज्यादा लगाव होने से, आत्मा में नाम का संस्कार गहरा पड़ जाता है। वह संस्कार आत्मा के साथ दूसरे जन्म में भी जाता है। वहाँ यदि किसी के मुख से वह अपना नाम बार–बार सुनता है, तो पूर्वजन्म स्मृति में आ जाता है।

जिस मनुष्य की ज्यादा प्रशंसा होती है, उसको प्रायः अपने नाम का ज्यादा ममत्व बंध जाता है। प्रशंसा के साथ नाम जुड़ता ही है! 'नंद मणिकार उदार था, धार्मिक था... दयावान् था....' प्रशंसा नाम की होती है, इसलिए नाम प्रिय बन जाता है। दूसरे जन्म में अपना नाम सुना और पूर्वजन्म की स्मृति हो गई। हाँ, एक बात है – स्मृति मनवाले जीव को होती है। जिस जीव को मन नहीं होता है, उसको स्मृति नहीं होगी। मेंढ़क को मन होता है!

दूसरी बात यह है कि पूर्वजन्म की स्मृति होना, बड़ी बात नहीं है। पूर्वजन्म

याद आने के बाद – 'मैं मनुष्य था, मरकर मेंढ़क का जन्म क्यों पाया ?' ऐसा विचार आना और अपनी भूल का एहसास होना, बड़ी बात है। भूल समझकर, उस भूल को सुधारने का शक्य प्रयत्न करना बड़ी बात है ! मेंढ़क ने यह सब किया। और जब भगवान महावीर का नाम सुना.... वह हर्षविभोर हो गया होगा। क्योंकि पूर्वजन्म में भगवान से प्रीति हुई थी, भगवान के प्रति श्रद्धा हुई थी और भगवान से ही उसने श्रावक धर्म पाया था। भगवान के प्रति जो प्रीति–भक्ति और श्रद्धा थी, उसके संस्कार तो उसकी आत्मा में पड़े ही थे ! भगवान का नाम सुनते ही वे संस्कार जाग्रत हो गये... और भगवान के दर्शन के लिए वह बावड़ी से निकल कर चल पड़ा। बावड़ी का ममत्व टूट गया था, मन में से बावड़ी निकल गई थी; मन में भगवान महावीर आ गये थे ! दिल–दिमाग पर महावीर छा गये थे ! इसलिए तो घोड़े के पाँव तले कुचले जाने पर भी उसके मुँह से – 'श्रमण भगवान महावीर को मेरे नमस्कार हो.....' ये शब्द निकले थे। उसकी भाषा में वह बोला था।

पतन में से उसका उत्थान हो गया ! परमात्मा के प्रति प्रीति–भक्ति और श्रद्धा हो गई। बस, आत्मा का उत्थान होगा ही। आत्मा की ऊर्ध्वगति ही होगी। मेंढ़क एक क्षण में देव बन गया ! वैमानिक देव बन गया ! व्यंतर, वाणव्यंतर भवनपति और ज्योतिष्क देवों से भी उच्च स्थिति का देव बन गया !

जड़ पदार्थों से, पाँच इन्द्रियों के विषयों से ममत्व तोड़ना ही होगा। तभी श्रावक धर्म का निष्कलंक पालन होगा।

## सुव्रत श्रेष्ठि की अपूर्व धीरता :

भावश्रावक धर्म का पालन करने के लिए श्रावक धीर होना चाहिए, वीर होना चाहिए। स्वीकृत श्रावक धर्म का पालन करने में प्राणों का त्याग करना पड़े तो भी कर दें, वैसा चाहिए। अपना सर्वस्व गंवाना पड़े, तो भी विचलित नहीं हो।

शास्त्रों में सुव्रत श्रेष्ठि का दृष्टांत लिखा हुआ है। वह श्रावक था, श्रावक धर्म का समुचित पालन करता था। उसके पास ११ करोड़ स्वर्णमुद्राएँ थी। उसकी ११ पत्नियाँ थी। वह राजमान्य नगरश्रेष्ठि था। वह पर्वदिनों में पौषधव्रत करता था। हर महीने की शुक्ला एकादशी को मौन धारण कर दिन–रात पौषधव्रत में रहता हुआ धर्मध्यान में लीन रहता था। उसके साथ उसकी ११ पत्नियाँ भी मौन और उपवास के साथ पौषधव्रत में रहती थीं।

अब मैं सुव्रत की धीरता की बात बताता हूँ। एक दिन जब सुव्रत मौन और उपवास के साथ हवेली में अपनी पौषधशाला में था, धर्मचिंतन में निमग्न था, उस समय रात्रि में कुछ चोर हवेली में प्रविष्ट हुए। जिस कमरे में करोड़ों स्वर्णमुद्राएँ पड़ी थी, उस कमरे में जाकर चोरों ने स्वर्णमुद्राओं की गठरियाँ बाँधी। सर पर उठाकर चोर जाने लगे। उस समय सुव्रत ने सोचा – 'इस संपत्ति को मैंने कभी मेरी नहीं मानी है। जो मेरा नहीं है, उसको ये लोग ले जा रहे हैं.... ले जाने दो... मैं मेरा धर्मध्यान क्यों छोडूँ ? यदि इस अस्थिर, चंचल और विनाशी संपत्ति की रक्षा करने जाऊँगा तो स्थिर, शाश्वत् और अविनाशी व्रत–धर्म खंडित होगा। मुझे मौनव्रत का भंग नहीं करना है, मुझे पौषधव्रत को दूषित नहीं करना है !'

अब नंद की और सुव्रत की तुलना करते हैं। नंद को निर्जल अट्ठम तप में तीव्र प्यास लगी थी.... इससे वह पानी के विचार करने लगा था। पानी का महत्त्व सोचने लगा था... परिणाम स्वरूप बावड़ी बनाने का संकल्प किया था। आरंभ–समारंभ से मेरा श्रावक धर्म दूषित होगा यह विचार वह नहीं कर पाया था।

जबकि सुव्रत ने अपने मौनव्रत और पौषधव्रत को निष्कलंक रखा था। अपनी संपत्ति के विषय में उसने ज्ञानदृष्टि से सोचा। संपत्ति को अस्थिर, चंचल और विनाशी मान कर, संपत्ति को बचाने, चोरों को रोकने का जरा–सा भी प्रयत्न नहीं किया। इतना ही नहीं, उसने संपत्ति की सुरक्षा का प्रबंध करने का भी नहीं सोचा कि – 'अब मैं संपत्ति को इस प्रकार कमरे में नहीं रखूँगा। जमीन में गाड़ दूँगा। कमरे के दरवाजे लोहे के बनवाऊँगा... हवेली के द्वार पर सशस्त्र रक्षक रखूँगा... कोई चोर–डाकू आये तो मार डालने की, रक्षकों को सूचना दूँगा...।' ऐसा एक भी विकल्प सुव्रत के मन में नहीं आया ! उसने अपने स्वीकृत धर्म की रक्षा का विचार किया। नंद मणिकार ने अपने व्रत का विचार नहीं किया, पानी का विचार किया। चूँकि वह तीव्र प्यास से अति व्याकुल हो गया था। संभवतः उसने बाद में कभी निर्जल उपवास नहीं किया होगा ! उसके मन में बस, पानी ही पानी.... फैल गया था। इसलिए उसने अपने व्रत को दूषित किया था।

सुव्रत में धीरता थी। समताभाव से कष्ट को, दुःख को सहन करने की वीरता थी। यदि उसके मन में अपनी संपत्ति का ममत्व होता, आसक्ति होती, तो संभव है कि वह धीर और वीर नहीं रह सकता था ! 'हाय... हाय, ये चोर मेरी करोड़ों स्वर्णमुद्राएँ चुरा कर ले जा रहे हैं.... मैं उनको नहीं जाने दूँगा....' पौषध में ही वह चिल्लाने लगता ! चोरों कों रोकने का प्रयत्न करता.... मारता अथवा मरता.... !

## धीर–वीर के ऊपर दैवीकृपा :

सुव्रत के मन में जरा–सा भी चंचलता नहीं आयी । वह अपने धर्मध्यान में लीन रहा । परिणाम क्या आया, आप जानते हो ? क्षेत्रदेवता ने चोरों को हवेली के द्वार पर चिपका दिये ! जमीन के साथ वे सभी चोर चिपक गये ! सर के ऊपर स्वर्णमुद्राओं की गठरियाँ थी !

प्रातःकाल सुव्रत ने पौषधव्रत, मौनव्रत पूर्ण किया, पौषधशाला के बाहर आया.... हवेली के द्वार पर चोरों को देखा.... । उसके मन में चोरों के प्रति रोष–क्रोध नहीं आया, परंतु दया आयी ! 'कोतवाल–नगर रक्षक इन चोरों को, चोरी के माल के साथ पकड़ लेंगे.... तो मार डालेंगे !' यह सोचता ही था.... और नगर रक्षक वहाँ आ गये, चोरों को पकड़ लिये । स्वर्णमुद्राएँ हवेली में रख दी गई और नगर रक्षक चोरों को ले गये !

उस समय सुव्रत ने क्या सोचा था ? जानते हो ? 'मेरी संपत्ति के कारण इन लोगों को चोरी करने की इच्छा हुई..... चोरी की, पकड़े गये..... अब मारे जायेंगे..... । मुझे उनको मृत्युदंड से बचाने चाहिए ! सभी अनर्थों का मूल यह संपत्ति है !'

सुव्रत के विचार पसंद आये ! धीर और वीर पुरुषों के विचार बड़े उन्नत होते हैं ! भव्य होते हैं, उदात्त होते हैं । आपके मन में होता होगा – 'चोरों के प्रति दया ? नहीं, नहीं, ऐसे दुष्टों को तो सजा होनी ही चाहिए !' सही बात है न ? चोर पकड़ा जाय तो आपके मन में चोर के प्रति क्रोध आयेगा न ? क्योंकि जड़ पदार्थों के प्रति आप निःस्पृह–अनासक्त नहीं बने हो ! धीरता और वीरता निःस्पृहता में से, अनासक्ति में से पैदा होती है । अपराधी को भी क्षमा ऐसे ही धीर–वीर पुरुष दे सकते हैं ।

चार बातों के प्रति निःस्पृह–अनासक्त बनना है –

– स्वजनों के प्रति ।
– परिजनों के प्रति ।
– वैभव–संपत्ति के प्रति, और
– शरीर के प्रति ।

सुव्रत श्रेष्ठि ने चोरों को तो अभयदान दिलवाया, बाद में ११ पत्नियों के साथ उन्होंने चारित्र के महाशैल के ऊपर आरोहण भी कर दिया ! भावश्रावक धर्म का अकलंक पालन सर्वविरतिमय चारित्र प्राप्त करवाता ही है !

**सभा में से :** वह नंद मणिकार देव हुआ, बाद में क्या होगा ?

**महाराजश्री :** देवभव में भगवान महावीर की उसने बहुत भक्ति की थी। जब उसका देवायुष्य पूर्ण होगा, मनुष्यभव में जन्म पाकर, चारित्रधर्म की आराधना कर, सभी कर्मों का क्षय कर, मुक्ति पायेगा।

जब आपने नंद के विषय में पूछा है, तो देवभव का एक किस्सा सुनाकर प्रवचन पूर्ण करूँगा।

भगवान महावीर राजगृह के गुणशैल चैत्य में बिराजमान थे। एक दिन राजा श्रेणिक भगवान के पास बैठा था, इतने में भगवान को छींक आ गयी। वहाँ पास में ही एक कुष्ठ रोगी बैठा था, उसने कहा – 'भगवन्, आप मृत्यु को प्राप्त होंगे।'

बाद में श्रेणिक को छींक आयी। कोढ़ी बोला – 'तुम बहुत दिन जीओगे।'

थोड़ी देर के बाद अभयकुमार को छींक आयी। कोढ़ी ने कहा – 'जियो या मरो।' इतने में कालसौकरिक कसाई छींका। कोढ़ी बोला – 'जीओगे नहीं, पर मरोगे भी नहीं।'

उस कोढ़ी ने भगवान के लिए मरने की बात कह दी थी, इसलिए राजा श्रेणिक को बहुत क्रोध आया था। उसने अपने सुभटों को आज्ञा दी कि 'यह कोढ़ी जब यहाँ से उठकर चले तब पकड़ लेना!'

देशना समाप्त हो जाने पर राजा के सैनिकों ने उस कोढ़ी को घेर लिया, परंतु क्षणभर में वह कोढ़ी आकाशमार्ग से चला गया, अदृश्य हो गया।

राजा श्रेणिक विस्मित हो गये। उन्होंने भगवान से पूछा : 'भगवन्, यह कुष्ठी कौन था ?'

"श्रेणिक, यह 'दुर्दुर' नाम का सौधर्म देवलोक का देव था।"

भगवंत ने नंद मणिकार का व उसके मेंढक के भव का वृत्तांत कह सुनाया। श्रेणिक हर्षित हुआ। उसने छींक के विषय में देव ने जो अलग-अलग बातें बतायी, उसका स्पष्टीकरण पूछा। भगवंत ने कहा :

* 'उसने मुझसे कहा कि अब संसार में रहकर क्या कर रहे हो ? शीघ्र मोक्ष जाओ!'

"तुम्हें कहा – 'जीआ।' इसका अर्थ यह है कि तुम्हें जीते ही सुख है, मरने के बाद तुम्हें नरक जाना है!"

* "अभयकुमार को कहा : 'जियो या मरो।' इसका अर्थ यह है कि अभयकुमार जीते जी धर्म कर रहा है, मरकर वह अनुत्तर–देवलोक में जायेगा !"

* "काल–सौकरिक को कहा : 'जियो नहीं, पर मरो भी नहीं !' इसका अर्थ यह है कि वह अभी तो पापकर्म कर रहा ही है, मरकर वह सातवीं नरक में जायेगा।"

भगवंत के स्पष्टीकरण से सभी को आनंद हुआ !

आज बस, इतना ही।

★ ★ ★

# प्रवचन : ९५

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय का उपसंहार करते हुए कहा है –

**स्तोकान् गुणान् समाराध्य बहूनामपि जायते ।**
**यस्मादाराधनायोग्यस्तस्मादादावयं मतः ।।**

'पहले गृहस्थ धर्म क्यों बताया ?' इस प्रश्न का समाधान करते हुए ग्रंथकार कहते हैं – श्रावक जीवन के लिए उचित थोड़े गुणों की आराधना कर, सुश्रमणोचित विशिष्ट गुणों की आराधना करने के लिए गृहस्थ योग्य बनता है । इसलिए सर्वप्रथम 'गृहस्थ धर्म' बताया गया है । इस गृहस्थ धर्म में भी पहले सामान्य गृहस्थ धर्म (पहले अध्याय में) बताया गया और बाद में विशेष धर्म यानी भावश्रावक धर्म बताया गया है ।

पहले अच्छे श्रावक बनो, बाद में साधु बनो ! यह जिनशासन का राजमार्ग है । जो सद्गृहस्थ श्रावक धर्म की अच्छी आराधना कर, बाद में साधु बनता है, तो साधुजीवन का बहुत अच्छा पालन कर सकता है । श्रमण के गुणों को आत्मसात् कर सकता है ।

परंतु यह नियम व्यापक नहीं है कि गृहस्थ धर्म का पालन करके ही साधु बना जा सकता है । बिना गृहस्थ धर्म का, भावश्रावक धर्म का पालन किये भी विशिष्ट पुरुष चारित्रधर्म अंगीकार कर सकता है । परंतु साधु बननेवाला विशिष्ट व्यक्ति चाहिए और दीक्षा देनेवाले गुरु भी विशिष्ट चाहिए ।

## बिना गृहस्थ धर्म का पालन किये साधु धर्म की प्राप्ति हो सकती है :

एक बात अच्छी तरह समझना कि चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से ही चारित्रधर्म की प्राप्ति होती है । चारित्रमोहनीय कर्म, जैसे भावश्रावक धर्म के पालन से टूटता है, वैसे विशिष्ट शुभ अध्यवसाय से भी टूटता है । बात एक है – चारित्रमोहनीय कर्म का क्षयोपशम होना ही चाहिए । विशिष्ट कोटि के आत्मा को, अचानक वैसे शुभ अध्यवसाय पैदा होने से चारित्रधर्म की प्राप्ति हो जाती है । शास्त्रों में वैसे अनेक दृष्टांत पढ़ने को मिलते हैं । ऐसे कुछ दृष्टांत आज बताता हूँ ।

## १५०० तापस और गौतम स्वामी :

जब गौतम स्वामी अष्टापद तीर्थ की यात्रा को गये थे, उस समय वहाँ अष्टापद के पहाड़ में १५०० तापस इसलिए घोर तप करते थे, उनको अष्टापद के ऊपर जाना था। 'तपोलब्धि से ऊपर जाया जाता है –' ऐसी उनकी मान्यता थी। उन्होंने गौतम स्वामी को सूर्य की किरणों के सहारे ऊपर जाते हुए देखा! वे आश्चर्यचकित हो गये। सभी के मन में विचार आया – 'ये महान् गुरु हैं। जब वे ऊपर से नीचे आयेंगे, तब अपन उनके शिष्य बन जायेंगे!' गौतम स्वामी के प्रति जो प्रेम जगा, श्रद्धा जगी, उससे उनका चारित्रमोहनीय कर्म टूटा और उन्होंने गौतम स्वामी से चारित्रधर्म पाया। वे १५०० तापस, बिना श्रावक धर्म की आराधना किये, साधु बन पाये! वे १५०० विशिष्ट आत्माएँ थीं, उसी जन्म में मोक्ष पानेवाली थी, और दीक्षा देनेवाले भी विशिष्ट महापुरुष थे। भगवान महावीर स्वामी के प्रथम शिष्य गौतम स्वामी थे!

## प्रभव स्वामी :

दूसरा दृष्टांत है प्रभव स्वामी का। भगवान महावीर स्वामी के बाद सुधर्मास्वामी जिनशासन के कर्णधार बने थे। उनकी पाट पर जंबूस्वामी आये थे। जंबूस्वामी के उत्तराधिकारी प्रभव स्वामी थे।

प्रभव राजकुमार था। बाद में डाकू बन गया था। जंबूकुमार राजगृही के श्रेष्ठिपुत्र थे। आठ कन्याओं के साथ शादी हुई थी। शादी के दिन ही, प्रभव अपने साथी डाकुओं के साथ चोरी करने जंबूकुमार की हवेली में आया था! जंबूकुमार के उपदेश से उनकी आठ पत्नियाँ तो विरक्त बन कर चारित्रधर्म स्वीकारने के लिए तैयार हुई थी, परंतु प्रभव भी विरक्त बना था। वह भी चारित्रधर्म लेने तत्पर बना था। जंबूकुमार के उपदेश से प्रभव का चारित्रमोहनीय कर्म टूटा था। बिना भावश्रावक धर्म का पालन किये, उनको चारित्रधर्म की प्राप्ति हो गई थी।

## शय्यंभवसूरि :

प्रभव स्वामी ने जब अपने उत्तराधिकारी के विषय में सोचा तब उनको हजारों साधुओं में एक भी साधु उत्तराधिकारी पद के लिए योग्य नहीं लगा था। तब उन्होंने ब्राह्मण परिवारों में अपने विशिष्ट ज्ञान से देखा था। उनको एक विद्वान् और कर्मकांडी ब्राह्मण 'शय्यंभव' दिखायी दिया। प्रभव स्वामी ने उस समय

अपने दो साधुओं को उनके पास भेजे थे, जब वे यज्ञ करा रहे थे । साधुओं के दो वचनों के श्रवण से शय्यंभव यज्ञ की यथार्थता समझे और प्रभव स्वामी के पास आये । उनका चारित्रमोहनीय कर्म टूट गया और उनको प्रभव स्वामी ने दीक्षा दे दी । बिना श्रावक धर्म का पालन किये वे साधु बन गये । परंतु दीक्षा लेनेवाले और देनेवाले – दोनों विशिष्ट व्यक्ति थे !

## मनक मुनि :

आचार्यश्री शय्यंभवसूरिजी ने अपने पुत्र मनक को दीक्षा दी थी, मनक ने कहाँ श्रावक धर्म का पालन किया था ? परंतु आचार्यदेव के दर्शन मात्र से, मनक के हृदय में ऐसा शुभ अध्यवसाय पैदा हुआ कि उसका चारित्रमोहनीय कर्म टूट गया..... और वे साधु बन गये !

## स्थूलभद्र स्वामी :

स्थूलभद्रजी की कहानी तो आप जानते हों । नंदराजा के समय में, पाटलीपुत्र में महामंत्री शकडाल के वे पुत्र थे ! शकडाल के दो पुत्र थे – बड़ा पुत्र था स्थूलभद्र और छोटा पुत्र का श्रीयक !

स्थूलभद्र जब यौवन में आये, वे पाटलीपुत्र की राजमान्य नृत्यांगना कोशा के मोहपाश में बंध गये थे । वे कोशा के आवास में ही रहते थे । घर आते ही नहीं । स्थूलभद्र जितने रुपये मंगवाते, महामंत्री भेजते रहते । महामंत्री को स्थूलभद्र के प्रति अपार प्रेम था ।

छोटा पुत्र श्रीयक, नंदराजा का अंगरक्षक बना था । वह भी पितृभक्त था । स्थूलभद्र के प्रति भी उसका प्रेम था । राजमहल के षड्यंत्र में और नंदराजा की अल्प बुद्धि के कारण शकडाल मंत्री की मृत्यु हो गई ! मृत्यु के बाद जब राजा को सही बात का पता लगा तब उसको घोर पश्चात्ताप हुआ ।

नंदराजा ने श्रीयक को महामंत्री पद लेने के लिए कहा । श्रीयक ने कहा : 'मेरे बड़े भाई हैं । उनके होते हुए मैं मंत्रीपद नहीं ले सकता । वे ही मंत्रीपद के लिए योग्य हैं ।'

राजा ने कहा – 'कहाँ है तेरा बड़ा भाई ? अभी उनको बुलाकर लाया जाय ।'

श्रीयक ने कहा – 'महाराजा मेरे बड़े भाई स्थूलभद्र, कुछ वर्षों से नृत्यांगना कोशा के वहाँ रहते हैं ।'

राजा ने दो सैनिकों को कोशा के घर भेजे । स्थूलभद्र को संदेश भेजा । स्थूलभद्र राजसभा में आये । राजा ने उनको मंत्रीपद लेने को कहा । स्थूलभद्र ने कहा –

'महाराजा, मुझे इजाजत दीजिए कि मैं श्रीयक के साथ, राजमहल के उद्यान में जाकर परामर्श करूँ, बाद में आपको प्रत्युत्तर दूँ।'

दोनों भाई उद्यान में गये। श्रीयक ने रोते-रोते, पिता की कैसे मृत्यु हुई, सारी बात स्थूलभद्र को बतायी। चूँकि पिता की हत्या श्रीयक को ही करनी पड़ी थी। वो भी पिता की आज्ञा से। यदि ऐसा नहीं करता श्रीयक, तो राजा पूरे परिवार को नष्ट कर सकता था।

सारी बात सुनकर, स्थूलभद्रजी का मन विरक्त हो गया। संसार के प्रति वैराग्य पैदा हो गया। संसार के सुखों की असारता का ज्ञान हो गया। उन्होंने श्रीयक को कह दिया – 'मैं मंत्रीपद नहीं लूँगा, मैं तो संसार का त्याग कर साधु बन जाऊँगा! संसार के प्रति, संसार के सुखों के प्रति अब मेरी कोई रुचि नहीं रही है!'

उन्होंने वहाँ ही उद्यान में साधुवेश धारण कर लिया, राजा को 'धर्मलाभ' कह कर वे गुरुदेव के पास चले गये। उनका चारित्रमोहनीय कर्म टूट गया था। उनको बिना श्रावक धर्म का पालन किये, चारित्रधर्म की प्राप्ति हो गई थी।

## अवंती सुकुमाल :

आचार्यश्री आर्यसुहस्ति, विहार करते-करते उज्जयिनी नगरी में पधारे थे। उन्होंने वहाँ के श्रेष्ठिपुत्र अवंती सुकुमाल के विशाल भवन में स्थिरता की थी। अवंती सुकुमाल के पास ३२ करोड़ रुपये थे और ३२ पत्नियाँ थी। देवलोक के देव की तरह वह संसार के श्रेष्ठ सुख भोगता था। पिता नहीं थे, माता थी। माता का पुत्र के ऊपर अपार स्नेह था।

रात्रि के समय साधु स्वाध्याय करते थे। एक साधु ऐसे शास्त्र का स्वाध्याय करते थे कि जिसमें देवलोक के 'नलिनीगुल्म' नाम के देवविमान का वर्णन था। साधु इतने स्पष्ट शब्दों में स्वाध्याय करते थे कि पासवाले कमरे में रहे हुए अवंती सुकुमाल सुन रहे थे। अर्थ भी समझ रहे थे। उनको लगा : 'ये मुनिराज जिस देवलोक का वर्णन कर रहे हैं, मैंने वह सब देखा हुआ है!' पुनः पुनः उहापोह करने पर, उनको अपना पूर्वजन्म याद आया। वे उसी देवलोक से, आयुष्य पूर्ण होने पर, यहाँ जनमे थे। पूर्वजन्म की स्मृति होने पर वे आचार्यदेव के पास गये और कहा : "मैं 'नलिनीगुल्म' नाम के देवविमान से आया हूँ और मुझे वहाँ जाना है, तो मैं कैसे जा सकता हूँ।"

आचार्यदेव ने कहा : 'चारित्रधर्म का पालन करने से तू पुनः देवलोक पा सकता है !'

अवंती सुकुमाल का चारित्रमोहनीय कर्म टूटा और उनको चारित्रधर्म प्राप्त हुआ ! उसी रात्रि में वे साधु बन गये और स्मशान में जाकर कायोत्सर्ग ध्यान किया। समताभाव से पशु का मरणांत उपसर्ग सहन किया। समाधिमृत्यु पाकर वे 'नलिनीगुल्म' देवविमान में देव हुए।

बिना श्रावक धर्म का पालन किये, विशिष्ट शुभ अध्यवसाय से उनका चारित्रमोहनीय कर्म टूटा और चारित्रधर्म मिला।

ये सारे उदाहरण तो बहुत पुराने हैं। कुछ ऐसे दृष्टांत बताता हूँ कि जो निकट के भूतकाल के हैं।

– महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने बिना श्रावक धर्म का पालन किये, चारित्रधर्म पाया था।

– आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरिजी ने भी बिना श्रावक धर्म का पालन किये, चारित्रधर्म पाया था।

– उपाध्यायश्री यशोविजयजी ने भी बिना श्रावक धर्म का पालन किये, साधु धर्म पाया था।

ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। चारित्रमोहनीय कर्म टूटना अनिवार्य है। जैसे श्रावक धर्म के पालन से टूटता है वैसे विशिष्ट शुद्ध अध्यवसाय से भी टूट सकता है। चारित्रमोहनीय कर्म टूटने से जो संयम धर्म मिलता है, उसका परिशुद्ध पालन होता है।

## वर्तमान परिस्थिति :

**सभा में से :** वर्तमान में भी ज्यादातर जो लोग दीक्षा लेते हैं, वे श्रावक धर्म का पालन किये बिना लेते हैं, यह क्या उचित है ? योग्य है ?

**महाराजश्री :** कुछ वर्षों से जो दीक्षाएँ हो रही हैं, मुझे लगता है कि उनकी योग्यता नहीं देखी जाती है। बस, कोई स्त्री या पुरुष आकर कह देता है – 'मेरी भावना दीक्षा लेने की है, मुझे संसार के प्रति राग नहीं रहा।' उसको दीक्षा दे दी जाती है। न तो उनके वैराग्य की परीक्षा ली जाती है, न ही उसकी गुणात्मक योग्यता देखी जाती है।

**सभा में से :** इसका कारण ?

**महाराजश्री :** साधु को शिष्य होना आवश्यक बन गया और साध्वी को शिष्या होना आवश्यक बन गया है ! और जब एक वस्तु का होना आवश्यक बन जाता है, अनिवार्य बन जाता है तब गुणवत्ता–'क्वालिटी' नहीं देखी जाती है ! आप लोग बाजार में सब्जी लेने जाते हो न ? अच्छी मनपसंद सब्जी नहीं मिलती है, तो जो – जैसी मिलती होगी, वह ले आते हो न ? वैसा ही यहाँ चल रहा है !

मेरे एक परिचित मुनिराज के पास एक युवान दीक्षा लेने आया था । जैन नहीं था, अजैन था । कुछ दिन वह लड़का मुनिराज के पास रहा था । मैंने उस लड़के के विषय में जो कुछ सुना था, उसके कार्यकलाप देखे थे, उससे मुझे उसमें साधु बनने की योग्यता नहीं देखी थी । उस मुनिराज, को भी मैंने कहा : 'इस लड़के को तुम दीक्षा मत दो ।' मैंने कारण भी बताये । सबसे बड़ा कारण था उसकी काषायिक प्रकृति ! वह तीव्र क्रोधी था । मुनिराज ने मुझे कहा :

'दीक्षा लेने के बाद वह सुधर जायेगा ।' मैं मौन रहा । मुनिराज की तीव्र आवश्यकता थी शिष्य बनाने की । उसको दीक्षा दे दी गई । दीक्षा के बाद, उस नये साधु ने उस गुरु को परेशान कर डाला । तीव्र क्रोध से उसने सहवर्ती साधु को भी हेरान कर दिया । प्रायः एक–दो वर्ष के बाद क्रोध में ही साधुवेश उतार कर वह चला गया ।

## शिष्यों की संख्या बढ़ाने का मोह :

**सभा में से :** जिस मुनिराज को शिष्य नहीं है और शिष्य बनाना चाहते हैं, यह बात तो ठीक है, परंतु जिनके पास ५/१० शिष्य होते हैं वे भी गुणवत्ता देखे बिना क्यों दीक्षा देते हैं ?

**महाराजश्री :** इसका कारण आप लोग हो ! शिष्यों की संख्या के आधार पर आप साधु की, आचार्य की महत्ता समझते हो । ज्यादा शिष्यों के गुरु को ज्यादा मान–सम्मान देते हो ! जब तक समाज की यह मनोदशा रहेगी तब तक इस बात में परिवर्तन आना संभव नहीं है ।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि गृहस्थों को श्रावक धर्म के पालन के लिए प्रोत्साहित करने चाहिए । उनको महाव्रत देने से पूर्व अणुव्रत–गुणव्रत और शिक्षाव्रत देने चाहिए और उन व्रतों का अभ्यास कराना चाहिए । जो अणुव्रतों का यथार्थ पालन नहीं कर सकते, वे लोग महाव्रतों का पालन कैसे कर पायेंगे ?

## वैराग्य की परीक्षा करनी चाहिए :

**प्रश्न :** जो मनुष्य वैरागी बन कर, चारित्र लेने आता है, उसको श्रावक धर्म का पालन करने का उपदेश देना, यह उचित है ?

**उत्तर :** उचित–अनुचित की बात बाद में करेंगे, पहले तो यह सोचना आवश्यक है कि उसका वैराग्य, सच्चा वैराग्य है या नहीं – यह निर्णय करना आवश्यक है । वैराग्य तीन प्रकार के बताये हैं –

– दुःखगर्भित वैराग्य ।

– मोहगर्भित वैराग्य ।

– ज्ञानगर्भित वैराग्य ।

दुःखों से परेशान होकर जो संसार त्यागकर, साधु बनना चाहता है, वह चारित्रधर्म के लिए अयोग्य है । उसको साधु धर्म नहीं देना चाहिए । जो दुःखों से परेशान होकर साधु बनते हैं, वे साधु बनकर सुख ही खोजते हैं । वे साधु जीवन के कष्टों से दूर भागते हैं । साधु बनकर सुख ही खोजते हैं । वे साधु–जीवन के कष्टों से दूर भागते हैं । वे रसगारव, ऋद्धिगारव और शानागारव में डूब जाते हैं । साधु गृहस्थ भक्तों के घर से मनपसंद भोजन–आहार ले आते हैं । प्रिय रसास्वाद करते रहते हैं । अपना रहन–सहन बढ़िया बनाते हैं । वैभवी शान से रहते हैं । भक्त गृहस्थ उनको मनपसंद वस्त्रादि देते हैं । और तीसरा है शातागारव ! आराम से जीवन जीते हैं ! शरीर को जरा–सा भी कष्ट न हो–वैसे जीवन जीते हैं । सुखशीलता उनका जीवन होता है । वे सम्यग् दर्शन–ज्ञान–चारित्र की बातें करते हैं, जीते नहीं हैं ।

इसलिए वैरागी बनकर आनेवालों के वैराग्य की जाँच करनी चाहिए । यदि उसका वैराग्य दुःखमूलक मालुम हो जाय तो उसको चारित्रधर्म नहीं देना चाहिए ।

वैसे यदि मोहगर्भित वैराग्य हो, यानी स्वर्गीय सुखों की स्पृहा से, संसार से विरक्त बना हो, तो उसको भी चारित्रधर्म नहीं देना है । 'मैं अच्छी तरह साधु धर्म का पालन करूँगा, तो मुझे देवलोक मिलेगा । देवलोक में असंख्य वर्षों तक मुझे पाँच इन्द्रियों के दिव्य वैषयिक सुख मिलेंगे !'

असंख्य वर्षों का दिव्य वैषयिक सुख पाने की इच्छा से इस मानवीय तुच्छ वैषयिक सुखों का ५–५० वर्ष के लिए त्याग कर देना, गलत नहीं है ! ऐसे विचार होते हैं मोहगर्भित वैराग्यवाले के ! इस वैराग्य से साधु बननेवाले बाह्य दृष्टि

से तो अच्छा साधुजीवन जीते हैं । वे जानते होते हैं कि 'दोषरहित साधुजीवन जीने से उच्च कोटि का देवभव मिलता है !' इस प्रलोभन से वे निर्दोष साधु धर्म का पालन करते हैं । लक्ष्य उनका गलत होने से उनको साधु धर्म के लिए अयोग्य बताया गया है ।

तीसरा वैराग्य है ज्ञानगर्भित वैराग्य ! मनुष्य दुःखी हो या सुखी हो, उसकी ज्ञानदृष्टि खुल जानी चाहिए । ज्ञानदृष्टि से संसार के प्रति वैराग्य होता है, वह सही वैराग्य होता है । कभी मनुष्य को दुःख की ठोकर लगती है और ज्ञानदृष्टि खुल जाती है, ज्ञानदृष्टि से संसार की दुःखमयता का परिज्ञान होता है और वह विरक्त बन जाता है, यह वैराग्य ज्ञानमूलक कहा जाता है ।

– रावण के सामने युद्ध में लंकापति राजा वैश्रमण हार गया था । इस हार ने वैश्रमण की ज्ञानदृष्टि खोल दी थी और युद्धभूमि पर ही वह वैरागी बन गया था । जब उसने साधु धर्म का स्वीकार किया तब रावण ने नतमस्तक होकर कहा था – 'तुम साधु मत बनो, मैं तुम्हें लंका का राज्य वापस देता हूँ । तुम निर्भयता से राज्य करो ।' परंतु वैश्रमण नहीं माना । ज्ञानदृष्टि से उसने राज्य संपत्ति की निःसारता जान ली थी । उसके मन में राज्यसत्ता का कोई आकर्षण नहीं बचा था । वह साधु बन ही गया । हार ने उसकी ज्ञानदृष्टि खोल दी थी । उसका वैराग्य ज्ञानमूलक था ।

इससे विपरीत वानरद्वीप के राजा वाली का उदाहरण है । वाली ने युद्ध के मैदान पर रावण को हरा दिया था । रावण को अपनी काँख में दबोच कर, वाली ने जंबूद्वीप की तीन प्रदशिणा की थी । रावण का चन्द्रहास खड्ग उसके हाथ में लटका हुआ रह गया था । वाली विजेता बने थे । फिर भी वे युद्ध के मैदान पर ही विरक्त बने थे ।

वाली ने रावण को कहा – 'हे रावण, मेरे लिए वीतराग सर्वज्ञ और त्रैलोक्य पूजित अरिहंत परमात्मा ही नमस्करणीय हैं । उनके सिवाय कोई भी नमस्करणीय नहीं है । तू मुझे तेरे चरणों में झुकाने की इच्छा से यहाँ आया, यह तेरा मिथ्या अभिमान था और उसी अभिमान के कारण तेरी यह दयनीय पराजित अवस्था हुई है । परंतु मुझे याद हैं तेरे उपकार । मेरे पूर्वजों के ऊपर तेरे उपकार हैं, मुझे याद है, इसलिए मैंने तुझे छोड़ दिया है । तू निश्चिंत बनकर इस पृथ्वी पर राज्य करना । यदि मैं राज्य की कामना करूँ तो तुझे यह राज्य नहीं मिल सकता । जिस वन में सिंहों का राज्य होता है, वहाँ हाथी नहीं रह सकते । परंतु मैं तो

अब मोक्षसाम्राज्य पाने के लिए साधु धर्म का स्वीकार करूँगा ! मेरा छोटा भाई युवराज सुग्रीव अब यहाँ का राजा बनेगा और तेरी आज्ञा का पालन करेगा।'

वाली ने सुग्रीव का राज्याभिषेक कर दिया और स्वयं गगनचंद्र मुनि के पास जाकर चारित्रधर्म स्वीकार कर लिया। वाली का यह ज्ञानगर्भित वैराग्य था। रावण की पराजय, वाली राजा की ज्ञानदृष्टि खुलने में निमित्त बना था।

वाली ने सोचा होगा : 'रावण जैसा एक हजार विद्याओं को सिद्ध करनेवाला और देवाधिष्ठित चन्द्रहास खड्ग धारण करनेवाला राजा... उसको उसकी विद्याशक्तियों ने.... बाहुबल ने.... शस्त्रबल ने धोखा दिया.... तो फिर मुझे भी मेरा पुण्यकर्म कभी धोखा दे सकता है। इस संसार पर विश्वास नहीं करना चाहिए। यह संसार ही विश्वास करने योग्य नहीं है।'

ज्ञानमूलक चिंतन से जो वैराग्य पैदा होता है, वह वास्तविक होता है। और इस वैराग्य से प्रेरित होकर जो चारित्रधर्म का स्वीकार करते हैं, वे सुंदर पालन करते हैं।

वर्तमानकाल में चारित्रधर्म का स्वीकार करनेवालों को व्रतपालन की और गुणात्मक योग्यता प्राप्त करने की सघन शिक्षा तो देनी ही चाहिए। दीक्षार्थी में कुछ विशिष्ट योग्यता तो होनी ही चाहिए –

* व्रतपालन की दृढ़ता।
* धर्मक्रियाओं में रूचि।
* कषायों की मंदता।
* विनय, नम्रता।
* सरल व्यवहार।
* निर्लोभता।
* निःस्वार्थता।
* परोपकार–वृत्ति।
* सहनशीलता।
* स्वाध्याय–परायणता।

ये १० बातें बड़ीं महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें से एक बात भी कम होगी, तो साधुजीवन में अशांति, क्लेश आदि होना निश्चित है।

राजमार्ग तो भावश्रावक धर्म की आराधना है। वह आराधना करते–करते....

सहज भाव से चारित्रमोहनीय कर्म का क्षयोपशम हो जाय और चारित्रधर्म की प्राप्ति हो जाय – यही ज्यादा उचित है ।

मान लो कि इस वर्तमान जीवन में साधु नहीं बन सकते हो, फिर भी भाव–श्रावक धर्म का सुंदर पालन कर, इस मनुष्य जीवन को सफल कर सकते हो। इस तीसरे अध्याय में भावश्रावक धर्म की सुंदर बातें बतायी हैं ।

## उपसंहार :

'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय पर यह अंतिम प्रवचन है । मेरी कल्पना नहीं थी कि इस अध्याय पर ९५ प्रवचन हो जायेंगे । परंतु हो गये ! श्रावक जीवन की एक–एक बात विस्तार से और कहीं पर संक्षेप से बतायी है, समझायी हैं । आप इन प्रवचनों को पुनः पुनः पढ़ना । आपके जीवन में क्रियात्मक और भावात्मक अच्छा परिवर्तन आयेगा । विचारों में सुंदर परिवर्तन आने से जीवन रसमय बनेगा ।

इन प्रवचनों में प्रमाद से या अज्ञानता से, जिनाज्ञाविरुद्ध कुछ भी बोला गया हो, तो मैं अन्तःकरण से क्षमाप्रार्थी हूँ ।

जय वीतराग !

★ ★ ★

## श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट : मेहसाना के स्थायी सहयोगी

| | | |
|---|---|---|
| १ | श्री संपतराज एस. मेहता | भिवंडी |
| २ | श्री लालचंद, मनोहरमल, हुकमीचंद वैद्य | सोलापुर |
| ३ | श्री लक्ष्मीलाल संपतलाल लुंकड | सोलापुर |
| ४ | श्री मोहनलाल भेरुलाल कोठारी | सोलापुर |
| ५ | श्री समीरमल विजयचन्द निमाणी | सोलापुर |
| ६ | श्री केशवजीभाई (फॅशन कॉर्नर) | सोलापुर |
| ७ | श्री मूलचंद वेलाजी | सोलापुर |
| ८ | श्री चुनीलाल मूलचंद संघवी | सोलापुर |
| ९ | श्री वाडीलाल जीवन देसाई | सोलापुर |
| १० | श्री मोतीलाल गुलाबचन्द शाह | सोलापुर |
| ११ | मे. विजयकुमार हरखचन्द एन्ड कंपनी | सोलापुर |
| १२ | श्री जनता रेडिमेड क्लोथ स्टोर्स | सोलापुर |
| १३ | श्री विजय ऑईल मील | सोलापुर |
| १४ | श्री बेबी डॉल ड्रेस मेन्यु. कंपनी | सोलापुर |
| १५ | सौ. पद्माबेन रमणिकलाल शाह | सोलापुर |
| १६ | मे. एल. शंकलाल एन्ड सन्स | सोलापुर |
| १७ | श्री कोठारी ब्रदर्स | सोलापुर |
| १८ | श्री एस कटारिया | सोलापुर |
| १९ | श्री फूटरमल जेठमल शाह | सोलापुर |
| २० | श्री भीमराज फकीरचन्द वैद्य | सोलापुर |
| २१ | श्री शंकरलालजी शांतिलालजी संघवी | सोलापुर |
| २२ | श्री मीठालालजी चौधरी | सोलापुर |
| २३ | श्री चान्दमलजी लूणिया | सोलापुर |
| २४ | श्री पूसालालजी कोचर | सोलापुर |
| २५ | मे. कैलास होजियरी मार्ट | सोलापुर |
| २६ | श्री पुनमचन्द शिवलाल शाह | सोलापुर |
| २७ | श्री केशवलाल दामोदरदास पटणी | सोलापुर |
| २८ | श्री अशोककुमार कांतिलाल | सोलापुर |
| २९ | श्री चांदमल जवानमल मुनोत | सोलापुर |
| ३० | श्री सिरेमल खेमचन्द | सोलापुर |
| ३१ | मे. महावीर टी. सेन्टर | सोलापुर |
| ३२ | श्री रिखबचंदजी लखमाजी | सोलापुर |
| ३३ | श्री मूलशंकर जयशंकर वोरा | सोलापुर |

| | | |
|---|---|---|
| ३४ | मे. बाफणा ब्रदर्स | सोलापुर |
| ३५ | श्री लालचन्द अम्बालाल | सोलापुर |
| ३६ | डॉ. वासंतीबेन एन. मुनोत | सोलापुर |
| ३७ | श्री जगदीश हीरजी गंभिया | सोलापुर |
| ३८ | मे. बेबी वेअर (छगनलालजी कवाड) | सोलापुर |
| ३९ | श्री भीमराज रतनचंद | सोलापुर |
| ४० | श्री जैन श्राविका संघ | सोलापुर |
| ४१ | श्री गिरिधर गोपाल सोनी | सोलापुर |
| ४२ | श्री आदिनाथ जैन संघ | सोलापुर |
| ४३ | श्री प्रकाशचन्द भंवरलालजी वैद | सोलापुर |
| ४४ | श्री गुमानमलजी दोशी | विलेपार्ले, बम्बई |
| ४५ | श्रीमती विमलादेवी एन. जोटा | बम्बई |
| ४६ | श्री पी. सी. बरडीया | बम्बई |
| ४७ | श्री पुखराजजी बोकरीया | पालीवाले बम्बई |
| ४८ | श्री आसुलालजी रिखवचंदजी बोथरा | बम्बई |
| ४९ | श्री शांतिलालजी अमरचंदजी परमार | अंधेरी (वे) बम्बई |
| ५० | श्री मानमलजी लूणिया | डोड़बालापुर |
| ५१ | श्रीमती कमलाबाई हीराचन्दजी गुलेच्छा | मद्रास |
| ५२ | मे. नागोतरा टेक्सटाईल्स | मद्रास |
| ५३ | मे. नाकोडा टेक्सटाईल्स | मद्रास |
| ५४ | श्री चंपालाल, ताराचंद, भीकमचंद वैद | मद्रास |
| ५५ | श्री जैन श्राविका संघ | मद्रास |
| ५६ | श्रीमती मूलीबाई आर. जैन | मद्रास |
| ५७ | श्रीमती मछीबाई पूनमचन्दजी | मद्रास |
| ५८ | श्रीमती मोहिनीबाई जुगराजजी मुथा | मद्रास |
| ५९ | श्री निहालचन्दजी रुपराजजी भंडारी | मद्रास |
| ६० | मे. रांका मेटल कोर्पोरेसन | मद्रास |
| ६१ | श्रीमती कुसुमबहन माणकचन्दजी बेताला | मद्रास |
| ६२ | श्री एस. देवराजजी जैन | मद्रास |
| ६३ | मे. कोचर टेक्सटाईल्स | मद्रास |
| ६४ | सुश्री जसकवर रमणिकलालजी | मद्रास |
| ६५ | श्री वच्छराजजी कवराडावाले | मद्रास |
| ६६ | श्री सी. विजयराज जैन | मद्रास |
| ६७ | मे. बॉम्बे स्टील हाउस | मद्रास |
| ६८ | श्री मनोहरमल शांतिमलजी नाहर | मद्रास |

| | | |
|---|---|---|
| ६९ | श्री जे. दीपचन्दजी संचेती | मद्रास |
| ७० | श्री रिखबदासजी चिमनाजी (पालडी–सिरोहीवाले) | मद्रास |
| ७१ | श्रीमती शकुन्तलाबाई शेषमलजी पंड्या | मद्रास |
| ७२ | श्री अभयकरणजी तेजराजजी कोठारी | मद्रास |
| ७३ | श्री ताराचंदजी अंबाचंदजी (सांचोरवाले) | मद्रास |
| ७४ | श्री एस. बाबूलालजी मेहता | मद्रास |
| ७५ | मे. लक्ष्मी हॉल | ऊटी |
| ७६ | श्री चंदनमलजी बालचन्दजी बोथरा | ऊटी |
| ७७ | श्री फत्तेहमल मोहनलाल सियाल | ऊटी |
| ७८ | मे. पारस मुथा एन्ड कंपनी | बेंग्लोर |
| ७९ | श्रीमती पवनबेन छगनलालजी (पोमावावाला) | बेंग्लोर |
| ८० | श्री के. एम. गादिया | बेंग्लोर |
| ८१ | मे. एस. कपूरचन्द एन्ड कंपनी | बेंग्लोर |
| ८२ | श्री मिश्रीमलजी प्रतापमलजी श्रीश्रीमाल | बेंग्लोर |
| ८३ | श्री जैन श्राविका संघ | बेंग्लोर |
| ८४ | श्री धनराजजी जुगराजजी मेहता | बेंग्लोर |
| ८५ | श्री आदिनाथ जैन संघ (चिकपेट) | बेंग्लोर |
| ८६ | श्रीमती मेथीबाई प्रतापमलजी जीरावला | बेंग्लोर |
| ८७ | श्री मॉंगीलाल धनराज बिदामिया | गदग |
| ८८ | श्री धेवचन्दजी बंट | व्याबर |
| ८९ | श्रीमती लुणीबाई शंकरलालजी बैद | फलोदी |
| ९० | मे. स्वदेशी ग्लास हाऊस | कोयम्बतूर |
| ९१ | श्री रानमलजी बाफना | कोयम्बतूर |
| ९२ | श्री सुखराज चंपालाल | कोयम्बतूर |
| ९३ | श्री पन्नालालजी करबावाले | कोयम्बतूर |
| ९४ | श्रीमती सुन्दरीबाई विजयचन्दजी वैद | कोयम्बतूर |
| ९५ | मे. पेक्वेल प्लायवुड्स | कोयम्बतूर |
| ९६ | कु. वंदना–आरती–पूजा C/o प्रकाश फाईनान्स | कोयम्बतूर |
| ९७ | श्री लक्ष्मी हॉल | कोयम्बतूर |
| ९८ | श्री जैन श्वे. मूर्तिपूजक संघ | बेल्लूर |
| ९९ | श्री संभवनाथ जैन टेम्पल ट्रस्ट | विजयवाडा |
| १०० | श्री हीराचन्दजी बैद | जयपुर |
| १०१ | श्री तरसेमकुमार जैन | जयपुर |
| १०२ | श्री बी. भीमराजजी बरलोटा | तिरुवन्नामलाई |
| १०३ | श्री शिवराजजी जोधपुरवाला | मल्लेबेन्नुर |

| | | |
|---|---|---|
| १०४ | सौ. मंजूबहन इश्वरभाई परमार | पूना |
| १०५ | श्री गणेशमलजी वदराजजी सोलंकी | पूना |
| १०६ | श्री दीपचन्दजी राठोड | पूना |
| १०७ | श्री माणिकभाई ताराचंदजी संघवी | पूना |
| १०८ | श्री फुटरमलजी शेषमलजी बोराना | पूना |
| १०९ | श्री शांतिलाल एम. मेहता | पाली |
| ११० | श्री कांतिलाल मूलचंद | आदोनी |
| १११ | श्री अंजनाबेन ताराचन्दजी सिरोहिया | दौंड (महाराष्ट्र) |
| ११२ | श्री सुभाष नारायण गोलांडे | दौंड (महाराष्ट्र) |
| ११३ | श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ | दौंड (महाराष्ट्र) |
| ११४ | श्री झवेरचन्दजी भीमाजी ओसवाल | दौंड (महाराष्ट्र) |
| ११५ | श्रीमती पुष्पाबाई धनराजजी परमार | दौंड (महाराष्ट्र) |
| ११६ | सौ. स्वरूपरानी मोतीलाल देवडा चेरिटेबल ट्रस्ट | औरंगाबाद |
| ११७ | श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ | कोरेगाँव |

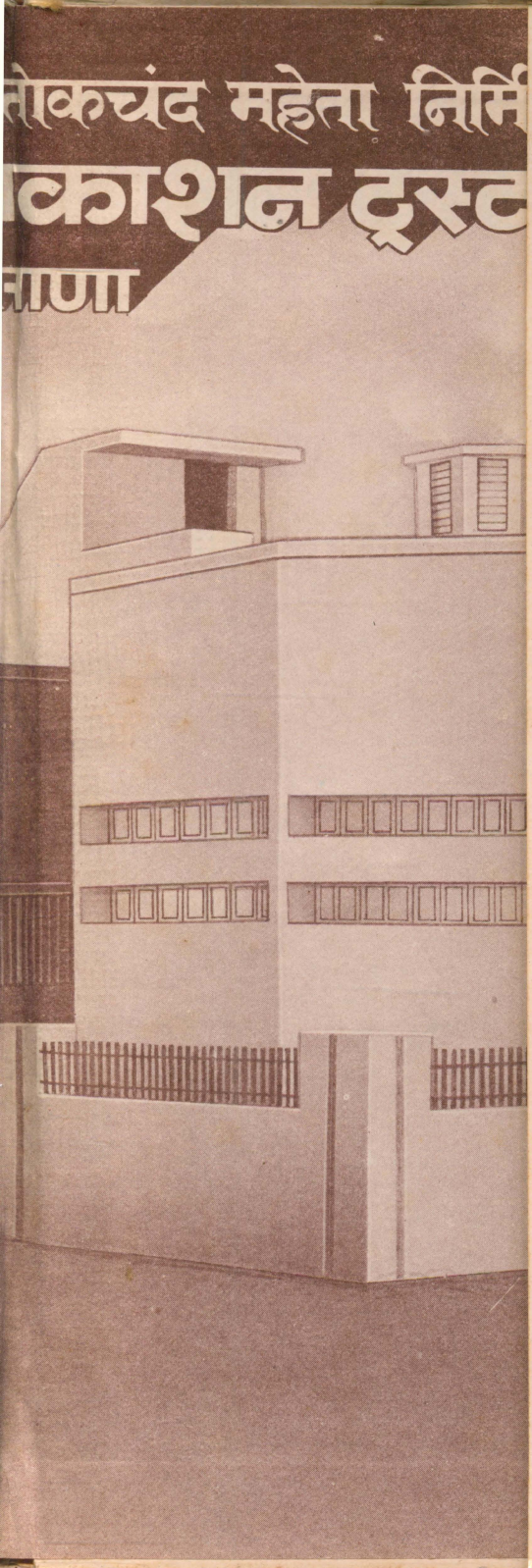
| क्रम | हिन्दी प्रकाशन | कींमत |
|---|---|---|
| १. | जैन रामायण १–२–३ | २००–०० |
| २. | प्रशमरति भाग १–२ | ५०–०० |
| ३. | प्रीत किये दुःख होय | ५०–०० |
| ४. | ज्ञानसार (संपूर्ण) | ३०–०० |
| ५. | मारग साचा कौन बतावे | ३०–०० |
| ६. | श्रावक जीवन भाग १ | ३०–०० |
| ७. | संसार सागर है | ३०–०० |
| ८. | पर्व–प्रवचनमाला | २५–०० |
| ९. | यही है जिन्दगी | २०–०० |
| १०. | जिन्दगी इम्तिहान लेती है | २०–०० |
| ११. | मायावी रानी | २०–०० |
| १२. | विज्ञान सेट (३ पुस्तकें) | २०–०० |
| १३. | राजकुमार श्रेणिक | १५–०० |
| १४. | सबसे ऊंची प्रेम सगाई | १०–०० |
| १५. | कथादीप | १०–०० |
| १६. | न म्रियते | १०–०० |
| १७. | जिनदर्शन | १०–०० |
| १८. | फूलपत्ती | ८–०० |
| १९. | छोटी सी बात | ८–०० |
| २०. | मांगलिक | ८–०० |
| २१. | राग–विराग | ६–०० |
| २२. | सुवास सेट (३ पुस्तकें) | ६–०० |
| २३. | मोती की खेती | ६–०० |
| २४. | चैत्यवंदन सूत्र | ६–०० |
| २५. | प्रार्थना | २–०० |
| २६. | शोध प्रतिशोध(समरादित्य महाकाथा–१) | ३०–०० |
| २७. | द्वेष अद्वेष (समरादित्य महाकाथा–२) | ३०–०० |
| २८. | श्रावक जीवन भाग–२ | ५०–०० |
| २९. | व्रतकथा | १५–०० |
| ३०. | शांत–सुधारस | १२–०० |
| ३१. | धम्मं सरणं पवज्जामि (भाग–१–२–३–४) | २००–०० |

**निकट भविष्य में :**

श्रावक जीवन भा. ३–४

**: सूचना :**

* पुस्तकें वी.पी.पी. द्वारा नहीं भेजते हैं । * कृपया राशि M.O.या ड्राफ्ट से अग्रिम भेंजे ।




श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट
कंबोईनगर के पास,
मेहसाना - 384002 (Gujarat)
*द्वारा प्रकाशित हिन्दी साहित्य*

- धम्मं सरणं पवज्जामि
  भा. १-२-३-४
- प्रशमरति भा. १-२
- न म्रियते
- सबसे ऊँची प्रेम सगाई
- नैन बहे दिन रैन
- राग विराग
- ज्ञानसार
- संसार सागर है
- मांगलिक
- मोती की खेती
- मायावी रानी
- प्रार्थना
- बच्चों का सुवास सेट (३ पुस्तकें)
- जिनदर्शन
- कथादीप
- छोटी सी बात
- फूलपत्ती
- पर्व प्रवचनमाला
- जिन्दगी इम्तिहान लेती है
- प्रीत किये दुःख होय
- जैन रामायण भा. १-२-३
- यही है जिन्दगी
- मारग साचा कौन बतावे
- श्रावकजीवन भा. १-२-३-४
- शोध प्रतिशोध
- द्वेष अद्वेष
- राजकुमार श्रेणिक
- व्रतकथा
- बच्चों का विज्ञान सेट (३ पुस्तकें)
- चैत्यवंदन सूत्र
- नवपद भावना
- शुभरात्रि
- शांतसुधारस (सानुवाद)

निकट भविष्य में (नवीन प्रकाशन)

- कलिकाल सर्वज्ञ
- The Way of Life 1-2-3-4
- Jain Ramayana 1-2-3
- Bury Your Worry
- Guidelines of Jainism
- A Code of Conduct
- Treasure of Mind
- Rising Sun
- Story Story
- Jindarshan
- 13 Mini Booklets
- Science of Children 1-2-3
  (Atma-Karma-Dharma)
- प्रतिमाह 'अरिहंत' के द्वारा
  ताजा चिंतन, प्रवचन,
  एवं साहित्य सर्जन


श्री विश्व कल्याण प्रकाशन ट्रस्ट मेरठ (यू.पी.)